सत्साहित्य प्रकाशन

Gandhi Smarak Nidhi
Karnatak Shakha
188, NEHRU CIRCLE
BANGALORE-3

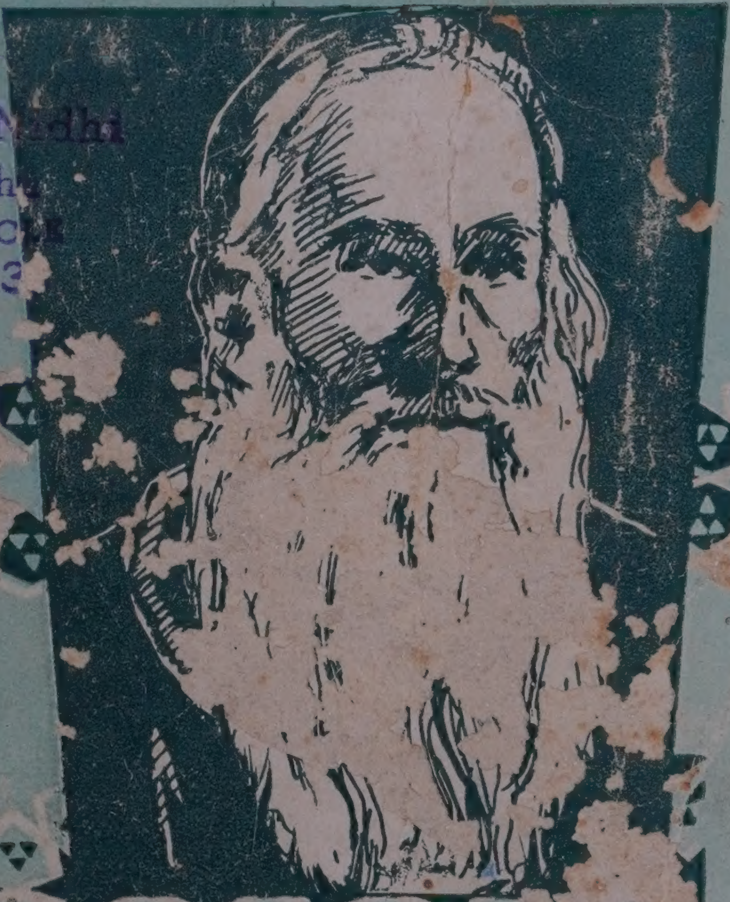

तब करें क्या?

142.3 TOL
52N56
1-000130

TATTVA PRACHAR CENTRE
BANGALORE

D0 119

Gandhi Smarak Nidhi
Karnatak Shakha
138, NEHRU CIRCLE
BANGALORE-3.

119

000130

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
DATE....................
ACC No..........................
CALL No....................
BANGALORE-1.

M 119

हम करें क्या ?

—टॉल्स्टाय के 'ह्वाट शैल वी डू देन' नामक ग्रंथ का अनुवाद—

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
DATE........
ACC No. 9807
CALL No........
BANGALORE-1.

प्रस्तावना

काकासाहेब कालेलकर

अनुवादक

बांकेबिहारी भटनागर

१९५९

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
DATE........................
ACC. NO........................
CALL NO........................
BANGALORE-1.
H.000130
O142 3TOL
152N56

पांचवीं बार : १९५६
मूल्य
साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

SMARAKA GRANTHALAYA
DATE..........
ACC NO..........
CALL NO..........
BANGALORE-1.
Gandhi Smarak Nidhi
Karnatak Shakha
138, NEHRU CIRCLE
BANGALORE-3.

प्रकाशकीय

टॉल्स्टाय के नाम से हिन्दी के पाठक भलीभांति परिचित हैं। उनकी कहानियों, नाटकों, संस्मरणों आदि के अनुवाद हिन्दी में हुए हैं और हमें यह कहते हुए बड़ा हर्ष होता है कि उनकी लगभग सभी रचनाएँ पाठकों को पसन्द आई हैं। उनमें सजीवता और रोचकता तो है ही, साथ ही ऐसे विचार भी हैं, जो प्रत्येक पाठक को सोचने के लिए बाध्य करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक पांचवीं बार निकल रही है। इसीसे अन्दाज लगाया जा सकता है कि टॉल्स्टाय की रचनाएँ कितनी लोकप्रिय हैं। इस पुस्तक में उन्होंने बड़े प्रभावशाली ढंग से इन बुराइयों पर चोट की है जो हमारे निजी और सामाजिक जीवन को खोखला कर रही हैं। अंत में उन्होंने यह भी बताया है कि इन बुराइयों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं।

पुस्तक बहुत ही उपयोगी एवं शिक्षा-प्रद है। जो भी इसे पढ़ेगा उसे लाभ ही होगा। पुस्तक की शैली इतनी आकर्षक और प्रवाहपूर्ण है कि कोई भी पाठक बिना पूरी पुस्तक पढ़े छोड़ नहीं सकता।

हमें आशा है कि लोकमानस को नैतिक भूमिका पर ऊंचा उठाने वाला इस प्रकार का साहित्य उत्तरोत्तर प्रोत्साहित होता रहेगा।

—मंत्री

GANDHI SM... ...HALAYA
DATE...................
ACC. NO...................
CALL NO...................
BANGALORE-1.
000130

मनोव्यथा

प्रस्तावना का सामान्य उद्देश्य तो पुस्तक और उससे वर्णित विषय का परिचय कराना ही होता है; परन्तु 'हम करें क्या ?' यह पुस्तक नहीं, बल्कि एक अत्यन्त समभावी हृदय का मंथन है, जीवन-शुद्धि की रहस्य-भेदी शोध है, और महावीर को भी शोभा दे, ऐसा एक आर्य संकल्प है। थोड़े में कहिये तो यह कारुण्य, औदार्य, गाम्भीर्य और माधुर्य की एक ओजस्वी रसायन है। इसका परिचय नहीं दिया जा सकता। इसकी उपासना होती है, इसका सेवन होता है।

टॉल्स्टाय शक्तिशाली कला-विज्ञ थे। उनकी प्रत्येक कृति में औचित्य और प्रसाद-गुण तो होता ही है; पर हृदय को अस्वस्थ बना देनेवाली समवेदना ही उनकी कला की विशेषता है। 'हम करें क्या ?'—यह टाल्स्टाय की सर्वोच्च कोटि की कृति समझी जाती है। जैसा शब्द-चित्रण, भाव-प्रदर्शन और लोक-जीवन का अवगाहन उपन्यासों में होता है, वह सब इसमें है। फिर भी कला की दृष्टि से देखने पर इसमें औचित्य-भंग है, इसमें हीनता है, इसमें धर्म-जीवन का अपमान है। सीता का विलाप, द्रौपदी की भीर, सती का चितारोहण—ये प्रसंग काव्य-कला के लिए नहीं होते। ये तो जीवन को दीक्षा देने के लिए होते हैं। धर्म-पूर्ण हृदय से ही हमें इनका दर्शन करना चाहिए। केवल कला की ही आँखें हों तो ऐसे प्रसंग पर उन्हें मीच लेना चाहिए।

टॉल्स्टाय के वर्णित प्रसंग काल्पनिक नहीं हैं, उनके द्वारा की हुई मीमांसा केवल 'तात्त्विक' नहीं है और उन्होंने जो जीवन में परिवर्तन किया था वह भी क्षणिक न था। पुस्तक का प्रारम्भ तो मार्ग में भटकते हुए भिखारियों के सुख-दुःख से होता है; पर इसका मुख्य विषय समस्त मानव-समाज का कल्याण है।

पुराणों में हम लोग पृथ्वी का भार बढ़ने की बातें सुनते हैं। क्या लोक-संख्या बढ़ने से पृथ्वी का भार बढ़ता होगा? या जंगलों की वृद्धि से अथवा हिमालय-जैसा पहाड़ पानी में से उभड़ आने से? ऐसी बातों से तो पृथ्वी का भार बढ़ने का कोई कारण नहीं है। पृथ्वी पर भार होता है आलस्य का, काहिली का, पाप का, अनाचार का, द्रोह का। टॉल्स्टाय ने देखा कि आजकल पृथ्वी पर बहुत भार बढ़ रहा है और वह असह्य हो रहा है, अब कोई-न-कोई उत्पात होगा। ज्वालामुखी फूट पड़ेगा अथवा दावानल प्रज्वलित होगा। यह दुःख किस प्रकार टले, इस महान् विनाश से समाज कैसे बचे—इसीकी विवेचना इसमें है।

उन्होंने देखा कि रूस में, यूरोप में, सारे संसार में प्रतिष्ठित अकर्मण्य लोगों की संख्या बेहद बढ़ गई है—बढ़ती जाती है और किसी तरह भी रोके नहीं रुकती। इनका आमोद-प्रमोद, इनकी वासनाएं, इनके भोग भोगने के साधन बढ़ते ही जाते हैं। ये मस्तराम प्रजा का खून चूसे जा रहे हैं और बदले में समाज को कुछ देते नहीं। इतना ही नहीं, सरकारी जबरदस्ती और पैसे के जाल से ग्रसित लोगों को सिर उठाने में भी असमर्थ बनाये दे रहे हैं; अपने मन को फुसलाने के लिए और दुनिया को बहलाने के लिए तरह-तरह की 'फिलासफियों' की रचना करते हैं; हमारी स्थिति जैसी होनी चाहिए वैसी ही है, इसीमें सबका कल्याण है, ऐसा सिद्ध करने के लिए कृत्रिम धार्मिक सिद्धान्तों का आविष्कार करते हैं; समाज-शास्त्र गढ़ते हैं और विज्ञान तथा कला को भ्रष्ट करते हैं। इन बातों को उखाड़कर फेंक देना कुछ सहल बात नहीं है। विचारों को जन्म देने तथा उनका प्रचार करने का जिनका इजारा है, ऐसे समस्त मनुष्य-समूह से—जिसमें हम लोग भी सम्मिलित हैं—यह अभिमन्यु-जैसा असमान युद्ध—एकाकी युद्ध है। परन्तु टॉल्स्टाय की लेखन-शक्ति और हरिश्चन्द्र के समान अटल श्रद्धा इस काम को लक्ष्य तक पहुँचाने के योग्य ही निकली। वह जानते थे कि दुनियादार अक्लमन्द लोग चाहे कितने ही क्यों न हों फिर भी उनका बल अपर्याप्त है और हम खुद अकेले ही

हों तब भी सत्य-स्वरूप जगदीश के साथ होने से हमारा बल पर्याप्त है।

और टॉल्स्टाय ने पृथ्वी का भार हलका करने का उपाय भी कैसा बताया ? सनातन काल से जो उपाय बताया गया है, वही—'त्यक्तेन भुंजीथाः। मागृधः कस्यस्विद्धनम्।' टॉल्स्टाय ने यह उपाय केवल किताब लिखकर ही बताया हो सो बात नहीं, बल्कि स्वयं सब-कुछ त्यागकर, अकिंचन बनकर, यथाशक्ति अपरिग्रह-व्रत का पालन करके और अन्त में महाभिनिष्क्रमण करके उन्होंने लोगों को रास्ता दिखाया।

टॉल्स्टाय की कीर्ति यूरोप में खूब बढ़ी-चढ़ी थी। उनकी साहित्य-कला के ऊपर यूरोप न्योछावर हो रहा था; पर जब टॉल्स्टाय ने निष्पाप जीवन व्यतीत करने के लिए सर्वस्व छोड़ा, तब यूरोप में हाहाकार मच गया। नट, विदूषक और गणिका के रूप में प्रसिद्ध बने बैठे लोगों को तो ऐसा लगा कि कला की हत्या हो गई ! टॉल्स्टाय ने कला की मर्यादा छोड़ दी। सत्य में प्रवेश किया। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—कला का यह सर्वोच्च नियम भंग किया। कला ही जीवन-सर्वस्व है, ऐसा माननेवाले लोगों को भास हुआ कि टॉल्स्टाय जीवन के प्रति बेवफ़ा निकला। पशु के साथ जो अपनी समानता है उसे छोड़ने से हम संकुचित ही तो हो जायंगे ? पर सच्चे जीवन-कलाविदों ने देखा कि टॉल्स्टाय के हाथ से कला कृतार्थ ही हुई है।

कितनों ही ने तो यह निदान निकाला कि टॉल्स्टाय ने जबसे मांसाहार छोड़ा, तभी से उनकी कला का आवेश धीमा पड़ गया और प्रतिभा क्षीण हो गई। संसार-सुधार का मार्ग छोड़कर उसने जंगलीपन को ही आदर्श मान लिया। इस प्रकार के अनेक आक्षेपों का टॉल्स्टाय ने इस पुस्तक में जबरदस्त निराकरण किया है, किंतु—'लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति ?' तटस्थ रहकर विचार करनेवाला टॉल्स्टाय का चरित्र-लेखक मॉड ठीक ही कहता है कि टॉल्स्टाय के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखना और कहना तो अभीतक किसीको सूझा ही नहीं। जो निकलता है सो यही कहता है कि 'टॉल्स्टाय का कथन लोक-विचक्षण है—

उनका उपदेश आचरण में डालने योग्य नहीं है। टॉल्स्टाय जो चाहते हैं वैसा करने से तो बड़ी अव्यवस्था मच जायगी!' पर इसका प्रतिवाद करनेवाले जो असंख्य पवित्र जीवनप्रद लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उनका विचार ही नहीं करते। मनुष्य ऐसा समझ बैठता है कि जो सुधार हमसे नहीं हो सकता वह सभी मनुष्यों के लिए अशक्य होगा। टॉल्स्टाय का दृढ़ विश्वास है कि जिस प्रकार लोगों ने गुलामी की प्रथा को उड़ा दिया है उसी प्रकार धन और सत्ता की यह प्रथा भी अवश्य उड़ ही जायगी। सरकार, जायदाद, पैसा, आलसी लोग, इनका दौरदौरा कायम रखने तथा गरीबों को कुचल डालने के लिए खड़ी की हुई सेनाएं—ये सब मनुष्य की ही निर्माण की हुई आपत्तियां हैं। निष्पाप तथा समृद्ध जीवन व्यतीत करने के लिए इनमें से एक संस्था की भी जरूरत नहीं। बुद्धिमान मनुष्य को सादगी से रहते हुए समाज की अधिक सेवा करनी चाहिए। अधिक ऐशो-आराम में रहना और जोंक की तरह समाज का लोहू पीना बुद्धिमान के लिए उचित नहीं है—इसी एक मुख्य तत्त्व को टॉल्स्टाय ने इस पुस्तक में समझाने का उद्योग किया है। विज्ञान और कला से उनका कहना है कि जिनका नमक खाकर तुम जीते हो उनका ही तिरस्कार करके तुम जीवित नहीं रह सकते। प्रजा की कुछ तो सेवा करो। अरे, कुछ नहीं तो असेवा करते तो लजाओ!

टॉल्स्टाय का यह धर्म-प्रबोध लोगों को पसन्द न आया और परिणाम यह हुआ कि इसी पुस्तक में टॉल्स्टाय ने स्पष्ट शब्दों में जो चेतावनी दी थी, वह आज तीस वर्ष के अन्दर बिल्कुल सत्य निकली। मजदूर-दल का धैर्य छूटा, प्रजा-क्षोभ छूटा और प्रजा के ही कंधे पर बैठकर प्रजा को लात मारनेवाला वर्ग भस्मसात हो गया।

फिर भी गरीबों का दुःख दूर नहीं हुआ। हिंसा का दुःख क्या हिंसा से मिटेगा? लोहू से सना हुआ हाथ क्या लोहू से धोने से साफ हो सकेगा?

टॉल्स्टाय का उपदेश रूस की बनिस्बत हिन्दुस्तान को अधिक लाग

होता है। जबतक प्रजा का बोझ हलका नहीं होता और जबरदस्ती का दौरदौरा नहीं मिटता, तबतक देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो ही नहीं सकती। यह बात, देश का खयाल रखनेवाले मनुष्यों के हृदय में, यह पुस्तक पढ़ते समय, आये बिना रहती नहीं। पैसा इस अज्ञात जबरदस्ती का बड़े-से-बड़ा वाहन है, यह मान लेने के पश्चात् हिन्दुस्तान का प्रश्न अधिक स्पष्ट हो जायगा।

यदि कोई ऐसा समझता हो कि हिन्दुस्तान में रूस की तरह उत्पात हो ही नहीं सकता तो वह उसकी भूल है। साथ ही यह भी ठीक है कि रूस-जैसा विस्फोट हिन्दुस्तान में भी होगा ही, ऐसी बात भी नहीं है। हिन्दुस्तान में सन्त-फकीरों का राज्य अन्य देशों की अपेक्षा अधिक फैला हुआ है। हमारी बुद्धि कितनी ही भ्रष्ट क्यों न हो गई हो; पर आज भी हमारे हाड़ में द्रोह नहीं है, हिंसा नहीं है। हमारे आद्य-आचार्यों ने शारीरिक श्रम का महत्त्व समझाया है। परिश्रम छोड़ने से सत्य की हानि होती है। मनुष्य अथवा पशु के कन्धे पर बैठकर की हुई जीवन-यात्रा निष्फल है, यह हम जानते हैं।

यल्लभसे निज कर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तं।
अर्थमनर्थं भावय नित्यं, मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णां॥

यह उपदेश अभी केवल पोथी का बंद कीड़ा ही नहीं है। रुपया-पैसा खराब मैली चीज है, यह बात भी टॉल्सटाय ने नई नहीं कही है।

द्रव्यं तु मुद्रितं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रेण शुचिर्भवेत्।

ऐसे-ऐसे वचन हमारे यहां पड़े हुए हैं। पर हम लोगों ने ये सब धर्म-तत्त्व साधु-संन्यासियों के सुपुर्द कर दिये और धर्म को अपने से दूर रखा। पर धर्म टालने से क्या टलनेवाला था? मछली के लिए जैसा जल है वैसा ही मनुष्य के लिए धर्म है। राजी-खुशी न समझेंगे तो मजबूर होकर तो समझना ही पड़ेगा। पाप कुछ सिक्कों में, सफेद या पीली चमकती हुई मिट्टी के गोल टुकड़ों में, नहीं, बल्कि समाज के हृदय में होता है, यह ठीक है। फिर भी आज ये सिक्के लोभी, निर्दय और

जबरदस्त लोगों के हाथ के अस्त्र-दास्यास्त्र बन गए हैं, यह बात कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। टॉल्स्टाय का कहना है कि नीरोग मनुष्य को दवा की जितनी आवश्यकता होती है, बस उतनी ही निष्पाप जीवन व्यतीत करनेवाले समाज को रुपये की जरूरत हो सकती है।

पर टॉल्स्टाय की यह पुस्तक ? यह बहुत ही खराब किताब है। यह हमें जागृत करती है, अस्वस्थ करती है, धर्म-भीरु बनाती है। यह पुस्तक पढ़ने के बाद भोग-विलास तथा आनन्दोल्लास में पश्चात्ताप का कड़वा कंकड़ पड़ जाता है। अपना जीवन सुधारने पर ही यह मनोव्यथा कुछ कम होती है। और जो इन्सानियत का ही गला घोंट दिया जाय तब तो कोई बात ही नहीं।

—काका कालेलकर

600130

विषय-सूची

१.	मास्को के भिखमंगे	१५
२.	अनाथालय में	२१
३.	उन्हें उबारना चाहा	२६
४.	प्रारम्भिक जांच-पड़ताल	३७
५.	दरिद्रों के दुर्ग में	४१
६.	तो यह सब भ्रम था !	४७
७.	कुलीन कंगाल	५२
८.	बेचारी वेश्याएं	५६
९.	निराश्रित बालक	६४
१०.	घोर निराशा	६८
११.	मेरी परोपकारिता का अंत	७६
१२.	असफलता क्यों ?	८०
१३.	गांवों पर शहर की विलासिता का प्रभाव	८६
१४.	बीच की दीवार	९६
१५.	तो दोषी हम ही हैं	१०५
१६.	हमारे शोषण का जाल	११४
१७.	दासत्व का मूल कारण—रुपया	११९
१८.	फ़ीजी द्वीप की करुण कहानी	१३०
१९.	रुपया मूल्य का मापदण्ड नहीं	१४७
२०.	दासता के तीन रूप	१५४
२१.	अव्यवहारिक अर्थशास्त्र	१६९
२२.	अब मैं समझा	१८२
२३.	दूसरों के श्रम का शोषण क्यों ?	१९०
२४.	दूसरों के रक्त से सनी हमारी रंगरलियां	१९५

२५. हम देखते और देखकर समझते क्यों नहीं ? २११
२६. श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार २२२
२७. भयंकर-भ्रम २३३
२८. श्रम से बचने के बहाने २४२
२९. मानव-समाज की वैज्ञानिक व्याख्या २४८
३०. कॉम्टे की साकारवादी विचारधारा २५५
३१. श्रम-विभाजन की भ्रामक धारणा २६६
३२. बुद्धिजीवियों के थोथे वचन २७४
३३. पथभ्रष्ट वैज्ञानिक और कलाकार २८०
३४. क्या विज्ञान और कला जनता के लिए नहीं हैं ? २८४
३५. झूठा दावा २९७
३६. विज्ञान और कला की प्राचीनता २९८
३७. कष्ट-सहन बिना सच्ची सेवा असम्भव ३०९
३८. तब फिर हम क्या करें ? ३१७
३९. सारी मुसीबतों की जड़ सम्पत्ति ३४१
४०. स्त्रियों का कार्यक्षेत्र ३६१

?

और लोग उनसे पूछने लगे—फिर हम करें क्या ?

उन्होंने उत्तर दिया—जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उसे दे दे कि जिसके पास एक भी नहीं है; और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।

× × ×

इस पृथ्वी पर अपने लिए धन जमा मत करो, क्योंकि काई और कीड़े उसे नष्ट कर देते हैं अथवा चोर उसे चुरा ले जाते हैं।

किन्तु तुम अपने लिए स्वर्ग में धन जमा करो कि जहां न काई लगती है और न कीड़े खाते हैं और न चोर ही दरवाजा तोड़कर उसे चुरा ले जा सकते हैं।

फिर, जहां तुम्हारा धन होगा, वहीं तुम्हारा दिल भी रहेगा।

× × ×

आँख शरीर का दीपक है; इसलिए यदि तुम्हारी आँख स्थिर है, तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से पूर्ण होगा।

किन्तु यदि तुम्हारी आँख में बुराई है तो तुम्हारे शरीर-भर में अन्धकार का साम्राज्य होगा; और यदि तुम्हारी अन्तर्ज्योति ही तिमिरावृत्त है, तब तो फिर तुम्हारे अन्दर कितना गहरा अन्धकार होगा ?

× × ×

कोई भी दो मालिकों की नौकरी कर नहीं सकता; क्योंकि या तो वह एक से घृणा करेगा और दूसरे से प्रेम, या वह एक

की सेवा करेगा और दूसरे की उपेक्षा। तुम ईश्वर और माया दोनों के होकर नहीं रह सकते !

× × ×

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं कि अपने जीवन में यह चिन्ता मत करो कि मैं क्या खाऊंगा और क्या पिऊंगा, और न शरीर के लिए यह सोचो कि इसे क्या पहनाऊंगा। क्या जीवन स्वयं ही भोजन से बढ़कर और काया कपड़ों से अधिक मूल्यवान नहीं है ?

× × ×

बस, तुम ईश्वर के राज्य और उसके धर्म-मार्ग की ही खोज करो और बाकी ये सब चीजें तुम्हें स्वयं ही मिल जायंगी।

× × ×

सुई के नकुए से ऊंट का निकल जाना तो सम्भव है, किंतु अमीर आदमी के लिए स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।

हम करें क्या ?

: १ :

मास्को के भिखमंगे

मेरा जीवन देहात में बीता था, इसलिए सन् १८८१ में जब मैं मास्को रहने आया तो वहां की गरीबी देखकर अचम्भे में रह गया। देहात की दरिद्रता से तो मैं परिचित था; किंतु शहर की गरीबी मेरे लिए एक बिल्कुल नई अनुभूति थी, जिसकी मैंने पहले कभी कल्पना तक नहीं की थी।

मास्को में आप चाहे किसी भी सड़क से होकर निकलिये, आपको भिखारी अवश्य मिलेंगे। ये भिखारी देहात के भिखारियों-जैसे नहीं होते। उनकी तरह ये झोली लिये, ईसा के नाम पर भीख नहीं मांगते। इनके पास न झोली होती है और न ये हाथ ही पसारते हैं। जब आप इनके सामने या पास से होकर निकलते हैं तो साधारणतः ये आपकी आंख-से-आँख मिलाने की चेष्टा करते हैं और फिर आपके मुख पर अंकित भाव को ताड़कर यदि उचित समझते हैं तो भिक्षा मांगते हैं, नहीं तो नहीं मांगते।

इस प्रकार के भद्र वर्ग के एक बूढ़े भिखारी को मैं जानता हूं। वह धीरे-धीरे, हर कदम पर झुकता हुआ चलता है। आपके सामने पड़ने पर वह एक टांग पर झुक जाता है और ऐसा मालूम होता है जैसे वह आपको सलाम कर रहा हो। इस भावभंगी को देखकर यदि आप ठिठक जाते हैं तब तो वह अपनी फुंदनीदार टोपी उतारकर आपको दुबारा सलाम करता

है और पैसे मांगता है ; किंतु यदि आप नहीं ठिठकते तो वह उसी तरह झुकता हुआ चलता रहता है और यह दिखाने का उपक्रम करता है कि वह चलता ही इस ढंग से है। वह मास्को के शिक्षित भिखारी-वर्ग का एक सच्चा नमूना है।

पहले मैं समझ नहीं सका कि ये भिखमंगे सीधे-सादे ढंग से खुलकर भीख क्यों नहीं मांगते। बाद में कारण तो मालूम हो गया; किंतु उनकी स्थिति फिर भी ठीक से समझ में नहीं आई।

एक दिन जब मैं एक गली से होकर जा रहा था, मैंने देखा कि पुलिस का एक सिपाही जलोदर रोग से पीड़ित एक फटे-हाल किसान को एक खुली गाड़ी में बैठा रहा है। मैंने पूछा—

"इसे क्यों पकड़े लिये जा रहे हो ?"

"भीख मांगता था।"

"क्या भीख मांगना मना है ?"

"ख़याल तो ऐसा ही है।"

और यह कहकर पुलिसवाला जलोदर के उस रोगी को गाड़ी में बैठाकर चलता बना एक दूसरी गाड़ी में बैठकर मैं भी उनके पीछे हो लिया। मैं यह जानना चाहता था कि क्या भीख मांगना सचमुच वर्जित है और अगर है तो उसे रोकने के लिए क्या युक्ति काम में लाई जाती है। यह बात मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आती थी कि एक आदमी को किसी दूसरे आदमी से कुछ मांगने से कैसे रोका जा सकता है। मुझे यह भी विश्वास नहीं होता था कि भीख मांगना सचमुच मना है, क्योंकि मास्को में भिखमंगे-ही-भिखमंगे दिखलाई पड़ते थे।

मैं थाने पहुंचा, जहां पुलिसवाला उस भिखारी को ले गया था। वहां एक आदमी पिस्तौल और तलवार लिये मेज के पास बैठा था। मैंने उससे पूछा—

"यह किसान क्यों गिरफ्तार किया गया है ?"

उस आदमी ने मेरी ओर कठोरता के साथ देखते हुए पहले तो कहा—"आपको इससे क्या मतलब ?" किंतु बाद में यह सोचकर कि मुझे कुछ समझाना चाहिए, वह बोला—

"अफसरों का हुक्म है कि इस तरह के लोग पकड़ लिये जायं, इसीलिए हमें इन्हें पकड़ना पड़ता है।"

मैं बाहर चला आया। पुलिसवाला, जो भिखारी को पकड़कर लाया था, दहलीज में खिड़की की चौखट पर बैठा उदास भाव से अपनी नोट-बुक देख रहा था। मैंने पूछा—

"क्या यह सच है कि भिखारियों को ईसा के नाम पर भीख मांगने की मनाई है ?"

पुलिसवाला चौंका। उसने मेरी ओर आंख उठाकर घूरकर देखा और त्यौरी चढ़ाने के बजाय खिड़की की चौखट पर जमकर बैठते हुए लापरवाही के साथ उत्तर दिया—

"हाकिमों का क्म है, इसलिए ऐसा करना जरूरी है।"

यह कहकर वह फिर अपनी नोट-बुक पढ़ने में लग गया। मैं बाहर बरसाती में गाड़ीवान के पास चला गया।

मेरे पहुँचने पर गाड़ीवान ने मुझसे पूछा—"क्या हुआ ? क्या उन्होंने उसे बन्द कर दिया ?"

स्पष्टतः उसे भी इस मामले में दिलचस्पी थी।

"हां, बन्द कर दिया"—मैंने उत्तर दिया। इसपर गाड़ीवान ने सिर हिलाया, मानो उसे यह बात अच्छी नहीं लगी।

मैं बोला—"क्यों भाई, तुम्हारे इस मास्को में ईसा के नाम पर भीख मांगना मना क्यों है ?"

"भगवान जाने !"

"ऐसा क्यों होता है ? कंगले तो ईश्वर को प्यारे होते हैं। फिर क्यों यह आदमी पकड़कर कोतवाली भेज दिया गया ?"

"आजकल यही कानून है। भीख मांगना मना है।"

इसके बाद मैंने कई बार पुलिसवालों को भिखारियों को पकड़कर पहले किसी थाने में और फिर वहां से कामघर ले जाते हुए देखा। एक बार मैंने एक सड़क पर इस तरह के भिखमंगों की एक पूरी टोली-की-टोली देखी, जिसमें लगभग तीस भिखमंगे रहे होंगे। उनके आगे-पीछे पुलिसवाले चल रहे थे। मैंने उनसे पूछा—

"इन्हें क्यों पकड़ा है ?"

उत्तर मिला—"भीख मांगते थे।"

बाद में मालूम हुआ कि मास्को में भीख मांगना कानूनन मना है, यद्यपि वहां एक भी ऐसी सड़क नहीं, जहां झुंड़-के-झुंड़ भिखारी न दिखाई देते हों। प्रार्थना के समय गिरजाघरों के सामने उनकी कतार-की-कतार खड़ी रहती है और दाह-संस्कारों में तो वे पहुँचे बिना रहते ही नहीं। किंतु यह बात मेरी समझ में कभी नहीं आई कि क्या कारण है कि कुछ भिखारी तो पकड़ लिये जाते हैं और कुछ स्वच्छंद फिरते रहते हैं। या तो कुछ भिखारी कानूनी और कुछ गैरकानूनी होते हैं, या उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि सबको पकड़ना सम्भव नहीं; या फिर यों कहिये कि जैसे ही कुछ भिखारी पकड़े जाते हैं वैसे ही दूसरे उनकी जगह आ धमकते हैं।

मास्को में सब तरह के भिखारी हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिन्होंने भीख मांगने को पेट पालने का धंधा बना लिया है और कुछ ऐसे हैं जो सचमुच निराश्रित हैं और किसी-न-किसी कारण से विवश होकर मास्को में आ पड़े हैं। इस दूसरी श्रेणी के भिखमंगों में बहुत-से सीधे-सादे किसान हैं— स्त्री और पुरुष दोनों— जो किसानों-जैसे ही कपड़े पहने रहते हैं। ये मुझे अक्सर मिलते हैं। इनमें से कुछ लोग ऐसे हैं जो मास्को आकर बीमार पड़ गए थे और बाद में अस्पताल से बाहर निकलने पर उनके पास न पेट पालने का कोई साधन रह गया, न वे मास्को से बाहर जाने में ही समर्थ रहे। कुछको शराब पीने की भी लत पड़ गई है, जैसे उस जलोदर के रोगी को। कुछ ऐसे हैं जो बीमार तो नहीं हैं, किंतु जिनका या तो सबकुछ जलकर भस्म हो गया है, या जो बूढ़े हैं, अथवा बाल-बच्चेवाली स्त्रियां हैं। इनके अलावा कुछ ऐसे भी हैं जो खूब हट्टे-कट्टे और काम करने के योग्य हैं।

इन हृष्ट-पुष्ट किसान-भिखमंगों में मुझे विशेष दिलचस्पी पैदा हो गई थी। कारण, मास्को आने के बाद से मैंने स्वास्थ्य की दृष्टि से दो किसानों के साथ पहाड़ी पर जाकर काम करने की आदत डाल ली थी। ये दोनों किसान वहां लकड़ी चीरने का काम करते थे और बिलकुल उन भिखारियों-

जैसे थे जो मुझे सड़कों पर मिला करते थे। एक का नाम पीटर था। वह कालूगा का रहनेवाला एक सैनिक था। दूसरे का नाम सेमन था और वह ब्लाडीमीर का एक किसान था। इनके पास तन के कपड़ों और दो भुजाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। अपनी भुजाओं से खूब श्रम करके वे प्रतिदिन ४०-५० कोपेक[1] कमा लेते थे। इस कमाई में से वे कुछ बचा भी लेते थे। पीटर भेड़ की खाल का एक कोट खरीदना चाहता था और सेमन गांव वापस जाने के लिए पैसे जमा कर रहा था। इन्हीं लोगों की जान-पहचान का यह फल था कि जब कभी मैं सड़कों पर उनके-जैसे दूसरे लोगों को भीख मांगते देखता तो उनकी ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हो जाता और मेरे मन में यह प्रश्न उठता—क्या कारण है कि ये दोनों तो काम करते हैं, और इनके ही-जैसे अन्य व्यक्ति भीख मांगते फिरते हैं ?

जब कभी मैं सड़क पर इस तरह के किसी किसान-भिखमंगे से मिलता तो उससे साधारणतः यही प्रश्न करता—"तुम्हारी यह दशा कैसे हुई ?" एक बार मुझे एक हट्टा-कट्टा किसान मिला जिसकी डाढ़ी सफेद होनी शुरू हो गई थी। उसने मुझसे भीख मांगी। इसपर मैंने उससे पूछा—"तुम कौन हो और कहां रहते हो ?"

उसने बताया—"काम की तलाश में मैं यहां कालूगा से आया था। पहले मुझे एक जगह लकड़ी फाड़ने का कुछ काम मिल गया था; पर जब मैंने और मेरे साथी ने मिलकर वहां की सारी लकड़ी फाड़ डाली तब हमें नए काम की चिन्ता हुई; लेकिन काम नहीं मिला। मेरा साथी मुझे छोड़कर चला गया और अब पन्द्रह दिन से मैं काम की तलाश में धक्के खाता फिर रहा हूं। इस बीच मेरे पास जो कुछ था, मैंने बेच खाया और अब कुल्हाड़ी या आरा खरीदने के लिए मेरे पास फूटी कौड़ी तक नहीं है।"

---

[1] १०–११ पेंस, अर्थात् ९–१० आने। कोपेक ताम्बे का एक रूसी सिक्का है, जो अंग्रेजी पेनी के चतुर्थांश अर्थात् एक पैसे से भी कम के बराबर होता है।

मैंने उस आदमी को आरा खरीदने के लिए पैसे दिये और यह भी बताया कि अमुक स्थान पर आने पर काम मिल सकता है। पीटर और सेमन से मैंने पहले ही बात कर ली थी कि वे अपने साथ एक आदमी और रख लें और उसके जोड़ के लिए एक मजदूर तलाश कर दें।

"तो फिर जरूर आना, वहां काफी काम है"—मैंने चलते-चलते कहा।

"हां—हां, जरूर जाऊंगा। किसीको भीख मांगना अच्छा थोड़े ही लगता है ! मैं काम कर सकता हूं।"

इस प्रकार उस आदमी ने शपथ लेकर आने का पक्का वचन दिया और मुझे ऐसा लगा कि वह सच्चे हृदय से कह रहा है और काम पर आना चाहता है।

दूसरे दिन जब मैं पीटर और सेमन के पास गया तो मैंने उनसे पूछा कि वह आदमी आया था या नहीं। मालूम हुआ कि वह नहीं आया था। इसी तरह कई और लोगों ने भी मुझे धोखा दिया।

मुझे कुछ ऐसे लोगों ने भी ठगा जिन्होंने कहा तो यह कि उन्हें घर जाने के लिए केवल रेलभाड़े की आवश्यकता है, किंतु जिन्हें एक सप्ताह के बाद ही मैंने फिर सड़क पर भीख मांगते देखा। उनमें से कितनों को मैं पहचानता था और वे भी मुझे पहचानते थे; किंतु कभी-कभी भूलवश वे मेरे पास आ जाते और फिर वही पुराना पचड़ा सुनाने लगते। कुछ मुझे देखकर उलटे पांव लौट भी जाते।

इन बातों से मुझे यह तो मालूम हो गया कि इस श्रेणी के लोगों में भी बहुत-से धूर्त्त हैं; परन्तु मुझे उनपर बड़ी दया आती थी। उनके पास तन ढकने को पूरे कपड़े तक नहीं थे और वे बिलकुल कंगले, दुबले-पतले तथा बीमार थे। ऐसे ही लोगों के सर्दी से ठिठुरकर मर जाने या फांसी लगा लेने के समाचार हमें अखबारों में पढ़ने को मिलते हैं।

: २ :

अनाथालय में

जब कभी मैं मास्को-निवासियों से नगर की इस भीषण दरिद्रता की चर्चा करता तो वे कहते—"ऊंह, अभी तो आपने कुछ भी नहीं देखा। जरा ख़ित्रोफ़ बाजार जाकर वहाँ की सरायों को देखिए। भिखमंगों की असली 'सुनहरी टोली' तो आपको वहां देखने को मिलेगी।"

इसपर एक मसखरे ने कहा कि उनकी टोली अब टोली ही नहीं रह गई है, बल्कि एक पलटन बन गई है। उसकी बात सही थी; लेकिन अगर वह यह कहता कि मास्को में भिखमंगों की टोली या पलटन ही नहीं, बल्कि एक पूरी सेना बन गई है तो यह और भी सही होता। मैं समझता हूँ कि वहां कुल मिलाकर पचास हजार से कम भिखारी न होंगें।

मास्को के बूढ़े निवासी जब कभी शहर की गरीबी की चर्चा करते तो उन्हें इस प्रकार का हर्ष होता, मानो उन्हें अपने ज्ञान का अभिमान हो। मुझे याद है कि जब मैं लन्दन में था तब वहाँ के लोग भी लन्दन की कंगाली का वर्णन अभिमान के साथ किया करते थे।

जिस दरिद्रता के सम्बन्ध में मैंने इतनी बातें सुनी थीं उसे मैं अपनी आंखों से देखना चाहता था। कई बार मैंने ख़ित्रोफ़ बाजार की ओर पैर उठाए भी; किन्तु हर बार मुझे पीड़ा और लज्जा की अनुभूति होती और मेरी अन्तरात्मा से एक आवाज आती—"जिनकी तुम सहायता नहीं कर सकते उनकी मुसीबतों को देखने क्यों जाते हो?"

किन्तु फिर दूसरी आवाज कहती—"जब तुम यहां रहकर शहर की लुभावनी चीजें देखते हो तो जाओ, उसको भी देखो।"

और एक दिन सन् १८८१ के दिसम्बर महीने में, जब पाला पड़ रहा था और तेज हवा चल रही थी, मैं शहरी कंगाली के केन्द्र ख़ित्रोफ़ बाजार

की ओर चल पड़ा। वह काम-काज का दिन था और समय लगभग चार बजे का होगा। थोड़ी दूर निकलते ही लोग मुझे अधिकाधिक संख्या में ऐसे विचित्र कपड़े पहने दिखाई देने लगे जो निश्चय ही उनके नाप के नहीं थे। उनके जूते तो और भी विचित्र थे। उनके मुख कांतिहीन, बीमारों-जैसे थे और उनकी चाल-ढाल कुछ ऐसी थी मानो उन्हें अपने चारों तरफ की दुनिया से कोई सरोकार नहीं।

मैंने देखा कि एक आदमी बहुत ही विचित्र और बेढंगे कपड़े पहने निश्चिन्तता के साथ चला जा रहा है और उसे इस बात की बिलकुल चिन्ता नहीं कि वह दूसरों को कैसा लगता है। ऐसे जितने भी लोग थे वे सब एक ही दिशा में जा रहे थे। मैं रास्ता नहीं जानता था, फिर भी किसीसे पूछ-ताछ किये बिना ही मैं भी उनके साथ हो लिया और ख़ित्रोफ़ बाजार पहुँच गया। वहां मैंने देखा कि स्त्रियां भी पुरुषों की ही भाँति रंगबिरंगी टोपियां, लबादे, जाकट और जूते पहने हुए हैं और उन्हें भी अपनी बेढंगी पोशाक की परवाह नहीं है। क्या बूढ़ी, क्या जवान, सभी या तो बेफिक्री के साथ बैठी हुई कोई सौदा बेच रही थीं, या इधर-उधर घूम रही थीं और एक-दूसरी को गालियां देती हुई कोस रही थीं। उस समय शायद बाजार उठ चुका था, क्योंकि वहां बहुत ही कम आदमी थे और अधिकांश लोग उधर से होते हुए पहाड़ी पर जा रहे थे। मैं उनके पीछे हो लिया और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, मुझे उसी तरह के लोग अधिकाधिक संख्या में एक ही दिशा में जाते हुए दिखाई दिये।

बाजार से निकलकर जब मैं सड़क पर पहुँचा तो मुझे दो स्त्रियां मिलीं—एक बूढ़ी थी और दूसरी जवान। दोनों भूरे रंग के फटे हुए कपड़े पहने हुए थीं और आपस में किसी विषय पर बातचीत करती जा रही थीं। प्रत्येक आवश्यक शब्द के बाद वे दो-एक अनावश्यक और अश्लील शब्द का प्रयोग किये बिना न रहती थीं। वे नशे में नहीं थीं। हां, अपनी बातों में मस्त अवश्य थीं। मुझे तो उनकी बातचीत का यह ढंग बड़ा ही अटपटा लग रहा था, लेकिन जो लोग उनसे मिलते थे या उनके आगे-पीछे चल रहे थे वे इसपर बिलकुल भी ध्यान नहीं दे रहे थे। इससे साफ मालूम होता था कि वहां के लोग बोलते ही इस ढंग से हैं।

सड़क के बाईं ओर सराएं बनी हुई थीं। कुछ लोग तो उनमें घुस गए और कुछ आगे बढ़ते रहे। पहाड़ी पर चढ़ने के बाद हम कोने के एक बड़े मकान के पास पहुँचे। जिन लोगों के साथ मैं चल रहा था, उनमें से अधिकांश वहीं रुक गए। बर्फ से ढकी हुई सड़क और पटरी पर भी उसी तरह के लोग खड़े या बैठे थे। प्रवेश-द्वार की दाईं ओर सैकड़ों स्त्रियाँ थीं और बाईं ओर सैकड़ों पुरुष। मैं दोनों के बीच से होकर आगे बढ़ा और जहां उनकी कतार समाप्त होती थी वहां जाकर रुक गया। जिस मकान के बाहर ये लोग खड़े थे वह ल्यापिन अनाथालय था। वहां ये लोग रात के समय मुफ्त सोया करते थे और भीतर जाने की प्रतीक्षा में थे। अनाथालय के द्वार ५ बजे खुलते थे। रास्ते में मैं जितनों को पीछे छोड़ आया था, वे सब भी धीरे-धीरे वहीं आ गए थे।

पुरुषों की पंक्ति जहां समाप्त होती थी, मैं वहीं खड़ा हो गया। जो लोग मेरे बिल्कुल पास थे वे मेरी ओर कुछ इस तरह से देखने लगे कि मेरा ध्यान उनकी ओर बरबस आकर्षित हो गया। उनके तन के चीथड़े तो एक-दूसरे से भिन्न और रंग-बिरंगे थे; किन्तु मेरे ऊपर डाली गई उनकी दृष्टियों में बिलकुल एक-सा भाव था। उनकी आंखें मानो पूछ रही थीं—"ऐ दूसरी दुनिया के आदमी ! तुम हमारे पास क्यों खड़े हो गए ? तुम कौन हो ? तुम कोई आत्म-संतुष्ट अमीर तो नहीं जो अपने जीवन की एकरसता को बदलने के लिए हमारी दुर्दशा का मजा लेने आए हो ? या तुम हमपर करुणा दिखानेवाले वह मानव हो जिसका अस्तित्व न इस संसार में है, न कभी हो सकता ?"

हरेक के चेहरे पर यही प्रश्न था। उन्होंने मेरी ओर देखा, दृष्टि-से-दृष्टि मिलाई और फिर मुँह फेर लिया। मैं उनमें से कुछ लोगों से बात-चीत करना चाहता था; किन्तु बहुत देर तक मुझे ऐसा करने का साहस नहीं हुआ। पर मौन रहते हुए भी हम आँखों-ही-आँखों में एक-दूसरे के निकट आ गए। दो-तीन बार नजर-से-नजर मिलने के बाद ही हमने महसूस कर लिया कि हमारे जीवन ने हमें एक-दूसरे से चाहे कितना ही अलग क्यों न कर दिया हो, हैं हम एक ही। और इस प्रकार

हमारा एक-दूसरे के प्रति भय जाता रहा।

मेरे पास ही एक किसान खड़ा था, जिसका चेहरा सूजा हुआ था और जिसकी डाढ़ी लाल थी। उसका कोट फटा हुआ था और उसने बिना मोजों के ही अपने पैरों में टूटे-फूटे जूते पहन रखे थे, यद्यपि उस समय बड़े जोरों का पाला पड़ रहा था। मेरी आंखें उसकी आंखों से तीन-चार बार मिलीं और फिर मैंने अपनेको उसके इतना निकट अनुभव किया कि मुझे उससे बोलने में नहीं, बल्कि न बोलने में लज्जा मालूम होने लगी। मैंने उससे पूछा—"तुम कहांके रहनेवाले हो ?" उसने इसका तुरन्त उत्तर दिया और बातचीत का सिलसिला चल पड़ा। इतने में दूसरे लोग भी हमारे पास खिसक आए। मैं जिससे बातें कर रहा था वह स्मॉलेंस्क का रहनेवाला था और मास्को काम की खोज में आया था। उसे आशा थी कि शहर में जाकर वह इतना कमा लेगा कि उससे अनाज भी खरीद लेगा और टैक्स भी भर देगा।

"लेकिन यहां मुझे कोई काम नहीं मिला," उस आदमी ने बताया। "सिपाहियों ने सारा काम ले लिया है,[1] इसलिए मैं मारा-मारा फिर रहा हूं और भगवान जानता है कि दो दिन से मैंने कुछ नहीं खाया है।"

उसने यह बात बड़ी कातरता के साथ कही और मुस्कराने की चेष्टा की। पास ही स्बिटेन[2] बेचनेवाला एक बूढ़ा सिपाही खड़ा था। मैंने उसे बुलाया और मेरे कहने पर उसने स्बिटेन का एक गिलास भरकर उस आदमी को दिया। किसान ने गिलास को लेकर पहले उसपर अपने हाथ गरमाए। कारण, वह उसकी ज़रा-सी भी गरमी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता था।

हाथ सेकते-ही-सेकते उस किसान ने मुझे अपनी जीवन-कथा सुना डाली। (इन लोगों की जीवन-कथा—कम-से-कम जिस रूप में ये लोग

---

[1] उन दिनों सिपाही बड़े सस्ते में काम करने के लिए मिल जाते थे।

[2] शहद और मसाले से बना गरम पेय।

उसे सुनाते हैं—अधिकतर एक-सी होती है)। उसने बताया—पहले मुझे थोड़ा-सा काम मिला था, लेकिन वह पूरा हो चुका और मेरा बटुआ, जिसमें मेरा पासपोर्ट और बचे-खुचे पैसे थे, इसी अनाथालय में चोरी चला गया, जिसके कारण अब मैं मास्को से बाहर जाने में असमर्थ हूं। दिन में मैं गरम पेय की दूकानों पर ताप लेता हूं और कभी-कभी लोग मुझे रोटी के जो बचे-खुचे टुकड़े दे देते हैं, उन्हें ही खाकर रह जाता हूं। लेकिन कभी-कभी वे मुझे भगा भी देते हैं। रात मैं इसी ल्यापिन अनाथालय में काट लेता हूं, जहां मुझे कुछ देना नहीं पड़ता। अब मैं केवल इस प्रतीक्षा में हूं कि पुलिसवाले ढूंढते हुए आवें और पासपोर्ट न होने के कारण मुझे पकड़कर जेल में डाल दें और बाद में मैं अपने ही जैसे दूसरे आदमियों के साथ पुलिस के पहरे में पैदल घर भेज दिया जाऊं। मैंने सुना है कि पुलिस बृहस्पतिवार को गश्त लगायगी।—(स्पष्टतः जेल और घर की पैदल-यात्रा उसे स्वर्ग-जैसी मालूम होती थी)।

भीड़ के दो-तीन आदमियों ने उसकी इन बातों का समर्थन किया और कहा कि हम भी ऐसी ही मुसीबत में हैं। उसी समय लम्बी नाक-वाला एक दुबला-पतला, निर्बल नवयुवक, जिसके शरीर पर कंधों पर से फटी हुई केवल एक कमीज थी और जिसकी टोपी का चंदोवा भी लापता था, लोगों को ढकेलता-ढकालता भीड़ में से निकलकर मेरे पास आया। वह सर्दी से थर-थर कांप रहा था, फिर भी उसने किसान की बातों पर घृणापूर्ण हँसी हँसने की चेष्टा की और मेरी ओर दृष्टि गड़ाकर देखा। शायद उसने यह सोचा हो कि इस प्रकार की चेष्टा मेरी मनो-दशा के अनुकूल होगी।

मैंने उसे भी एक गिलास स्बिटेन दिलवाया। गिलास लेकर उसने भी अपने हाथ सेके; किन्तु ज्योंही उसने बोलना शुरू किया, एक लम्बा, काला, तोते-जैसी नाकवाला आदमी उसको धक्का देकर आगे निकल आया। वह छींट की एक कमीज और जाकट पहने हुए था; लेकिन उसके सिर पर टोपी नहीं थी। उसने पीने के लिए स्बिटेन मांगा। उसके पीछे नशे में चूर, नुकीली डाढ़ीवाला एक लम्बा बूढ़ा आदमी

आया। वह ओवरकोट पहने हुए था, जिसमें कमर के पास एक डोरी बंधी हुई थी और उसके पैरों में चटाई के जूते थे। उसके पीछे एक लड़का आया जिसका मुंह सूजा हुआ था और जिसकी आंखें तर थीं। वह एक भूरी जाकट पहने हुए था। उसके नंगे घुटने फटी हुई ठंडी पतलून में से दिखलाई दे रहे थे और सर्दी के मारे एक-दूसरे से टकरा रहे थे। वह इतना कांप रहा था कि स्बिटेन का गिलास उससे सम्हल नहीं सका और सारा-का-सारा स्बिटेन उसके ऊपर ही बिखर गया। दूसरे लोग उसे गालियां देने लगे; किंतु वह करुण भाव से केवल मुसकरा भर दिया और खड़ा-खड़ा कांपता रहा।

उस लड़के के बाद चीथड़े लपेटे, एक भद्दी सूरत का विकृत शरीर-वाला व्यक्ति आया। उसने अपने नंगे पांवों में कपड़े की पट्टियां लपेट रखी थीं। फिर तो एक-एक करके कितने ही लोगों ने मुझे आकर घेर लिया। इनमें से कोई अफसर-जैसा लगता था, तो कोई पादरी-जैसा; किसीके नाक ही नहीं थी तो किसीकी सूरत अजीब थी; लेकिन थे सब भूखे, सर्दी से पीड़ित, जिद्दी और दीन-हीन। वे सब स्बिटेन की ओर झुक पड़े और देखते-ही-देखते उसे चट कर गए। तब एक आदमी ने मुझसे पैसे मांगे और मैंने उसे दे दिये। इसपर दूसरे ने, फिर तीसरे ने पैसे मांगे और फिर तो भीड़-की-भीड़ मुझपर टूट पड़ी और लोग आपस में धक्कम-धक्का करने लगे। इतने में बराबर के मकान से एक चौकीदार ने डपटकर कहा—"मेरे घर के सामने से हट जाओ।" बेचारों ने चुपचाप उसकी आज्ञा का पालन किया और भीड़ में से कुछ लोग स्वयंसेवक बनकर मेरी रक्षा करने लगे। वे मुझे उस रेले में से निकाल ले जाना चाहते थे; किंतु जो भीड़ अभीतक पटरियों पर खड़ी हुई थी वह भी धक्कम-धक्का करती हुई मेरे चारों ओर जमा हो गई। सब-के-सब लोग मेरी ओर देख-देखकर भीख मांगने लगे। उनमें से हरेक का चेहरा एक-दूसरे से अधिक करुण, अधिक क्लांत और अधिक दीन मालूम पड़ता था। मेरे पास जो-कुछ भी था—अधिक नहीं, यही लगभग बीस रूबल[1] के रहे होंगे—मैंने सब बांट दिया और भीड़ के साथ-साथ

[1] अर्थात् लगभग ३० रुपए। एक रूबल १०० में कोपेक होते हैं।

मैं भी अनाथालय में घुसा। उसकी इमारत बहुत बड़ी थी और उसमें चार हिस्से थे। ऊपर के खंड में मर्द रहते थे और नीचे के तल्ले में स्त्रियां। पहले मैं नीचे के हिस्से में गया। एक बड़ा कमरा था जिसमें रेल के तीसरे दर्जे की सीटों के समान ऊपर-नीचे दो पंक्तियों में लकड़ी के तख्ते लगे हुए थे। फटे-पुराने कपड़े पहने हुए अजीब-अजीब ढंग की बूढ़ी और जवान स्त्रियों ने आकर अपने-अपने तख्ते पर कब्जा कर लिया। कुछ ऊपर चढ़ गईं और कुछ नीचे रहीं। कुछ बूढ़ी स्त्रियों ने हाथ जोड़कर अनाथालय बनानेवाले के लिए ईश्वर से दुआ मांगी। दूसरी स्त्रियां हँसी-मजाक और गाली-गलौज करने लगीं।

इसके बाद मैं ऊपर के हिस्से में गया। वहां मर्द अपनी-अपनी जगह ले रहे थे। उनमें से एक वह भी था जिसे मैंने पैसे दिए थे। उसे देखकर एकाएक मुझे बड़ी लज्जा मालूम हुई। ऐसा लगा मानो मैंने कोई अपराध कर दिया है और मैं वहां से तेजी से बाहर निकलकर सीधा अपने घर की ओर चल दिया। कालीन से ढके हुए ज़ीने पर चढ़ता हुआ मैं गलीचे से सुसज्जित बड़े कमरे में पहुँचा और रोएंवाला ओवरकोट उतारकर पांच व्यंजनोंवाला भोजन करने बैठ गया, जिसे सफेद टाई और सफेद दस्ताने पहने हुए दो वर्दीधारी नौकरों ने लाकर मेज पर सजाया था।

तीस वर्ष पहले मैंने एक बार पेरिस में हजारों दर्शकों की उपस्थिति में जल्लादों को एक आदमी का सिर काटते देखा था। मैं जानता था कि उस व्यक्ति ने भयंकर अपराध किया था। इस प्रकार सार्वजनिक रूप से सिर काटने के पक्ष में लिखी गई सारी दलीलों से भी मैं परिचित था। मुझे विदित था कि ऐसा दण्ड जान-बूझकर विशेष अभिप्राय से दिया जाता है; किंतु जैसे ही उस आदमी का सिर धड़ से अलग होकर नीचे बक्स में गिरा कि मेरा दम घुटने लगा और मेरे शरीर और हृदय ने ही नहीं, बल्कि रोम-रोम ने अनुभव किया कि मृत्युदंड के पक्ष में जितनी

रूस का यह सोने का सिक्का २ शिलिंग, १$\frac{३}{४}$ पेंस यानी लगभग डेढ़ रुपए के बराबर होता है।

भी दलीलें हैं वे अनर्गल और दुष्टतापूर्ण हैं और इस संसार के सबसे जघन्य अपराध—हत्या—को करने में चाहे कितने ही आदमियों का योग क्यों न हो और अपनेको वे चाहे कोई भी नाम क्यों न दें, हत्या—हत्या ही है; और चूंकि उक्त हत्या मेरी आँखों के सामने की गई थी और मैं बिना कोई आपत्ति किये उसे चुपचाप खड़ा-खड़ा देखता रहा था इसलिए मैं भी उनका समर्थन और भागीदार था। इसी प्रकार जब मैंने ल्यापिन अनाथालय के बाहर हजारों लोगों की भूख, कंपकपी और पतन का दृश्य देखा तो मेरे शरीर और हृदय ने ही नहीं, बल्कि रोम-रोम ने यह अनुभव किया कि जब मेरे-जैसे सहस्रों व्यक्ति ठूंस-ठूंसकर तरह-तरह के व्यंजन खाते हैं और अपने घोड़ों और घर के फर्श तक को कपड़े या गलीचे से ढकते हैं तब—चाहे संसार की समस्त विद्वद्मण्डली इसका कितना ही समर्थन क्यों न करे—इसमें सन्देह नहीं कि मास्को में इस तरह के दसियों हजार कंगालों का होना एक चिरस्थायी अपराध है और मैं अपनी विलासिता में पड़ा रहकर इस अपराध को न केवल सहन ही कर रहा हूं, बल्कि स्वयं उसमें भाग भी ले रहा हूं। मुझे तो पहली और अबकी अनुभूति में केवल एक अन्तर दिखाई देता था। सार्वजनिक प्राणदंडवाले मामले में मैं अधिक-से-अधिक इतना कर सकता था कि सूली के पास खड़े हुए हत्या की तैयारी करनेवाले जल्लादों से चीखकर कहता कि तुम गलती कर रहे हो, और यह अच्छी तरह से जानते हुए भी कि मेरे किसी कार्य से हत्या रुक नहीं सकती, हर सम्भव युक्ति से उसमें बाधा डालने की चेष्टा करता; किंतु भिक्षुकों के मामले में मेरी कार्य-क्षमता यहींतक सीमिति नहीं थी कि उन्हें स्बिटेन पिला देता और जेब के थोड़े-से पैसे बाँट देता, बल्कि मैं उन्हें अपने शरीर पर का ओवरकोट और अपने घर की सारी चीजें दे सकता था। परन्तु मैंने ऐसा नहीं किया। यही कारण है कि मैंने उस समय अनुभव किया, अब भी करता हूं और सदा करता रहूंगा कि जबतक मेरे पास दो कोटों के होते हुए कोई व्यक्ति बिना कोट के रहेगा तबतक मैं भी इस संसार में निरंतर होते रहनेवाले एक पाप का भागीदार बना रहूंगा।

: ३ :

उन्हें उबारना चाहा

ल्यापिन अनाथालय से लौटकर मैंने उसी दिन शाम को अपने विचार एक मित्र के सामने प्रकट किये। वह शहर के ही रहनेवाले थे, इसलिए उन्होंने मुझे समझाना शुरू किया कि मैंने जो-कुछ देखा है वह शहरों के लिए बिलकुल एक स्वाभाविक बात है और देहात में रहने के कारण ही मुझे उसमें अनोखापन दिखाई देता है। मेरे मित्र ने यह भी कहा कि ऐसी स्थिति तो सदा से रही है और रहेगी; भिक्षावृत्ति सभ्यता का एक अनिवार्य अंग है; लन्दन में तो इससे भी दयनीय दशा है, इसलिए इसमें कोई बुराई नहीं है और इससे किसीको दुखी नहीं होना चाहिए।

मैं अपने मित्र से बहस करने लगा और मेरी बातों में इतनी उग्रता तथा उत्तेजना आगई कि पास के कमरे से मेरी स्त्री दौड़ आई और पूछने लगी कि क्या बात है। ऐसा मालूम पड़ता है कि अनजाने में मैं अपने मित्र की ओर दोनों हाथ फैलाए अश्रुप्लावित कंठ से चिल्ला पड़ा था—"कोई भी व्यक्ति इस तरह नहीं रह सकता, नहीं रह सकता, नहीं रह सकता।" इस अनावश्यक उत्तेजना के लिए मेरे मित्रों ने मुझे बड़ा लज्जित किया और कहा कि मैं किसी विषय पर शांतिपूर्वक बातें नहीं करता और अप्रिय ढंग से उग्र हो उठता हूं। उन्होंने यह बात विशेष रूप से प्रमाणित करने की चेष्टा की कि समाज में ऐसे अभागों का होना कोई ऐसी बात नहीं जिसके कारण मैं आस-पासवालों का जीवन दूभर बनादूं।

यह सोचकर कि बात है तो बिलकुल ठीक, मैं चुप हो गया; परंतु मेरे अन्तस्तल में लगातार यह अनुभूति होती रही कि मेरी बात भी ठीक है और मेरा मन शांत नहीं हो पाया।

नगर का जीवन, जो पहले मुझे अजीब और अपरिचित मालूम होता

था, अब इतना घृणित दिखाई देने लगा कि विलासितापूर्ण जीवन के जिन सुखों में पहले मुझे आनन्द आता था वे ही मेरे लिए अब यातना बन गए। जिस प्रकार का जीवन मैं बिता रहा था उसके लिए अपनी आत्मा में थोड़ा-बहुत औचित्य ढूंढ़ने की मैं लाख चेष्टा करता; किंतु जब कभी अपना या किसी दूसरे का सजा हुआ गोल कमरा या मेज पर सफाई और सुन्दरता के साथ परोसा हुआ भोजन देखता, या जब कभी मेरी दृष्टि मोटे-ताजे घोड़ों और कोचवानोंसहित किसी गाड़ी, या दुकान, या थियेटर, या सभा-मंडली पर जाती तो क्रोध आए बिना न रहता। इनके साथ-ही-साथ मेरी आंखों के आगे ल्यापिन अनाथालय के भूखे, ठिठुरते हुए और पददलित अनाथों की आकृतियां नाच उठतीं और बरबस मेरे मन में यह विचार उठता कि इन दोनों का आपस में सम्बन्ध है, ये दोनों एक-दूसरे के कारण हैं ? मुझे याद है कि अपनेको अपराधी मानने की जिस भावना की अनुभूति मैंने आरम्भ से ही की थी वह मेरे मन में सदा बनी रही, यद्यपि कुछ ही दिनों बाद एक दूसरी भावना उसमें आ मिली और उसने पहली अनुभूति को आच्छादित कर दिया।

ल्यापिन अनाथालय की जो छाप मेरे मन पर पड़ी थी उसकी चर्चा जब कभी मैं अपने इष्ट-मित्रों और जान-पहचानवालों से करता तब वे भी वैसी ही बातें कहते जैसी कि उस मित्र ने कही थी, जिसपर मुझे क्रोध आया था। किंतु साथ-ही-साथ वे मेरी दयालुता और सहज ही प्रभावित होनेवाली प्रवृत्ति की प्रशंसा भी करते। कहते कि आप पर इस दृश्य का इतना गहरा प्रभाव केवल इसलिए पड़ा कि आप—लियो टॉल्सटॉय—एक बहुत ही दयालु और नेक व्यक्ति हैं। मैंने उनके इस निष्कर्ष पर सहर्ष विश्वास कर लिया और इसके पहले कि मैं इस विषय पर पुनः विचार करता, लज्जा और पश्चात्ताप की उस भावना के बदले, जो मेरे मन में सबसे पहले उदय हुई थी, मैं अपनी परोपकारिता की प्रवृति पर संतोष अनुभव करने लगा और मुझमें उसके प्रदर्शन की भी इच्छा जाग उठी।

मैंने अपने मन में सोचा—"दोष शायद मेरे भोगविलास का नहीं, बल्कि जीवन की उन परिस्थितियों का है जो अनिवार्य हैं। मैंने जो बुराइयां देखी हैं वे मेरे जीवन में परिवर्तन होने से दूर नहीं हो सकेंगी। अपने जीवन में परिवर्तन करके तो मैं अपने और अपने प्रियजनों के ही जीवन को दुःखी बना लूंगा और अभागे अनाथों की दशा सदा के समान हीन-की-हीन बनी रहेगी। इसलिए मेरा यथार्थ कर्त्तव्य स्वयं अपने जीवन में परिवर्तन करना नहीं है, जैसा कि मैंने पहले सोचा था, बल्कि यथाशक्ति उन अभागों की स्थिति सुधारने में सहायता देना है जिनके प्रति मेरे मन में सहानुभूति जागृत हुई है। सारांश यह कि मैं एक बड़ा ही नेक और दयालु प्राणी हूं और अपने पड़ोसियों का उपकार करना चाहता हूं।"

इस विचार के आते ही मैं परोपकार की एक ऐसी योजना बनाने लगा जिसके द्वारा मुझे अपनी सज्जनता का प्रदर्शन करने का अवसर मिले। हां, इतना अवश्य बतला दूं कि इस योजना को बनाते समय भी मेरी अंतरात्मा में निरन्तर यही अनुभूति होती रही कि मैं जो-कुछ कर रहा हूं वह ठीक नहीं है। किन्तु, जैसा कि अक्सर होता है, तर्क और कल्पना ने अंतरात्मा का गला घोट दिया।

संयोग की बात है कि उन्हीं दिनों मर्दुमशुमारी की तैयारी हो रही थी। मैंने सोचा कि जिस परोपकार-कार्य द्वारा मैं अपनी सज्जनता का प्रदर्शन करना चाहता हूं, उसे आरम्भ करने का यह अच्छा अवसर है। मैं मास्को की अनेक परोपकारी संस्थाओं और सभाओं से परिचित था; किन्तु मुझे ऐसा लगता था कि उनके कार्य का संचालन गलत रास्ते पर हो रहा है और उनके प्रयत्न मेरे लक्ष्य की अपेक्षा नगण्य हैं। इसलिए मैंने निम्नलिखित योजना तैयार की—अमीरों के हृदय में शहर की गरीबी के प्रति सहानुभूति पैदा की जाय; रुपया इकट्ठा किया जाय; इस कार्य में सहायता देने की इच्छा रखनेवालों की सूची तयार की जाय; मर्दुमशुमारी करनेवालों के साथ-साथ अनाथों के सब अड्डों पर जाया जाय और उनकी गणना करने के अतिरिक्त उनके सम्पर्क में आकर उनकी आवश्यकताओं की जांच की जाय; उन्हें धन और काम देकर या गांवों में वापस पहुँचाकर और उनके बच्चों को स्कूलों में व बड़े-बूढ़ों

को अनाथाश्रमों में भरती कराकर उनकी सहायता की जाय। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी सोचा कि इस कार्य में हाथ बंटानेवाले लोगों में से कुछ की एक स्थायी समिति बनाई जाय, जो मास्को के भिन्न-भिन्न भागों का काम अपने सदस्यों में बांटकर कंगाली और अनाथपन के कीटाणुओं को नष्ट करने की चेष्टा करे, उन्हें अंकुरित होते ही दबा दे और अधिक यत्न दरिद्रता के रोग की चिकित्सा करने के बजाय उसे रोकने का करे। मैं तो यहांतक स्वप्न देखने लगा कि मुझे अपने काम में इतनी सफलता मिलेगी कि किसीके पूर्ण रूप से अनाथ रहने की तो बात ही क्या, नगर में कोई व्यक्ति ऐसा भी नहीं रह जायगा जिसे किसी वस्तु की कमी हो। यह सोचकर मुझे बड़ा सुख होता कि यह सब मेरे ही कारण होगा और मेरे-जैसे अमीर निश्चिंत होकर अपने गोल कमरों में बैठेंगे, पांच व्यंजनों का भोजन करेंगे, गाड़ियों में बैठकर थियेटर और सभा-सोसायटियों में जायंगे और रास्ते में उन्हें ल्यापिन अनाथालय-जैसे दृश्यों को देखकर दुखी नहीं होना पड़ेगा।

इस प्रकार की योजना बनाकर मैंने एक लेख लिखा और उसे प्रकाशनार्थ भेजने से पूर्व मैं अपने उन परिचितों से मिला जिनसे मुझे सहायता मिलने की आशा थी। उस दिन मैं जितने लोगों से मिला (विशेष रूप से मैं अमीरों के ही पास गया) उन सबसे मैंने प्रायः वही बात कही जो अपने लेख में लिखी थी। मैंने उनसे प्रस्ताव किया कि मर्दुमशुमारी से लाभ उठाकर मास्को के कंगालों का परिचय प्राप्त किया जाय और रुपये तथा काम से उनकी सहायता कर ऐसा यत्न किया जाय कि मास्को में दरिद्रता रह ही न जाय और फिर हम अमीर लोग शान्तचित्त होकर उन आमोद-प्रमोदों का आनन्द उठाएं जिनकी हमें आदत पड़ गई है। इन बातों को सबने बड़ी गम्भीरता के साथ ध्यानपूर्वक सुना और उसकी प्रतिक्रिया सबपर एक समान हुई। मेरी बातों का तात्पर्य समझते ही वे विचलित हो उठे और उनके मुख पर लज्जा का भाव झलकने लगा। ऐसा मालूम पड़ता था कि उन्हें लज्जा मुख्यतः मेरे कारण आ रही थी; क्योंकि वे सोचते थे कि मैं कुछ ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें कर रहा हूं जो उनकी समझ में मूर्खतापूर्ण होती हुई भी स्पष्ट रूप

से मूर्खतापूर्ण कही नहीं जा सकती थीं। मुझे तो ऐसा लगा मानो किसी बाहरी कारण से वे मेरी इन मूर्खतापूर्ण बातों को सहन करने के लिए विवश हो गए हैं।

उत्तर मिला—"हां, हां; यह तो बड़ा ही अच्छा विचार है, भला इससे किसे सहानुभूति न होगी? आपका विचार बहुत ही सुन्दर है, मेरे मन में भी ऐसा ही विचार उठा था; लेकिन...क्या कहें, यहां के लोग तो इन बातों की ओर से इतने उदासीन हैं कि अधिक सफलता की आशा नहीं की जा सकती। हां, जहांतक मेरा सवाल है मुझसे जितनी सहायता बन पड़ेगी, देने को तैयार हूं।"

सबने कुछ-न-कुछ ऐसी ही बात कही। वे मुझसे सहमत तो हो गए; पर ऐसा प्रतीत होता था कि वे संतुष्ट होकर या स्वेच्छा से ऐसा नहीं कर रहे हैं बल्कि कोई बाहरी कारण उन्हें मुझसे असहमत होने से रोक रहा है। इसका एक प्रमाण यह भी था कि जो लोग आर्थिक सहायता करने का वचन देते थे वे यह नहीं बताते थे कि कितना देंगे, जिसके फलस्वरूप स्वयं मुझे कहना पड़ता था—"तो आशा है कि आपसे ३०० या २०० या २५ रूबल मिल जायंगे।" इतने पर भी उनमें से एक ने भी हाथ-के-हाथ रुपया नहीं दिया। यह मैं इसलिए लिख रहा हूं कि जिस बात में लोगों को वास्तव में रुचि होती है उसके लिए वे साधारणतः फौरन ही रुपया दे डालते हैं। उदाहरण के लिए, जब कभी लोग थियेटर जाना चाहते हैं तो अपनी सीट के लिए हाथ-के-हाथ पैसा दे देते हैं। किन्तु मेरी योजना के संबंध में जिन लोगों ने रुपया देने को कहा या सहानुभूति प्रकट की उनमें से एक ने भी तत्काल रुपया नहीं दिया। बस, मैंने जो रकम कह दी उसे उन्होंने चुपचाप स्वीकार भर कर लिया।

उस दिन शाम को मैं जिस मित्र के घर सबसे अंत में गया वहां बहुत-से लोग इकट्ठा थे। उस घर की मालकिन इधर कुछ वर्षों से परोपकार के काम में लगी हुई थी। दरवाजे पर कई गाड़ियां खड़ी थीं और प्रवेश-कक्ष में कीमती वर्दियां पहने कई दरबान बैठे थे। बड़े गोल कमरे में दो मेजों के चारों ओर, जिनपर लैम्प जल रहे थे, बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहने कितनी ही विवाहिता तथा अविवाहिता

स्त्रियां बैठी-बैठी गुड़ियाएं बना रही थीं। उनके पास ही कितने ही नवयुवक भी बैठे थे। गुड़ियांएं गरीबों के सहायतार्थ लाटरी द्वारा बेची जाने के लिए बनाई जा रही थीं।

गोल कमरे और उसमें एकत्र लोगों को देखकर मेरे हृदय पर बड़ा अप्रिय प्रभाव पड़ा। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि वहां एकत्र हुए लोगों की हैसियत लाखों रूबल की थी और उनके कपड़ों, गहनों, गाड़ी-घोड़ों, वर्दियों, दरबानों आदि पर जो खर्च हुआ था अकेले उसका सूद ही उनके कार्य के मूल्य से सैकड़ोंगुना अधिक था। यदि हम इस तथ्य को छोड़ भी दें तब भी, केवल उस एक दिन के आयोजन का खर्च—दस्तानों, साफ चादरों, सवारी, मोमबत्ती, चाय, शक्कर, बिस्कुट आदि पर व्यय किया गया धन—ही उन लोगों द्वारा तैयार की जानेवाली चीजों के मूल्य से सैकड़ों-गुना अधिक होगा। यह सब देखकर मैंने समझ लिया कि कम-से-कम यहां तो मुझे अपनी योजना के लिए सहानुभूति की आशा करनी नहीं चाहिए। फिर भी चूंकि मैं वहां अपना प्रस्ताव रखने की नीयत से गया था, इसलिए कठिनाई अनुभव करने पर भी मैंने अपनी बात कह ही डाली।

उपस्थित महिलाओं में से एक ने कहा—"अधिक भावुक होने के कारण मैं स्वयं तो गरीबों के बीच नहीं जा सकूंगी; किन्तु कुछ रुपए अवश्य दूंगी।"—कितने और कब, यह उन्होंने नहीं बताया। एक दूसरी महिला और एक नवयुवक ने कंगालों के बीच चलकर सेवा करने के लिए तत्परता दिखाई; परन्तु मैंने उनकी इस कृपा से लाभ नहीं उठाया। जिस व्यक्ति को मैंने विशेष रूप से सम्बोधित किया उसने कहा—"साधनों की कमी होने के कारण मेरे लिए कुछ अधिक करना सम्भव नहीं।"—बात यह थी कि मास्को के सभी धनाढ्य व्यक्ति सुपरिचित थे और उनसे जितना भी लिया जा सकता था सरकार पहले ही ले चुकी थी। इसके लिए उन्हें पद, तमगे और दूसरे सम्मान भी प्राप्त हो चुके थे। अतः उनसे और दान लेने की एकमात्र युक्ति यही थी कि उन्हें सरकार की ओर से नए सम्मान दिलाए जाते; किन्तु यह कार्य बहुत ही कठिन था।

उस दिन घर लौटकर जब मैं बिस्तर पर लेटा तो मेरे मन में अपनी योजना के असफल होने की केवल आशंका ही नहीं थी, बल्कि मुझे लज्जा भी मालूम हो रही थी और ऐसा लग रहा था जैसे सारे दिन में कोई बहुत ही घृणित और लज्जाजनक कार्य करता रहा हूं। फिर भी मैंने प्रयत्न बन्द नहीं किया, क्योंकि एक तो कार्य आरम्भ हो चुका था और मिथ्या लज्जा की भावना मुझे उसे छोड़ने नहीं देती थी; दूसरे इस कार्य में लगे रहने पर भी मैं अपने जीवन का वही क्रम चलाता रह सकता था जिसका कि मैं अभ्यस्त हो गया था। इसके विपरीत, मैं खूब समझता था कि यदि मेरी योजना सफल न हुई तो मुझे अपने जीवन का पुराना क्रम त्यागकर एक नया क्रम ढूँढ़ने के लिए विवश होना पड़ेगा, जिससे कि मैं अनजाने में ही डरा करता था। इसलिए मैंने अपनी अंतरात्मा की आवाज पर विश्वास नहीं किया और जो काम आरम्भ कर चुका था उसे जारी रखा।

मैंने अपना लेख छपने को भेज दिया और उसके प्रूफ की एक प्रति नगर-'ड्यूमा'[1] (नगरपालिका) में पढ़कर सुनाई। उसे पढ़ते समय मुझे इतनी बेचैनी मालूम हुई कि बीच में मैं रुक गया और लज्जा के मारे मेरी आंखों में पानी भर आया। मैंने देखा कि वहां जितने लोग उपस्थित थे वे भी सब-के-सब बेचैन हो रहे थे। लेख समाप्त करने पर जब मैंने पूछा कि क्या मर्दुमशुमारी करनेवाले लोग अपने पदों पर बने रहकर दीनों और सामान्य समाज के बीच मध्यस्थ का काम करने के मेरे प्रस्ताव से सहमत हैं तो वहां एक भद्दा सन्नाटा छा गया।

बाद में सभा के दो सदस्यों ने व्याख्यान दिये जिनसे मेरे प्रस्ताव का अटपटापन दूर हो गया। लोगों ने मेरी योजना के प्रति सहानुभूति प्रकट की; किन्तु साथ ही मेरे विचार की अव्यावहारिकता का भी संकेत

---

[1] 'ड्यूमा' वास्तव में उस रूसी संसद को कहते हैं जो सन् १९०६ में स्थापित हुई थी, किन्तु इस शब्द का लोकप्रिय अर्थ है, 'कौंसिल' अर्थात् सलाहकार-समिति। नगर-सलाहकार-समिति को भारत में म्यूनिसपैलिटी अर्थात् नगरपालिका कहते हैं।

किया। इससे तत्काल तो लोगों को संतोष हुआ; किन्तु जब मैंने अपनी बात पर फिर जोर देने की इच्छा से बाद में मर्दुमशुमारीवालों से अलग-अलग पूछा कि क्या आप मर्दुमशुमारी के समय गरीबों की आवश्यकताओं की जांच करने और अपने पदों पर बने रहकर अमीर और गरीब के बीच मध्यस्थता का काम करने को तैयार हैं, तो वे फिर बेचैन हो उठे। उनके चेहरों पर के भाव मानों कह रहे थे—"श्रीमान्जी, आपकी खातिर हमने एक बार तो आपकी मूर्खतापूर्ण बातें सह लीं; लेकिन लगे आप उन्हें फिर ओटने।" उनके मुख पर तो ये ही भाव थे, किन्तु जिह्वा से उन्होंने स्वीकृति प्रकट की और उनमें से दो व्यक्तियों ने अलग-अलग किन्तु एक ही प्रकार के शब्दों में—मानो उन्होंने पहले से ही सलाह कर ली हो—कहा—"हम तो इस काम को करना अपना कर्त्तव्य समझते है।"

जब मैंने मर्दुमशुमारी के लिए नियुक्त किये गए विद्यार्थियों से कहा कि मर्दुमशुमारी के साथ-ही-साथ परोपकार की बात भी ध्यान में रखनी चाहिए तो मेरे कहने का उनपर भी वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा नगर-पालिकावालों पर पड़ा था। मैंने देखा कि इस विषय पर बात करते समय उन्हें मेरी ओर देखने में उसी प्रकार लज्जा की अनुभूति हो रही थी, जिस प्रकार किसी सहृदय व्यक्ति को अनर्गल बातें करते देख उसकी ओर देखने में होती है।

पत्र-सम्पादक को लेख देने पर उसपर भी ऐसा ही प्रभाव पड़ा था और मेरे पुत्र, मेरी स्त्री और अधिकांश दूसरे व्यक्तियों ने भी प्रायः ऐसी ही भावना व्यक्त की। न जाने क्यों, सभी लोग मेरा प्रस्ताव सुनते ही बेचैन हो उठते थे। फिर भी वे मेरे विचार की प्रशंसा करना आवश्यक समझते थे और अपनी स्वीकृति प्रकट करने के पश्चात् शीघ्र ही मेरी योजना की सफलता के विषय में संदेह व्यक्त करने लगते थे। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहा करते थे कि क्या बताएं साहब, समाज के प्रति तो सभी लोग (सिवा स्वयं उनके) बड़े उदासीन और उत्साह-विहीन हैं।

मेरी अंतरात्मा फिर भी यही कहती रही कि ये सब बातें ठीक नहीं और इनसे कुछ लाभ नहीं होगा। किन्तु मेरा लेख छपा और मैंने मर्दुम-शुमारी में काम करना स्वीकार कर लिया। मैंने ही योजना आरम्भ की थी और अब वह मुझे बरबस अपने साथ खींच ले चली।

: ४ :

प्रारम्भिक जांच-पड़ताल

मेरी प्रार्थना के अनुसार मुझे ख़मोवनीकी वार्ड के एक मुहल्ले में मर्दुमशुमारी का काम सौंपा गया। यह मुहल्ला स्मॉलेंस्क बाजार के पास प्रोतौख़नी गली में नदीवाले रास्ते और निकॉल्सकी गली के बीच बसा हुआ है। इसी मुहल्ले में वे मकान बने हुए हैं जो सामूहिक रूप से रज़्हानोफ़-भवन या रज़्हानोफ़-दुर्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहले ये मकान रज़्हानोफ़ नामक एक व्यापारी के थे; किन्तु अब ज़ीमिन-परिवार के अधिकार में हैं। मैं बहुत दिनों से सुनता आया था कि यह भवन भयंकरतम दरिद्रता और व्यभिचार का अड्डा है और इसीलिए मैंने प्रबंधकों से उधर की हा मर्दुमशुमारी का काम मांगा था।

नगरपालिका से निर्देश मिलने के बाद मर्दुमशुमारी से कुछ दिन पहले मैं उस मुहल्ले का निरीक्षण करने गया। अधिकारियों ने मुझे जो नक्शा दिया था उसकी सहायता से मुझे रज़्हानोफ़-भवन का पता आसानी से लग गया।

मैं पासवाली निकॉल्सकी गली में घुसा। बाईं तरफ, जहां गली समाप्त होती थी, एक बीहड़ श्रीहीन भवन था जिसका गली की ओर कोई रास्ता नहीं था। उसे बाहर से देखकर मैंने अनुमान लगा लिया कि यही रज़्हानोफ़ दुर्ग है।

निकॉल्सकी गली के ढलाव पर मुझे दस से चौदह वर्ष की अवस्था के कुछ बच्चे मिले। वे जाकट या पतले कोट पहने हुए थे। कुछ तो

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

ढलाव पर और कुछ सड़क की बर्फ से ढकी हुई पटरी पर एक पैर में पहियेदार जूता पहने फिसलने का खेल खेल रहे थे। वे सब थे तो फटे-हाल; परन्तु शहरी बच्चों की तरह सजग और ढीठ थे। मैं खडा होकर उन्हें देखने लगा। इतने में मोड़ से फटे-पुराने कपड़े पहने एक बुढ़िया निकली, जिसके पीले गाल सूखकर लटक गए थे। वह स्मॉलेंस्क बाजार की ओर जा रही थी और एक थके हुए घोड़े की तरह पग-पग पर हांफ रही थी। मेरे पास आकर वह खड़ी हो गई और जोर-जोर से सांस लेने लगी। कोई और जगह होती तो वह बुढ़िया मुझसे भीख मांगे बिना न रहती; किन्तु वहां उसने मुझसे केवल बातें कीं। बर्फ पर खेलते हुए लड़कों की ओर संकेत करके वह बोली—"ज़रा इनकी ओर देखिए, हर वक्त ऊधम ही मचाते रहते हैं। अपने बाप की तरह ये भी पक्के रज़हानोफ़ी निकलेंगें।" उनमें से एक लड़के ने, जो ओवरकोट और फटी टोपी पहने हुए था, बुढ़िया की बात सुन ली। वह खड़ा हो गया और चिल्लाकर बोला—"तू भी तो रज़हानोफ़ की ही कुतिया है।"

"क्या तुम इसी मकान में रहते हो ?"—मैंने लड़के से पूछा।

"हां, और यह बुढ़िया भी इसीमें रहती है; इसने एक जूता चुराया था"—लड़का चिल्लाकर बोला और एक पैर आगे बढ़ाकर बर्फ पर फिसलता हुआ चला गया।

इसपर बुढ़िया ने गालियों की झड़ी लगा दी; लेकिन बीच-बीच में खांसी आ जाने के कारण उसे रुक जाना पड़ता था। इसी समय फटे-पुराने कपड़े पहने सफेद बालोंवाला एक बूढ़ा हाथ हिलाता हुआ बीच गली में आ निकला। वह ढलाव की ओर उतर रहा था। उसके एक हाथ में कुछ रोटियां और कुरकुरे बिस्कुट थे और उसे देखकर ऐसा लगता था कि वह अभी-अभी वॉडका[1] का एक गिलास चढ़ाकर आया है। उसने बुढ़िया को गालियां देते हुए सुन लिया था। उसका पक्ष लेता हुआ चिल्लाकर बोला—"ठहरो तो, शैतान के बच्चो!

---

[1] एक तरह की रूसी शराब, जो अधिकतर एक प्रकार की घास से और कभी-कभी आलू से भी चुआई जाती है।

अभी तुम्हारी खबर लेता हूं।" इस प्रकार बच्चों को धमकाकर उसने उनके पीछे दौड़ने का स्वांग रचा और फिर मेरे पास आकर वह पटरी पर चढ़ गया। यही बूढ़ा अगर किसी प्रमुख सड़क पर मिलता तो लोग उसके बुढ़ापे, उसकी दुर्बलता और उसकी कंगाली के रूप पर आकृष्ट हुए बिना न रहते; किंतु यहाँ वह शाम को काम समाप्त कर घर लौटनेवाले एक हँसमुख मजदूर-जैसा लग रहा था।

मैं बूढ़े के पीछे हो लिया। वह नुक्कड़ पर से बाईं ओर मुड़कर प्रोतौख़नी गली में घुसा और उस लम्बे मकान तथा उसके फाटक को पार करता हुआ एक सराय के भीतर जाकर अदृश्य हो गया।

प्रोतौख़नी गली की ओर इस मकान के दो फाटक और कई दरवाजे थे। इनमें सरायों के अलावा शराब, भोजन आदि कई चीजों की दूकानें थीं। यही रज़्हानोफ़ का किला था। इसकी इमारत, रहने के कमरे, आंगन और आदमी सभी गंदे, मटियाले और बदबूदार थे। मैं जितने भी आदमियों से मिला उनमें से अधिकांश आधे नंगे और फटे चीथड़े पहने हुए थे। कुछ लोग धीरे-धीरे आ-जा रहे थे और कुछ एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे में भाग-दौड़ रहे थे। दो आदमी कुछ फटे-पुराने टुकड़ों का सौदा कर रहे थे।

प्रोतौख़नी गली और नदीवाले रास्ते से होकर मैंने पूरी इमारत का चक्कर लगाया और लौटते समय मैं एक दरवाजे पर रुक गया। अन्दर जाकर मैं यह देखना चाहता था कि वहाँ क्या हो रहा है; किंतु ऐसा करते हुए मुझे झिझक मालूम हो रही थी। मैं सोच रहा था कि अगर कोई पूछ बैठा कि क्या चाहते हो तो क्या उत्तर दूंगा। फिर भी थोड़ी देर के संकोच के बाद मैं अन्दर घुस ही गया। वहां पैर रखते ही बदबू से नाक फट गई। आंगन बेहद गंदा था। आगे बढ़कर जब मैं एक कोने पर मुड़ा तो ऊपर बाईं ओर लकड़ी की गैलरी में—पहले छज्जे[1] के तख्तों पर और फिर जीने की सीढ़ियों पर—लोगों

---

[1] **आंगन मकान से घिरा हुआ था और उसमें भीतर की ओर चारों ओर लकड़ी का छज्जा था।**

के दौड़ने की धड़धड़ाहट सुनाई दी। सबसे आगे उड़े हुए गुलाबी रंग के कपड़े पहने एक दुबली-पतली स्त्री भागी हुई आई। उसकी आस्तीनें चढ़ी हुई थीं और वह बिना मोजों के ही जूते पहने हुए थी। उसके पीछे-पीछे एक मोटे बालोंवाला आदमी आया। वह लाल कमीज और बहुत ही चौड़ा पाजामा पहने हुए था, जो लहंगे-जैसा लगता था। उसके पैरों में रबड़ के जूते थे। जीने के नीचे पहुँचकर उसने औरत को पकड़ लिया और हँसकर कहा—"तू मुझसे बचकर नहीं जा सकती।"

"ज़रा इस कंजे की बात तो सुनो"—औरत-बोली। साफ मालूम पड़ता था कि उस आदमी के उसके पीछे-पीछे भागने से वह मन-ही-मन में अहंकार का अनुभव करती हुई इतरा रही थी। इतने में ही उसकी दृष्टि मुझपर जो पड़ी तो आपे से बाहर होकर बोली—"क्या चाहते हो ?" मुझे वहां किसीसे कोई काम नहीं था, इसलिए मैं सकपका गया और वहां से चला आया।

यह घटना स्वयं तो कुछ विशेष महत्व की नहीं थी; किन्तु बाहर सड़क पर मैं जो कुछ देख चुका था—वह गाली देती हुई बुढ़िया, वह हँसमुख बूढ़ा, वे बर्फ पर फिसलते हुए लड़के—इन सबका ज्ञान प्राप्त होने के बाद सहसा इस नई घटना ने मेरे सामने मेरे काम का एक नया पहलू उपस्थित कर दिया। मैं चला था अमीरों की सहायता से इन गरीबों को लाभ पहुँचाने; किंतु उस दिन मैंने वहां पहली बार अनुभव किया कि जिन अभागों का मैं उपकार करना चाहता हूं उनका सारा समय भूख और सरदी को झेलने और रैन-बसेरे की प्रतीक्षा में ही व्यतीत नहीं हो जाता, बल्कि उनके पास और कामों के लिए भी समय रहता है। तन और पेट की चिंता करने के बाद इनके पास भी दिन के शेष घंटे बचते हैं और इनके सामने भी एक पूरा जीवन है जिसके सम्बन्ध में मैंने पहले कभी विचार ही नहीं किया था। वहां मैंने पहली बार अनुभव किया कि इन्हें केवल भोजन और आवास की ही आवश्यकता पूरी नहीं करनी पड़ती; बल्कि हमारी ही तरह इन्हें भी हर दिन जीवन के चौबीस घंटे काटने पड़ते हैं। मैंने अनुभव किया कि हमारी ही तरह इन्हें भी क्रोध आता होगा, हमारी ही तरह ये भी

सुस्त रहते होंगे और हमारी ही तरह इन्हें भी साहसी बनने, रंज करने और खुशियां मनाने की आवश्यकता पड़ती होगी। बात कुछ अजीब-सी तो है; किंतु मैं सच कहता हूं कि मुझे पहली बार यह ठीक-ठीक समझ में आया कि मैंने जो काम हाथ में लिया है उसकी पूर्ति का एकमात्र मार्ग यह नहीं है कि जिस तरह हजार-दो-हजार भेड़ों को खिला-पिलाकर बाड़े में बंद कर दिया जाता है उसी तरह हजार-दो-हजार नंगों-भूखों को भी खाना-कपड़ा दे दिया जाय; बल्कि उसकी पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इन नंगे-भूखों की कुछ भलाई भी की जाय। और जब मेरी समझ में यह आया कि इनमें प्रत्येक व्यक्ति एक मानव है और मानव की ही तरह उसका भी इतिहास है, उसके हृदय में भी मेरे ही समान आशाएँ और आकांक्षाएँ तरंगित होती हैं, वह भी मेरे ही समान प्रलोभनों और भूलों का शिकार बनता है, उसके मस्तिष्क में भी मेरे ही समान विचार और प्रश्न उठते हैं, सारांश यह कि वह भी मेरे ही समान एक मनुष्य है, तब एकाएक मुझे मालूम पड़ा कि जिस काम का बीड़ा मैंने उठाया है वह बड़ा ही कठिन है और उसे पूरा करने में मैं नितांत असमर्थ हूं। किन्तु अब तो काम चल पड़ा था और मैं उसमें लगा ही रहा।

: ५ :

दरिद्रों के दुर्ग में

मर्दुमशुमारी करनेवाले विद्यार्थियों ने निश्चित तिथि पर अपना काम सवेरे से ही आरम्भ कर दिया; किन्तु मैं, जो अपनेको परोपकारी समझता था, दोपहर से पहले उनके साथ न लग सका। इसका कारण यह था कि दस बजे तो मैं सोकर उठा, उसके बाद मैंने कॉफी ली और फिर हाजमा ठीक करने के लिए सिगरेट भी। रज्हानोफ़-भवन के फाटक पर पहुँचते-पहुँचते १२ बज गए। एक पुलिसवाले ने

मुझे नदीवाली गली की सराय में पहुँचा दिया। विद्यार्थियों ने उससे कह रखा था कि अगर कोई हमें पूछने आए तो उसे सराय में पहुँचा देना।

मैं सराय के अन्दर गया। वह अन्धकारपूर्ण, बदबूदार और गंदी थी। ठीक मेरे सामने शराबखाना था। उसमें बाईं ओर एक छोटा कमरा था, जिसमें मैले मेजपोशों से ढकी हुई मेजें पड़ी थीं। दाहिनी ओर खम्भोंवाला एक बड़ा कमरा था। उसमें भी खिड़की के पास और दीवारों से मिली हुई वैसी ही मेजें लगी थीं। कुछ लोग इधर-उधर बैठे चाय पी रहे थे। इनमें से कुछ ने तो फटे-पुराने कपड़े पहन रखे थे और कुछ की पोशाक अच्छी थी। वे मजदूर या छोटे दुकान-दार मालूम पड़ते थे। साथ ही कुछ स्त्रियां भी बैठी चाय पी रही थीं। सराय बहुत गंदी थी; लेकिन यह देखते ही पता चल जाता था कि व्यापार अच्छा चल रहा है। सरायवाले की मुद्रा से व्यवहार-कुशलता टपक रही थी और बैरे बड़ी तत्परता और ध्यान से काम कर रहे थे।

मेरे भीतर घुसते ही एक बैरा मेरे पास आया। वह मुझे ओवर-कोट उतारने में सहायता करने और मेरे आदेशानुसार सामान लाकर देने के लिए बिलकुल तैयार था, जिससे साफ-साफ पता चलता था कि उस सराय के बैरे मुस्तैदी से काम करने के आदी हो चुके हैं। जब मैंने पूछा कि मर्दुमशुमारीवाले कहाँ हैं तो जर्मन फैशन के कपड़े पहने हुए एक नाटे आदमी ने, जो दूकान की एक अलमारी में कुछ सजा रहा था, नौकर को आवाज दी। वह सराय का मालिक था। उसका नाम ईवान फ़िदोतिश था और वह कालूगा का एक किसान था। उसने ज़ीमिनी के आधे मकान को पट्टे पर लेकर कमरों को किराये-दारों को उठा रखा था। उसकी आवाज सुनते ही अट्ठारह वर्ष का एक दुबला-पतला, तोते-जैसी नाकवाला पीले रंग का नौकर दौड़ा हुआ आया। उसके आते ही नाटे आदमी ने कहा—"वान्या, इन साहब को मर्दुमशुमारीवालों के पास ले जाओ। वे लोग कुएं के ऊपरवाले बड़े मकान में हैं; जल्दी जाओ।"

लड़के ने अपना तौलिया उतारकर रख दिया और अपनी सफेद कमीज तथा सफेद पतलून[1] पर ओवरकोट डाट लिया। इसके अलावा उसने ऊंची बाढ़ की एक टोपी भी पहन ली और जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता हुआ वह मुझे पिछले दरवाजे से, जो अपने-आप बंद हो जाता था, ले गया। वहां के चिकनाई और दुर्गन्ध से परिपूर्ण रसोईघर के दालान में हमें एक बूढ़ी औरत मिली, जो एक चीथड़े में लपेटा हुआ लोमड़ी का बदबूदार मांस बहुत सम्हालकर ले जा रही थी। दालान से हम लोग ढालू आंगन में उतरे, जो चारों ओर से लकड़ी के मकान से घिरा हुआ था। इस मकान की नीचे की मंजिल ईंट की थी। आंगन में बहुत ही तेज बदबू थी, जो पाखाने में से आ रही थी। जब-जब मैं उधर से निकला मैंने पाखाने के चारों ओर लोगों की भीड़ ही देखी। सच पूछिए तो लोग पाखाने के भीतर जाकर निवृत्त नहीं होते थे। पाखाना तो एक ऐसे स्थान का संकेत मात्र था जिसके चारों तरफ बैठकर निपटने की लोगों में प्रथा-सी पड़ गई थी। आंगन से होकर जाते समय उस ओर बरबस ध्यान खिंच जाता था, क्योंकि उधर से आनेवाली दुर्गन्ध से परिपूर्ण तीखे वातावरण में जाते ही दम घुटने लगता था।

वान्या अपनी सफेद पतलून को बचाता हुआ मुझे सावधानी के साथ कूड़े के ढेर के ऊपर से निकालता हुआ एक मकान में ले गया। आंगन और गैलरियों में आने-जानेवाले लोग रुककर मुझे देखने लगे। स्पष्टतः उस हिस्से में साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए किसी आदमी का आना वहां के लोगों के लिए एक आश्चर्य की बात थी।

लड़के ने एक औरत से पूछा—"कुछ पता है कि मर्दुमशुमारी-वाले किधर हैं?" इसपर कई आदमी एकसाथ बोल उठे। कुछने कहा कि वे कुएं पर हैं और कुछने बताया कि वे वहां थे तो, लेकिन अब आगे चले गए हैं। एक बूढ़े आदमी ने बताया कि वे ३० नम्बर

---

[1] **जिस तरह की सराय की ऊपर चर्चा की गई है उसके बैरे सदा रूसी ढंग के सफेद सूती कोट और पतलून पहने रहते हैं।**

के मकान में हैं। वह आदमी केवल एक कमीज पहने हुए था और पाखाने के पास खड़ा हुआ अपने कपड़े ठीक कर रहा था। वान्या को उसकी बात सबसे सही मालूम पड़ी और वह निचली मंजिल के सायबान में से होकर मुझे ३० नम्बर के मकान की ओर अंधेरे में ले चला, जहां एक दूसरी ही तरह की दुर्गन्ध आ रही थी। निचले खंड पर उतरकर हम दोनों एक अंधेरे कच्चे गलियारे में से होकर चले। अभी हम उस गलियारे में ही थे कि एकाएक एक दरवाजा खुला और उसमें से शराब के नशे में झूमता हुआ एक बूढ़ा निकला। उसने सिर्फ कमीज पहन रखी थी और देखने में वह किसान नहीं मालूम पड़ता था। एक धोबिन आस्तीनें चढ़ाए साबुनभरे हाथों से उसे चिल्ला-चिल्लाकर बाहर ढकेल रही थी। मेरे पथप्रदर्शक वान्या ने उसे एक ओर हटाकर डांटते हुए कहा—"अफसर होकर इस तरह उत्पात मचाना ठीक नहीं।"

अब हम ३० नम्बर के मकान पर पहुँचे। वान्या ने दरवाजे को धक्का दिया तो वह तड़ाक से खुल गया और भीतर से साबुन की भाप, सड़े हुए भोजन तथा तमाखू की बड़ी तेज गंध आई। आगे गहन अंधकार था। खिड़कियां दूसरी ओर थीं और इस ओर दाएं-बाएं लकड़ी के तख्तों का गलियारा था, जिसमें भिन्न-भिन्न कोणों पर छोटे-छोटे दरवाजे लगे हुए थे। ये दरवाजे जिन कमरों में खुलते थे वे सफेदी से पुते हुए लकड़ी के पतले तख्तों से घेरकर बना दिये गए थे। बाईं ओर के एक अंधेरे कमरे में एक औरत नांद में कपड़े धो रही थी। दाहिनी ओर के एक छोटे दरवाजे से एक औरत झांक रही थी। एक दूसरे खुले द्वार के भीतर घने बालोंवाला एक लाल मुंह का किसान दिखाई दिया। वह चटाई के जूते पहने दीवार से लगे हुए एक तख्ते पर बैठा था। यही तख्ता उसके लिए पलंग का भी काम देता था। वह अपने दोनों हाथ घुटनों पर रखे हुए था और पैरों को हिलाता हुआ, उदास आंखों से चटाई के जूतों को निहार रहा था।

गलियारे के अन्त में एक छोटा-सा दरवाजा था। जिस कमरे में यह दरवाजा खुलता था उसीमें मर्दुमशुमारीवाले, बैठे काम कर रहे थे।

यह कमरा ३० नम्बर के मकान की मालकिन का कमरा था। उसने सारा-का-सारा मकान ईवान फ़िदोतिश से किराए पर ले रखा था और उसके कमरों को स्थायी किरायेदारों को या ऐसे लोगों को उठा रखा था जो वहां रात को आकर सोते भर थे।

इसी छोटे-से कमरे में, रांग के पत्तर से बनी हुई एक मूर्ति के नीचे एक विद्यार्थी मर्दुमशुमारी के कार्ड लिये बैठा था और कमीज और जाकट पहने हुए एक किसान से मजिस्ट्रेट की भाँति प्रश्न पूछ रहा था। किसान गृह-स्वामिनी का मित्र था और उसकी ओर से विद्यार्थी के प्रश्नों का उत्तर दे रहा था। वह बूढ़ी स्त्री भी वहीं बैठी थी और दो उत्सुक किरायेदार भी आ डटे थे। जब मैं कमरे में घुसा तब वह ठसाठस भरा हुआ था और मैं मुश्किल से भिचभिचाकर मेज के पास तक पहुँचा। विद्यार्थी ने मुझे नमस्कार किया और इसके बाद वह फिर प्रश्न पूछने में लग गया। मैं भी अपने उद्देश्य को दृष्टि में रखकर वहांके रहनेवाले किरायेदारों का अध्ययन करने लगा और बीच-बीच में उनसे आवश्यक पूछताछ भी करता रहा।

किन्तु संयोगवश इस पहले मकान में मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जिसपर मैं अपनी परोपकारिता दरसा सकता। यों तो अपने आलीशान मकान की तुलना में मुझे वह घर दरिद्रतापूर्ण, छोटा और गन्दा प्रतीत हुआ; लेकिन उसकी मालकिन शहरी गरीबों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न थी और गांवों की गरीबी की तुलना में तो, मैं यह कह सकता हूँ कि, वह शान के साथ रह रही थी। उसके पास परोंवाला बिछौना, रुई की रजाई, एक समोवर, एक गरमकोट और चीनी के बर्तनों से भरी एक आलमारी थी। उसका मित्र भी देखने में वैसा ही सुसम्पन्न मालूम होता था। उसके पास तो एक घड़ी और चेन भी थी।

किरायेदार निस्सन्देह निर्धन थे; किन्तु उनमें से किसीको भी तत्काल सहायता की आवश्यकता नहीं थी। केवल तीन आदमियों ने सहायता के लिए प्रार्थना की; एक तो नांद में कपड़े धोनेवाली स्त्री ने, जिसे उसके पति ने छोड़ दिया था और जिसे अपने बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ता था; दूसरे, एक बुढ़िया विधवा ने जिसने बतलाया कि

उसे रोटी-पानी का कोई सहारा नहीं है और तीसरे, चटाई का जूता पहने हुए किसान ने जिसने बताया कि उस दिन उसे खाने को अन्न का एक दाना भी मयस्सर नहीं हुआ। किन्तु पूछताछ करने पर पता चला कि इनमें से एक को भी सहायता की विशेष आवश्यकता नहीं थी और उनकी सहायता करने के लिए यह आवश्यक था कि उनके संबंध में ठीक से जानकारी प्राप्त कर ली जाय।

जिस स्त्री का पति छोड़कर चला गया था उसके बच्चों को जब मैंने बाल-आश्रम में भरती करा देने का प्रस्ताव किया तब वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सी हो गई, उसने कुछ विचार किया और मुझे बहुत-बहुत धन्यवाद भी दिया; किन्तु यह बात बिलकुल स्पष्ट थी कि वह इस प्रकार की सहायता नहीं चाहती थी और रुपए-पैसे की मदद ही उसे अधिक प्रिय हो सकती थी। उसकी बड़ी लड़की कपड़े धोने में उसका हाथ बंटाया करती थी और छोटी लड़की बच्चे की देखभाल किया करती थी। हां, बुढ़िया ने अलबत्ता गिड़गिड़ाकर अनाथालय में भरती किये जाने की प्रार्थना की; परन्तु जब मैंने उसके रहने के कमरे को देखा तो मुझे पता चला कि वह सर्वथा दरिद्र नहीं है। उसके पास सामान से भरा हुआ एक छोटा-सा ट्रंक था। इसके अलावा उसके पास टीन की टोंटीवाली एक चायदानी, दो प्याले और कुछ मिठाई के डिब्बे थे जिनमें अब चाय और चीनी रखी थी। वह मोजे और दस्ताने बुना करती थी और एक दयालु महिला से उसे कुछ मासिक सहायता भी मिलती थी। जहांतक किसान का सवाल था, उसे खाने को नहीं वल्कि पीने के लिए कुछ चाहिए था; और इसमें सन्देह नहीं कि उसे जो-कुछ दिया जाता वह कलाल की सन्दूकची में ही पहुँच जाता।

इस प्रकार मैंने देखा कि उस मकान में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसे मैं रुपया देकर सुखी बना सकता था, यद्यपि मैंने कल्पना की थी कि वहां इस प्रकार के लोगों की बहुलता होगी। मुझे वहां के प्रत्येक व्यक्ति की निर्धनता संदिग्ध मालूम पड़ी।

मैंने बुढ़िया, बच्चोंवाली स्त्री और किसान का नाम नोट कर लिया और निश्चय किया कि विशेष अभागों की सहायता कर लेने के बाद

(जिनकी मुझे उस मकान में मिलने की आशा थी) इनके लिए कुछ-न-कुछ अवश्य करना होगा। मैंने यह भी निश्चय किया कि जो सहायता दी जाय उसका कोई निश्चित क्रम हो; अर्थात् पहले उन लोगों को सहायता दी जाय जो सबसे अधिक दुखी हैं और बाद में उन लोगों को जिनके नाम मैंने नोट किये थे।

किन्तु मैं जहां-जहां भी गया वहां-वहां मैंने ऐसी ही स्थिति देखी। सब लोग एक ही प्रकार के थे—ऐसे लोग जिन्हें सहायता देने से पहले उनकी स्थिति का अधिक ध्यानपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक था। मुझे एक भी ऐसा दुखिया नहीं मिला जिसे केवल आर्थिक सहायता देकर सुखी बनाया जा सकता था। यह स्वीकार करते हुए मुझे लज्जा आती है कि उन मकानों में मैंने जिस प्रकार के पीड़ितों को देखने की आशा की थी वैसे लोगों को वहां न पाकर मुझे निराशा होने लगी। मैंने सोचा था कि मुझे वहां बिलकुल ही असाधारण व्यक्ति मिलेंगे; किंतु सारे मकानों में चक्कर लगा चुकने के बाद मुझे विश्वास हो गया कि वहां के रहनेवालों में कोई विशेषता नहीं थी; वे भी वैसे ही थे जैसे हमारे आसपास के लोग होते हैं। हमारी ही तरह उनमें भी भले, बुरे, सुखी और दुखी सब तरह के लोग थे—कुछ ज्यादा और कुछ कम—और जो लोग दुखी थे वे बिलकुल वैसे ही दुखी थे जैसे हमारे बीच होते हैं। उनका दुख किन्हीं बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं था; बल्कि वे स्वयं अपने दुःख का कारण थे और उनकी दुर्दशा को रुपयों से दूर करना असम्भव था।

: ६ :

तो यह सब भ्रम था !

इन मकानों में शहर की सबसे निम्न श्रेणी के लोग रहते थे, जिनकी संख्या मास्को में शायद एक लाख से कुछ ऊपर होगी। ३० नम्बर के मकान में तो इस श्रेणी के सभी तरह के लोग थे—छोटे व्यापारी,

कारीगर, चमार, ब्रुश बनानेवाले, बढ़ई, फर्नीचर बनानेवाले, मोची, दर्जी, लुहार, गाड़ीवान, स्वतंत्र धंधा करनेवाले, दूकान करनेवाली औरतें, धोबिनें, पुराने कपड़ों का धंधा करनेवाले, छोटे-छोटे महाजन, मजदूर, बिना कोई निश्चित पेशेवाले लोग, भिखारी और वेश्याएं।

ल्यापिन अनाथालय के दरवाजे पर मैंने जिन लोगों को देखा था उन्हींमें से बहुत-से स्त्री-पुरुष इस मकान में मौजूद थे; किंतु यहां वे मजदूरों में घुलमिल गए थे। इसके अतिरिक्त पहले तो मैंने उन्हें उनकी दीनतम अवस्था में देखा था, जबकि उन्होंने अपने पास की कौड़ी-कौड़ी खाने-पीने में उड़ा दी थी और सरायों से निकाल दिये जाने के कारण वे निःशुल्क रात्रि-गृह में प्रवेश पाने के लिए इस प्रकार नंगे और ठिठुरते हुए प्रतीक्षा कर रहे थे जिस प्रकार कोई देवता के प्रसाद की करता है। उस समय उन्हें इस बात की आशा थी कि वे रात्रि-गृह से जेल भेज दिये जायंगे और फिर पुलिस के पहरे में अपने-अपने गांव वापस पहुंचा दिये जायंगे। इसके विपरीत, यहां मैंने देखा कि वे बहुत-से मजदूरों के साथ हिलमिलकर रह रहे हैं और अपनी-अपनी कोठरी का किराया देने के लिए उन्होंने किसी-न-किसी तरह चार-पांच कोपेक प्राप्त कर लिये हैं और शायद खाने-पीने के लिए उनकी जेब में कुछ रूबल भी हैं।

बात तो कुछ अजीब-सी है; लेकिन मैं सच कहता हूं कि ३० नम्बर के लोगों को देखकर मेरे मन में वैसी भावना नहीं उठी जैसी ल्यापिन-अनाथालय में उठी थी। इसके विपरीत, पहले चक्कर के बाद ही मुझे और मेरे साथ काम करनेवाले विद्यार्थियों को एक 'सुख की-सी' अनुभूति हुई। 'सुख की-सी' ही क्यों? ऐसा कहना तो गलत होगा। मैं समझता हूं कि 'बहुत सुखकर' कहना ज्यादा सही होगा।

३० नम्बर के मकान में रहनेवालों को देखकर मेरे मन पर जो पहली छाप पड़ी वह यह थी कि उनमें से अधिकांश श्रमजीवी हैं और उनका स्वभाव बहुत अच्छा है। अधिकतर लोग अपने-अपने काम में लगे हुए थे—धोबिनें अपनी नांदों पर, बढ़ई अपनी बेंचों पर और मोची अपने स्टूलों पर। तंग कमरे लोगों से भरे हुए थे और उनमें

हँसी-खुशी और फुर्ती के साथ काम हो रहा था। मजदूरों के पास पसीने की, मोचियों के पास चमड़े की और बढ़इयों के पास लकड़ी के छोल की दुर्गन्ध आ रही थी। रह-रहकर गाने की आवाज आती थी और नंगी बलवान् भुजाएं तेजी व कुशलता के साथ खटाखट काम करती दिखाई देती थीं। हम जहां भी गये लोगों ने हमारा प्रसन्नता और सहृदयता के साथ स्वागत किया। इतना ही नहीं, हमने देखा कि हमारे जाने के कारण जिन लोगों की दैनिक दिनचर्या में बाधा पड़ी उनमें मिथ्याडम्बर या रूखे-सूखे उत्तर देने की वह भावना उत्पन्न नहीं हुई जोकि अधिकांश धनी परिवारों में मर्दुमशुमारीवालों के आने पर हो जाती है। इसके विपरीत, इन लोगों ने हमारे प्रश्नों को कोई विशेष महत्त्व न देते हुए उचित रूप से उत्तर दिये। सच पूछिए तो उन्हें यह देखने में बड़ा मजा आया कि मर्दुमशुमारी का फार्म किस तरह भरा जाता है, किस एक मनुष्य को दो के बराबर और किन दो मनुष्यों को एक के बराबर माना जाता है; इत्यादि।

बहुतों को हमने भोजन करते या चाय पीते पाया और जब हमने 'रोटी और नमक' या 'चाय और चीनी'[1] कहकर उन्हें नमस्कार किया तो प्रायः सभीने यही उत्तर दिया—"आइये आप भी हमारा साथ दीजिए"। और कुछने तो खिसककर हमारे बैठने के लिए जगह भी खाली कर दी। हम समझते थे कि यह मकान सिर्फ खानाबदोशों का डेरा होगा; लेकिन यहां हमें कितने ही ऐसे कमरे मिले जिनमें किरायेदार बहुत दिनों से रहते चले आ रहे थे। एक बढ़ई अपने कारीगरों के साथ और एक मोची अपने सहकारियों के साथ यहां दस वर्ष से रह रहा था। मोची की कोठरी बड़ी गंदी थी और वह सामान तथा आदमियों से अटी पड़ी थी, फिर भी वहां जितने लोग काम कर रहे थे वे सबके सब खुश थे। उनमें से एक मजदूर से मैंने यह सोचकर बातचीत की कि वह अपनी दुर्दशा का बखान करेगा और बतलायगा

---

[1] **रूस में भोजन करते समय ग्रामीणों से ऐसे ही नमस्कार करने की प्रथा है।**

कि मालिक का कर्जदार होने के कारण उसे कैसी-कैसी मुसीबतें झेलनी पड़ रही हैं; किंतु मेरी बातें उसकी समझ में नहीं आईं और उसने अपने स्वामी तथा अपने जीवन दोनों के प्रति संतोष प्रकट किया।

एक कोठरी में एक बूढ़ा आदमी अपनी बूढ़ी स्त्री के साथ रहता था। वे दोनों सेव बेचा करते थे। सामान से भरी रहने पर भी उनकी कोठरी गरम और साफ थी। फर्श पर पुआल के बोरे बिछे थे, जो वे सेव के थोक व्यापारियों के यहां से लाये थे। कोठरी में ट्रंक, आलमारियां, एक समोवर और चीनी के बर्तन थे। एक कोने में कितनी ही मूर्तियां थीं जिनके ऊपर दो छोटे-छोटे लैम्प जल रहे थे। दीवार पर चादर में लिपटे हुए गरम ओवरकोट लटक रहे थे। बुढ़िया के चेहरे पर तारे की शक्ल की झुर्रियां पड़ी हुई थीं। वह सहृदय और बातूनी थी और अपने शांत व्यवस्थित जीवन से संतुष्ट दिखलाई देती थी।

सराय और इन कोठरियों का मालिक ईवान फ़िदोतिश सराय से उठकर आया और हमारे साथ हो लिया। उसने कितने ही किरायेदारों के साथ विनोदपूर्वक बातें कीं, घनिष्ठता से उनका नाम लेकर पुकारा और हमको हरेक का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त भी सुनाया। वे सब साधारण श्रेणी के लोग थे; पर अपनेको अभागा न समझकर दूसरों के समान ही समझते थे और वस्तुतः वे थे भी ऐसे ही।

हम लोग इस बात के लिये तैयार होकर आये थे कि यहां हमें केवल दयनीय और घृणित दृश्य दिखाई देंगे, किन्तु आशा के विपरीत कुछ ऐसी अच्छी चीजें देखने को मिलीं जिनके प्रति हमारे मन में अनायास ही आदर की भावना जागृत हो गई। भले आदमियों की संख्या यहां इतनी अधिक थी कि उनके बीच यहां-वहां जीर्ण-शीर्ण, पतित और काहिल व्यक्तियों के रहने पर भी हमारे हृदय पर वहां की स्थिति के सम्बन्ध में जो छाप लग चुकी थी वह मिट नहीं पाई।

इन बातों का जितना प्रभाव मुझपर पड़ा उतना विद्यार्थियों पर नहीं। वे तो वहां एक ऐसा कार्य करने आये थे जिसका उनकी दृष्टि में वैज्ञानिक मूल्य था; वे तो बस बीच-बीच में योंही चलते-फिरते कुछ टीका-टिप्पणी

कर लेते थे। परंतु एक परोपकारी होने के नाते मैं उन अभागे, मरणोन्मुख और पतित व्यक्तियों की सहायता करने आया था, जिनके वहां मिलने की मुझे आशा थी। लेकिन ऐसे लोगों की बजाय मुझे वहां अधिकतः शांत, संतुष्ट, प्रसन्न, सहृदय और अत्यन्त परिश्रमी लोग ही मिले।

इसका पूरा-पूरा अनुभव मुझे तब हुआ जब इन मकानों में मुझे सचमुच ही कुछ ऐसे दीन-हीन लोग मिले जैसों की मैं सहायता करना चाहता था। किन्तु जब-जब मुझे ऐसे लोगों का पता लगा तभी-तभी यह भी मालूम हुआ कि इनकी आवश्यकताएँ पहले ही पूर्ण की जा चुकी हैं और जो सहायता मैं देना चाहता हूँ वह मेरे आने से पूर्व ही इन्हें प्राप्त हो चुकी हैं। जानते हैं, यह सहायता किसने दी थी? उन्हीं अभागों और पतितों ने जिनका मैं उद्धार करने चला था! इतना ही नहीं, यह सहायता उन्हें जितने अच्छे ढंग से दी गई थी, उतने अच्छे ढंग से मैं नहीं दे सकता था।

तहखाने की एक कोठरी में एक बूढ़ा टाइफस-ज्वर से पीड़ित अकेला पड़ा था। उसका अपना कोई सगा-सम्बन्धी नहीं था। एक विधवा पड़ोसिन, जो उसी कोठरी के एक दूसरे कोने में रहती थी और जिसके एक छोटी-सी लड़की थी, उस वृद्ध से बिलकुल अपरिचित होती हुई भी उसकी देख-भाल कर रही थी। वह उसे अपने पास से चाय पिलाती और अपने ही पैसे से उसके लिए दवा लाती। एक दूसरे कमरे में एक स्त्री प्रसूति-ज्वर से पीड़ित थी और उसके बच्चे को वेश्यावृत्तिवाली एक शहरी स्त्री खेला रही थी। चीथड़े को लपेटकर उसने उसके लिए चुसनी तैयार कर ली थी और दो दिन से वह अपने पेशे पर नहीं गई थी। इसी तरह एक दर्जी ने, जिसके अपने तीन बच्चे थे, एक अनाथ लड़की को आश्रय दे रखा था।

अब रहे वहां के अभागे काहिल—जैसे कारकुन, नकलनवीस, बेकार चपरासी, भिखारी, शराबी, वेश्याएँ और बालक। इन्हें तत्काल सहायता देना असम्भव था। यह आवश्यक था कि इनके विषय में पूरी पड़ताल की जाय और फिर इनकी स्थिति पर विचार कर इन्हें काम पर लगाया जाय। मैं ऐसे दीन-दुखियों की तलाश में था जिनकी दुर्दशा का

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA H.000130
BANGALORE-1.

कारण दरिद्रता हो और जिन्हें हम अपने फालतू धन का कुछ अंश देकर सहायता पहुँचा सकें; परन्तु दुर्भाग्यवश—मैं तो इसे दुर्भाग्य ही समझता था—मुझे वहां एक भी ऐसा आदमी नहीं मिला। मुझे तो केवल ऐसे दुखिये मिले जिनके संबंध में अधिक समय और सावधानी की आवश्यकता थी।

: ७ :

कुलीन कंगाल

जिन अभागों के नाम मैंने नोट किये थे वे मेरी समझ में स्वभावतः तीन श्रेणियों में बांटे जा सकते थे। पहली श्रेणी उन लोगों की थी जो अपनी अच्छी नौकरियाँ खो बैठे थे और उन्हें फिर से प्राप्त करने की प्रतीक्षा में थे। इस श्रेणी में उच्च और निम्न दोनों वर्गों के लोग थे। दूसरी श्रेणी वेश्याओं की थी जिनकी बहुलता थी और तीसरी श्रेणी बच्चों की थी। मुझे सबसे अधिक पहली श्रेणी के ही लोग मिले और उनके नाम मैंने अपनी नोटबुक में लिख लिये। इस श्रेणी के लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। सरकारी कर्मचारी और सम्भ्रान्त घरानेवाले तो विशेष रूप से अधिक थे। ईवान फ्रिदोतिश के साथ हम जिस-जिस कमरे में गये, प्रायः सभी जगह उसने हमसे यही कहा—"यहां आपको किरायेदारों की सूची स्वयं नहीं भरनी पड़ेगी। यहां फलां आदमी है जो यह काम कर सकता है, बशर्ते कि उसने आज पी न रखी हो।"

यह कहने के बाद ईवान फ़िदोतिश उस आदमी का नाम लेकर पुकारता और फिर मकान के किसी अँधेरे कोने से अर्द्धनग्न अवस्था में और प्रायः पिये हुए ही कोई ऐसा आदमी निकलता जो पहले या तो धनवान था या किसी अच्छे पद का सरकारी कर्मचारी। यदि वह पिये हुए न होता तो सहर्ष काम करने को तैयार हो जाता। अपनी महत्ता का अनुभव करते हुए वह गर्वपूर्वक सिर हिलाकर स्वीकृति की सूचना देता और भौंहें सिकोड़कर बातचीत में विद्वत्तापूर्ण शब्दों का प्रयोग करता। अपने कांपते हुए गंदे हाथों में मर्दुमशुमारी के छपे हुए साफ लाल कार्ड को सावधानी

से पकड़ते हुए वह अपने साथ रहनेवालों की ओर गर्व और घृणा की दृष्टि से देखता, मानो जो लोग अक्सर उसका अनादर किया करते थे उनपर उसे अपनी उच्च शिक्षा के प्रताप से विजय मिल गई हो। यह साफ मालूम पड़ता था कि जिस दुनिया में लाल कार्ड छपते हैं और जिसमें पहले वह स्वयं रह चुका था, उसके सम्पर्क में आकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई है। जब कभी मैं उससे उसके जीवन के विषय में कोई प्रश्न पूछता तो वह केवल तत्परता नहीं बल्कि उत्साह के साथ अपनी विपदाओं की कथा सुनाने लगता, मानो वह कथा उसे भजन की तरह कंठाग्र हो गई हो। विशेषरूप से वह अपने उस पूर्व पद का उल्लेख करता जो वह समझता था कि उसकी शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता के कारण उसे ही मिलना चाहिए।

रज़्हानोफ़-भवन के कोने-कोने में इसी तरह के लोग बहुत बड़ी संख्या में फैले पड़े थे। एक खंड तो पूरा-का-पूरा ऐसे ही स्त्री-पुरुषों से भरा हुआ था। जब हम वहाँ पहुँचे तो ईवान फ़िदोतिश ने कहा—"देखिए, यहां कुलीन लोग रहते हैं।" वह खंड बिलकुल भरा हुआ था और उस समय प्रायः सभी किरायेदार, जिनकी संख्या लगभग चालीस के थी, अपने-अपने कमरे में ही थे। सारे रज़्हानोफ़-भवन में इनसे अधिक पतित और दुखी और कोई नहीं था। बूढ़ों के शरीर पर झुरियां पड़ी हुई थीं और युवक रूखे तथा पीले दिखाई पड़ते थे। मैंने उनमें से कुछ लोगों से बातचीत की। सबकी लगभग एक-सी कहानी थी। अंतर केवल विकास-क्रम में था, अर्थात किसीकी कहानी बहुत आगे बढ़ चुकी थी और किसीकी अभी आरम्भ ही हुई थी।

ये सब-के-सब या तो कभी स्वयं धनवान थे या इनके बाप, भाई, चाचा, ताऊ पर कभी लक्ष्मी की कृपा थी। इसी तरह कभी या तो ये स्वयं या इनके पिता किसी अच्छे पद पर प्रतिष्ठित थे। बाद में ये किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति, या अपने ही अदूरदर्शितापूर्ण सरल स्वभाव, या किसी आकस्मिक घटना के कारण विपत्ति में फंस गए और अब सर्वस्व गंवा चुकने पर इन्हें इस प्रकार अनुपयुक्त तथा घृणास्पद वातावरण में शराबियों और दुराचारियों के बीच गंदे चीथड़े पहनकर रहना पड़ रहा था। इतना ही नहीं, इन्हें बैल के मांस और रोटी से पेट पालकर भिक्षा के लिए भी हाथ

फैलाना पड़ता था। इन लोगों की सारी भावनाएं, सारी इच्छाएं, सारी स्मृतियां अतीत में ही निहित थीं। वर्त्तमान इन्हें अस्वाभाविक, घृणास्पद और उपेक्षणीय मालूम होता था। सच पूछिए तो इनका कोई वर्तमान था ही नहीं। इनके पास थीं केवल अतीत की स्मृतियां और भविष्य की आशाएँ, जो उनकी समझ में किसी समय भी पूर्ण हो सकती थीं और जिनकी पूर्त्ति के लिए बहुत ही कम प्रयास की आवश्यकता थी। किन्तु यह अल्प प्रयास भी उनकी क्षमता से बाहर था, इसलिए उनका जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो रहा था। इस दुर्दशा में रहते-रहते किसीको एक, किसीको पाँच और किसीको तीस वर्ष हो गए थे। उनमें से किसी एक की तो धारणा यह थी कि उसे बस अच्छी पोशाक भर की कमी है, वह अगर मिल जाय तो उसे पहनकर वह एक ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति से मिलने चला जाय जो उसपर कृपा करने के लिए तैयार था। किसी दूसरे को केवल इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती थी कि उसे पहनने को कपड़े मिल जायं और वह अपना थोड़ा बहुत कर्ज उतारकर ओरेल नगर चला जाय। इसी तरह कोई तीसरा केवल यह चाहता था कि उसकी गिरवी रखी हुई चीजें छूट जायं और उसे थोड़े-से रुपए मिल जायं ताकि उनकी सहायता से वह अपना वह मुकदमा लड़ सके जिसमें उसकी जीत निश्चित थी और जिसके बाद उसकी स्थिति फिर अच्छी हो सकती थी। सब यही कहते थे कि यदि थोड़ी-सी बाहरी सहायता मिल जाय तो वे उस स्थिति को पुनः प्राप्त कर लेंगे जिसे वे अपने लिए स्वाभाविक और सुखकर समझते थे।

यदि दानवीरता के मद ने मेरी आंखों पर परदा न डाल दिया होता तो मैं इन साधारणतः दुर्बल और विलासी किन्तु अच्छे स्वभाववाले वृद्धों और तरुणों के मुखों की ओर थोड़ा-सा देखकर ही समझ जाता कि इनकी दुर्दशा बाहरी युक्तियों द्वारा दूर नहीं की जा सकती और जबतक इनके जीवन-सम्बन्धी विचारों में परिवर्त्तन नहीं किया जायगा तबतक ये किसी अवस्था में भी सुखी नहीं रह सकेंगे। साथ-ही-साथ यह भी समझ जाता कि दुर्भाग्य का पहाड़ विशेष रूप से इन्हींके ऊपर नहीं टूटा है, बल्कि ये भी वैसे ही व्यक्ति हैं जैसे हमारे चारों तरफ रहते हैं या जैसे हम स्वयं हैं।

मुझे याद है कि इस प्रकार के दुखियों के संसर्ग में आना मुझे विशेष रूप से कष्टकर मालूम होता था और अब मैं समझ गया हूं कि ऐसा क्यों होता था। शीशे की तरह उनके अंदर मुझे अपना ही रूप दिखाई देता था। यदि मैंने स्वयं अपने और अपनी श्रेणी के लोगों के जीवन पर विचार किया होता तो मुझे पता चल जाता कि हममें और इनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

आज यदि मेरे आसपास के लोग रज़्हानोफ़-भवन में न रहकर अच्छी-से-अच्छी सड़कों पर बड़े-बड़े कमरों और मकानों में रहते हैं और यदि वे साधारण मांस-रोटी के बदले स्वादिष्ट भोजन और पान करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे अभागे नहीं हैं। वे लोग भी अपनी स्थिति से असंतुष्ट हैं, वे लोग भी अतीत के लिए आँसू बहाते हैं और सुन्दर भविष्य का सपना देखते हैं। अपने लिए वे भी वैसे ही उत्तमतर पद चाहते हैं जैसे रज़्हानोफ़-भवन के निवासी चाहते हैं, अर्थात् वे भी ऐसा ही पद चाहते हैं जिसपर रहकर उन्हें स्वयं तो कम काम करना पड़े और दूसरों से वे अपने लिए अधिक काम करा सकें। भेद केवल मात्रा का है।

यदि मैंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया होता तो यह बात मेरी समझ में उसी समय आ गई होती; किन्तु ऐसा करने के बजाय मैंने उन दुखियों से केवल प्रश्न पूछे और उनके नाम नोट कर लिये, ताकि उनकी स्थिति और आवश्यकताओं का पूरा पता लगाकर बाद में मैं उनकी सहायता कर सकूँ। उस समय यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि ऐसे लोगों की सहायता केवल उनके जीवन-संबंधी दृष्टिकोण में परिवर्तन करके ही की जा सकती है और किसी दूसरे के जीवन-सम्बंधी दृष्टिकोण को बदलने के लिए यह आवश्यक है कि स्वयं हमारे जीवन का दृष्टिकोण उनकी अपेक्षा ऊंचा हो और उसी दृष्टिकोण के अनुसार हम जीवन-निर्वाह भी करें। किन्तु मैंने देखा कि जिस दृष्टिकोण को सामने रखकर मैं जीवन-यापन कर रहा था, स्वयं उसमें ही परिवर्तन की आवश्यकता थी और उसे बदलने के बाद ही दूसरों को उनके दुर्भाग्य से मुक्त किया जा सकता था।

यदि मैं लाक्षणिक भाषा का प्रयोग करूं तो कह सकता हूं कि उस समय मुझे यह पता नहीं चला कि जिन अभागों को मैंने देखा था

उनके दुःख का कारण यह नहीं है कि उन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिलता; बल्कि यह कि उनकी पाचन-शक्ति में विकार उत्पन्न हो गया है और वे जिस भोजन की मांग कर रहे हैं वह पुष्टिकर नहीं, बल्कि केवल भूख को उत्तेजित करनेवाला है। मेरी समझ में यह बात नहीं आई कि उनको भोजन की नहीं, बल्कि पाचन-विकार को दूर करने वाली औषधि की आवश्यकता है। वैसे तो यह बात आगे आयगी, फिर भी यहाँ इतना तो बता ही दूं कि मैंने जितने भी लोगों के नाम लिखे थे उनमें से एक की भी मैंने वास्तविक सहायता नहीं की, हालांकि उन लोगों ने जो-कुछ मांगा—और जिसके मिल जाने से ऐसा लगता था कि वे स्वयं अपने पैरों पर खड़े हो जायंगे—वह उनमें से कुछ को मिल गया। इनमें से तीन को तो मैं विशेष रूप से अच्छी तरह जानता हूँ। बार-बार सहायता देने पर भी इन तीनों की आज भी वही दशा है जो तीन वर्ष पहले थी।

: ८ :

बेचारी वेश्याएं

अभागों की दूसरी श्रेणी में वेश्याएं थीं। मुझे आशा थी कि बाद में मैं इनकी भी सहायता कर सकूंगा। रज्हानोफ़-भवन में इनकी भरमार थी और ये हर तरह की थीं—युवावस्था में ही प्रौढ़ा-सी दिखाई देनेवाली लड़कियों से लेकर उन भयंकर कुरूपा बुढ़ियों तक जिनमें मनुष्य होने का कोई लक्षण ही शेष नहीं रह गया था। पहले इनकी ओर मैंने ध्यान नहीं दिया था; किन्तु निम्नलिखित घटना ने मेरे हृदय में यह आशा उत्पन्न कर दी कि कदाचित् मैं इनकी कुछ सहायता कर सकूँ।

यह घटना रज्हानोफ़-भवन का चक्कर लगाते समय घटी। उस समय तक हम अपने काम की एक नियमित योजना बना चुके थे।

हर नए मकान में घुसते ही हम पहले उसके मालिक के बारे में पूछते थे। इसके बाद हममें से एक आदमी लिखने के लिए जगह

साफ कर बैठ जाता था और दूसरा आदमी मकान के एक कोने से दूसरे कोने तक जाकर प्रत्येक व्यक्ति से अलग-अलग प्रश्न पूछता था और फिर आकर सारी बातें लेखक को बता देता था।

इस तरह काम करते हुए जब हम सबसे नीचे के खंड के एक कमरे में पहुँचे तब एक विद्यार्थी मालिक का पता लगाने चला गया और मैं उस कमरे के रहनेवालों से बातचीत करने लगा। वहां रहने की व्यवस्था इस प्रकार की गई थी—उस चौदह वर्गफुट चौकोर कमरे के बीचोंबीच एक ईंट की अंगीठी बनी हुई थी। इस अंगीठी के पास से चार परदे एक सितारे के रूप में खिंचे हुए थे, जिनसे कमरे के चार अलग-अलग खंड बन गए थे। पहले खंड में से रास्ता था। उसमें चार खाटें पड़ी थीं और वहां एक बूढ़ा एक औरत के साथ बैठा था। वहां से एक लम्बा-सा खंड सीधा चला गया था, जिसमें मकान-मालिक रहता था। यह मकान-मालिक एक नवयुवक था, जिसका रंग बहुत पीला पड़ गया था और जिसने एक सम्भ्रांत पुरुष की भांति भूरे रंग का कोट पहन रखा था। पहले खंड की बाईं ओर एक और खंड था, जिसमें एक आदमी सोया हुआ था (शायद वह पिये हुए था)। उसके पास ही एक औरत बैठी हुई थी, जिसकी गुलाबी रंग की ब्लाउज आगे से ढीली और पीछे से कसी हुई थी। चौथा खंड परदे के पीछे था और उसका रास्ता मकान-मालिक के खंड से होकर था।

विद्यार्थी मकान-मालिक के खंड में चला गया और मैं पहले में रुककर बूढ़े आदमी और स्त्री से बातें करने लगा। बूढ़ा पहले छपाई का काम करता या; लेकिन अब उसके पास पेट पालने का कोई साधन नहीं रह गया था। स्त्री किसी बावर्ची की पत्नी थी।

तीसरे खंड में जाकर मैंने ब्लाउज़ पहने हुए औरत से सोनेवाले आदमी के बारे में पूछा। उसने बतलाया कि यह एक आगंतुक है। इसपर मैंने उससे सवाल किया—"तुम कौन हो ?"

"मैं मास्को की रहनेवाली एक किसान स्त्री हूं;" उत्तर मिला।

"तुम्हारा पेशा क्या है ?" मैंने फिर पूछा।

इसपर वह हँस दी और बोली नहीं। यह सोचकर कि शायद वह मेरा सवाल समझी नहीं, मैंने फिर प्रश्न किया—"तुम्हारा गुजारा किस तरह होता है ?"

"मैं सराय में बैठती हूं," वह बोली।

मैं उसकी बात नहीं समझा और बोला "तुम्हारी रोटी का क्या सहारा है ?"

वह फिर कोई उत्तर दिये बिना ही हँस दी। चौथे खंड से भी, जहां हम अभी तक नहीं गये थे, औरतों के हँसने की आवाज आई।

मकान-मालिक अपनी कोठरी से बाहर आकर हमारे पास खड़ा हो गया। स्पष्टतः उसने मेरे प्रश्न और स्त्री के उत्तर सुन लिये थे। उसने स्त्री की ओर घूरकर देखा और फिर मुझे सम्बोधित करते हुए कहा--"यह वेश्या है।" साफ मालूम पड़ता था कि मन-ही-मन उसे इस बात की खुशी हो रही थी कि वह सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्रयोग में लाये जानेवाले 'वेश्या' शब्द को जानता है और उसका ठीक से उच्चारण भी कर सकता है। इस बात को कहते-कहते उसके होठों पर अभिमानपूर्ण संतोष की एक अदृश्य-सी मुसकान खेल गई। इसके बाद वह उस स्त्री की ओर घूमा और जैसे ही उसने उससे बोलना आरम्भ किया उसके सारे मुख की मुद्रा बदल गई। एक विचित्र घृणासूचक स्वर में—जैसे कोई कुत्ते को दुतकारता है—वह उस स्त्री की ओर बिना देखे ही जल्दी-जल्दी बोला—"सराय में बैठती हूं ! अरी, अगर सराय में बैठती है तो साफ-साफ कहती क्यों नहीं कि वेश्या है ?" उसने इस शब्द का एक बार फिर प्रयोग किया और मुझसे कहा—"देखिए न, इसे यही पता नहीं कि अपने को क्या कहे।"

उसकी बातचीत के ढंग पर मुझे बड़ा क्रोध आया और मैं बोला—"इसे लज्जित करने का हमें कोई अधिकार नहीं। अगर हम सब सदाचार के साथ जीवन बितावें तो कोई वेश्या हो ही नहीं।"

"हां, इसका यही उपाय है।"--मकान-मालिक ने कृत्रिम हँसी हँसते हुए कहा।

"हमारा काम इन्हें धिक्कारना नहीं, बल्कि इनपर दया करना है। इसमें इनका क्या अपराध ?"

मुझे याद नहीं कि उस समय मैंने क्या-क्या कह डाला; किन्तु इतना जानता हूं कि स्त्रियों से भरे हुए उस मकान के नवयुवक मालिक के प्रति, उन स्त्रियों को वेश्या कहकर घृणासूचक स्वर में बातचीत करने के कारण, मेरे मन में विद्रोह की आग भड़क उठी और उन स्त्रियों के लिए मुझे बड़ी ग्लानि हुई। अपनी यह भावना मैंने वहीं व्यक्त भी कर दी और अभी मेरी बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि जिस खंड से पहले हँसी की आवाज आई थी वहाँ चारपाई का काम देनेवाले तख्तों की चरचराहट सुनाई दी और परदे के ऊपर (जो छत तक ऊँचा नहीं था) चमकते हुए लाल चेहरेवाली एक स्त्री के बिखरे हुए घुंघराले बाल और सजी हुई छोटी-छोटी आंखें दिखाई दीं। उनके क्षण भर बाद ही एक दूसरी और फिर तीसरी स्त्री का सिर दिखाई पड़ा। साफ मालूम पड़ता था कि तीनों जनीं अपनी चारपाइयों पर खड़ी हो गई हैं और गर्दन उचकाए चुपचाप सांस रोककर हमारी ओर ध्यानपूर्वक देख रही हैं।

कुछ देर के लिए भद्दा सन्नाटा छाया रहा। विद्यार्थी, जो अबतक मुसकरा रहा था, गम्भीर हो गया। मकान-मालिक ने लज्जित होकर आंखें नीची करलीं और औरतें सांस खींचे मेरा मुँह ताकती रहीं। मुझे अपने तईं उनसे भी अधिक लज्जा मालूम हुई। मैंने यह रत्ती भर भी आशा नहीं की थी कि मेरी साधारण-सी बात का उनपर इतना प्रभाव पड़ेगा। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे किसी देवात्मा के स्पर्श से श्मशान में बिखरी हुई हड्डियों में चेतना आ गई हो और वे हिलने-डुलने लगी हों। मेरे मुँह से तो ऐसे ही संयोगवश प्रेम और सहानुभूति का एक शब्द निकल गया था किंतु उनपर उसका ऐसा प्रभाव पड़ा मानों उनके मृत शरीर पुनर्जीवित होने के लिए उसी शब्द की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे मेरी ओर उत्कंठाभरे नेत्रों से देख रही थीं और इस सोच में थीं कि आगे क्या होगा ! ऐसा लगता था जैसे वे इस प्रतीक्षा में हों कि मैं वे शब्द कहूं और वे काम करूं जिनसे मरी हुई हड्डियां फिर से एक-दूसरे से

जुड़ जायं उनपर मांस चढ़ आय और वे पुनः जीवित हो उठें। परंतु मैंने अनुभव किया कि जो बात मैं आरम्भ कर चुका था उसे आगे बढ़ाने के लिए मेरे पास न कोई शब्द था न कोई काम। मेरी अंतरात्मा ने कहा कि मैंने झूठ बोला है; मैं स्वयं इन्हीं लोगों के समान हूं और मेरे पास कुछ और कहने को नहीं है। अतः मैं कार्डों पर वहां रहनेवालों के नाम और उनके पेशे लिखने लगा।

इस घटना ने मुझसे एक और नई गलती कराई। मैं यह मान बैठा कि इन अभागों की भी सहायता करना सम्भव है। आत्म-भ्रांति के कारण उस समय मुझे ऐसा लगा कि यह कार्य बड़ी सरलता के साथ सम्पन्न हो जायगा। मैंने मन-ही-मन में कहा—'हम इन स्त्रियों के भी नाम लिख लें और बाद में जब सबके नाम लिखे जा चुकें तब हम इनकी ओर ध्यान दें।' उस समय मैंने यह नहीं सोचा कि 'हम' शब्द से मेरा क्या मतलब है और उसमें कौन-कौन शामिल हैं। मैंने सोचा कि हम—वे ही हम, जो कई पीढ़ियों से इन स्त्रियों को कुमार्ग पर ढकेलते आए हैं और अब भी ढकेल रहे हैं—एक दिन अचानक इस भूल को सुधारने का बीड़ा उठा सकेंगे; किंतु यदि उस समय मैंने केवल उस बातचीत को याद भर कर लिया होता जो मैंने बीमार स्त्री के बच्चे को खेलानेवाली वेश्या से की थी तो मेरी समझ में आ जाता कि इस काम को हाथ में लेना कितना मूर्खतापूर्ण था!

उस वेश्या को बच्चा खेलाते देखकर हम समझते थे कि बच्चा उसीका है। हमारे यह पूछने पर कि तुम कौन हो उसने सहज भाव से बता दिया—"मैं एक कुलटा हूं।" उसने 'वेश्या' शब्द नहीं कहा। इस भयंकर शब्द का प्रयोग तो केवल उस मकान-मालिक ने किया था।

यह मानकर कि यह वेश्या बच्चेवाली है, मेरे मन में उसे पंक से निकालने का विचार आया और मैंने उससे पूछा—

"क्या यह बच्चा तुम्हारा है?"

"नहीं, यह इस औरत का है।"

"तो फिर तुम इसे क्यों खेला रही हो?"

"उसने मुझसे कहा है। वह मर रही है।"

अपनी मान्यता के अशुद्ध सिद्ध होने पर भी मैं उस स्त्री से उसी दृष्टिकोण से बात करता रहा। मैंने उससे पूछा—"तू कौन है और इस स्थिति में कैसे फँस गई ?" उसने सहज भाव से सहर्ष अपनी सारी कहानी कह सुनाई। उसका जन्म मास्को में हुआ था और वह एक फैक्टरी के मजदूर की लड़की थी। जब उसके मां-बाप उसको अनाथ छोड़कर मर गए तो उसकी चाची ने (जिसका अब देहान्त हो गया था) उसे पाला-पोसा। अपनी इसी चाची के पास रहते हुए उसने सरायों में जाना शुरू किया। जब मैंने उससे पूछा कि क्या तुम अपना यह जीवन बदलना पसंद करोगी तो स्पष्टत: उसे मेरे इस प्रश्न में दिलचस्पी तक नहीं हुई। एक सर्वथा असम्भव प्रस्ताव भला किसीको कैसे आकर्षित कर सकता था ? उसने मुँह बनाकर कहा—"लेकिन इस पीले टिकट-वाली[1] को रखेगा कौन ?"

"मान लो कि हम तुम्हें कहीं रसोई बनाने का काम दिलवा दें," मैंने प्रस्ताव किया। यह विचार मेरे मन में इसलिए उठा कि रसोई-दारिनों की तरह वह भी सन-जैसे बालोंवाली एक तगड़ी औरत थी और उसके गोल-मटोल चेहरे पर सहृदयता झलकती थी। मेरी बात उसे पसंद नहीं आई और वह बोली—"रसोई बनाने का काम! लेकिन मैं रोटी सेंकना तो जानती ही नहीं।" यह कहकर वह हँसने लगी। उसकी दलील तो यही थी कि वह रसोईदारिन बन नहीं सकती; किन्तु मैं उसकी मुखाकृति को देखकर समझ गया कि वह रसोईदारिन बनना चाहती नहीं और इस काम और पेशे को घृणा की दृष्टि से देखती है।

यह स्त्री, जिसने बाइबिल में उल्लिखित विधवा की भाँति अपने बीमार पड़ोसी की सेवा में अपना सर्वस्व लगा दिया था, अपने पेशेवाली अन्य स्त्रियों की भांति मेहनत-मजदूरी के काम को हीन और घृणित समझती थी। उसका तो लालन-पालन ही इस ढंग से हुआ था कि उसे अपने जीवन में मेहनत-मजदूरी न करनी पड़े और उसका यह जीवन

---

[1] रूस में वेश्याओं की रजिस्ट्री करके उन्हें पीला टिकट दिया जाता था।

उसके पासवालों की दृष्टि में बिलकुल स्वाभाविक था। वस्तुतः यही उसका दुर्भाग्य था और इसी दुर्भाग्य के कारण उसकी यह दुर्दशा हुई थी और अब भी वह उसीमें पड़ी हुई थी। इसीके कारण वह सरायों में बैठी और अब हममें ऐसा कौन पुरुष या स्त्री है जो उसके जीवन-सम्बन्धी इस मिथ्या दृष्टिकोण को बदल सके ? हममें ऐसे लोग हैं ही कहां जिन्हें इस बात का पक्का विश्वास हो कि आलस्यपूर्ण जीवन की अपेक्षा परिश्रमी जीवन सदा ही सम्माननीय है, जो अपने इस विश्वास के अनुसार ही जीवन-यापन करते हों और जो इस कसौटी पर दूसरों का आदर तथा मूल्यांकन करते हों ? यदि मैंने इस प्रश्न पर विचार किया होता तो मेरी समझ में आ गया होता कि न तो मैं और न मेरी जान-पहचानवाला कोई दूसरा आदमी ही इस रोग को दूर करने में समर्थ है।

मुझे यह बात समझ लेनी चाहिए थी कि परदे के ऊपर झांकनेवाली वे आश्चर्यचकित और ध्यानावस्थित आँखें अपने लिए सहानुभूति के शब्द सुनकर केवल विस्मय व्यक्त कर रही थीं और निश्चय ही उनमें व्यभिचारपूर्ण जीवन से मुक्त किये जाने की आशा की झलक नहीं थी। सच पूछिए तो ऐसी स्त्रियों को अपने जीवन की व्यभिचारिता दिखाई ही नहीं देती। वे जानती हैं कि लोग उनसे घृणा करते हैं और उन्हें गालियां देते हैं; किन्तु वे यह नहीं समझ सकतीं कि क्यों ? वे बचपन से ही अपनी-जैसी स्त्रियों के बीच रहती आई हैं और अच्छी तरह से जानती हैं कि ऐसी स्त्रियाँ सदा से समाज में रहती आई हैं तथा अब भी हैं और वे समाज के लिए इतनी आवश्यक मानी जाती हैं कि उनकी उचित व्यवस्था के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं।[1] वे यह भी जानती हैं कि उन्हें पुरुषों को वश में करने की शक्ति प्राप्त है और अन्य स्त्रियों की अपेक्षा वे उनपर अधिक प्रभाव डाल सकती हैं। वे देखती हैं कि यद्यपि उनका सदा तिरस्कार किया जाता

[1] रूस में वेश्याओं को लाइसेंस लेना पड़ता था और उनकी नियमित डाक्टरी परीक्षा हुआ करती थी। अब यह प्रथा वहाँ समाप्त हो गई है।

है तथापि स्त्री और पुरुष दोनों ही तथा स्वयं सरकार तक समाज में उनके स्थान को स्वीकार करती है। इसलिए वे इतना तक नहीं समझ पातीं कि आखिर पश्चात्ताप करें तो किस बात के लिए और सुधार करें तो किस दिशा में !

एक दिन मकानों का चक्कर लगाते समय एक विद्यार्थी ने मुझे बतलाया कि एक कमरे में एक औरत रहती है जो अपनी तेरह वर्ष की लड़की से व्यभिचार कराती है। उस लड़की का उद्धार करने की इच्छा से मैं जानबूझकर उसके यहाँ गया। मां-बेटी दोनों बड़ी ही निर्धन अवस्था में रहती थीं। मां चालीस वर्ष की, ठिगनी और काले रंग की थी। वह कुरूप ही नहीं बल्कि देखने में बड़ी बीभत्स थी। लड़की भी कम कुरूप नहीं थी। उनके जीवनक्रम के सम्बन्ध में मैंने घुमा-फिराकर कितने भी प्रश्न किये; किंतु लड़की की मां ने उन सबका बड़े ही संक्षेप में और सौहार्दरहित अविश्वास के साथ उत्तर दिया, जिससे साफ मालूम पड़ता था कि वह मुझे अपना शत्रु समझती है। बेटी ने तो अपनी मां की ओर देखे बिना मेरे किसी प्रश्न का उत्तर ही नहीं दिया। स्पष्टतः वह मां पर पूर्ण विश्वास करती थी।

उन्हें देखकर मेरे मन में करुणा नहीं, घृणा उत्पन्न हुई। फिर भी, मैंने निश्चय किया कि लड़की का उद्धार करना आवश्यक है और इसके लिए मुझे ऐसी महिलाओं से बातचीत करनी चाहिए जिन्हें इस प्रकार की अभागिनों के प्रति सहानुभूति हो और फिर इन महिलाओं को उस लड़की की मां के पास भेजना चाहिए।

यदि मैंने उस लड़की की मां के बीते हुए लम्बे जीवन पर विचार किया होता; यदि मैंने यह सोचा होता कि उसने किस प्रकार दयनीय स्थिति में रहते हुए भी दूसरों से लेशमात्र सहायता पाये बिना ही और भारी-भारी त्याग करके अपनी लड़की को जन्म दिया तथा पाला-पोसा; साथ-ही-साथ यदि मैंने यह भी विचार किया होता कि किस प्रकार उसके मस्तिष्क में जीवन-संबंधी एक विशेष धारणा ने जड़ जमा ली है, तो मेरी समझ में आ गया होता कि मां के उस व्यवहार में कोई बात बुरी अथवा अनैतिकता नहीं थी। उसने अपनी लड़की के लिए जो

अच्छे-से-अच्छा समझा था, शक्तिभर किया था और अब भी कर रही थी। ऐसी दशा में यह तो सम्भव था कि उसकी लड़की को बलात् उससे अलग कर दिया जाय; किन्तु उसे यह विश्वास दिलाना सर्वथा असम्भव था कि लड़की का धर्म बेचकर वह कोई गलती कर रही है।

लड़की का उद्धार करने के लिए यह आवश्यक था कि उससे बहुत पहले उसकी मां का उद्धार किया गया होता, उसे समाज द्वारा स्वीकृत उस जीवन-सिद्धान्त से छुटकारा दिलाया गया होता जिसके अनुसार स्त्री-जाति को अनुमति दी गई है कि वह अविवाहित रहकर अर्थात् बिना संतान उत्पन्न किये और बिना ही कोई काम किये केवल विषय-वासना की तृप्ति का साधन बनी रहे। यदि मैंने ध्यानपूर्वक विचार किया होता तो मेरी समझ में आ जाता कि जिन महिलाओं को मैं उस वेश्या की लड़की का उद्धार करने के लिए भेजना चाहता था उनमें से अधिकतर स्वयं निःसंतान और उद्यम-रहित जीवन व्यतीत करती हुई केवल विषय-वासना की तृप्ति का साधन बनी रहती हैं, और जानबूझकर अपनी लड़कियों को भी ऐसे ही जीवन की शिक्षा देती हैं। यदि एक मां अपनी लड़की को सराय में बैठाती है तो दूसरी अपनी लड़की को दरबार में या नाच में ले जाती है। जीवन के प्रति दोनों का दृष्टिकोण एक ही होता है—वह यह कि स्त्री का कर्त्तव्य पुरुष की विषय-वासना को तृप्त करना है और उसे इस सेवा के लिए अन्न, वस्त्र तथा संरक्षण मिलना चाहिए। ऐसी दशा में हमारी महिलाएं किस प्रकार उस वेश्या या उसकी लड़की का उद्धार कर सकती हैं ?

: ९ :

निराश्रित बालक

बालकों के साथ मेरा सम्बन्ध और भी विचित्र था। उनकी ओर भी मेरा ध्यान परोपकार का वह कार्य करते समय ही आकृष्ट हुआ। इच्छा हुई कि निर्दोष बच्चों को पाप के गड़हे में गिरने से बचाऊँ और

यह सोचकर कि इनपर बाद में ध्यान दूंगा मैंने उनके नाम लिख लिये।

स्येर्योजा नाम के एक बारहवर्षीय लड़के ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। वह एक कुशाग्रबुद्धि और चतुर बालक था। पहले वह एक चमार के यहां रहता था; किंतु उसके जेल चले जाने पर निराश्रित हो गया था। मुझे उसपर बड़ी दया आई और मैंने अपने को उसके लिए उपयोगी बनाना चाहा।

उस बालक को मैंने जो सहायता दी उसका क्या और किस प्रकार अन्त हुआ, यह मैं आपको बताना चाहता हूं; क्योंकि उससे मेरी परोपकारिता की पोल साफ-साफ खुल जाती है। मैं लड़के को अपने घर ले आया और उसे चौका-बर्त्तन के काम पर लगा दिया। यह तो भला हो ही कैसे सकता था कि पाप की गुफा से निकाले हुए उस गंदे लड़के को मैं अपने बच्चों के साथ हिलने-मिलने देता? इतनी ही क्या कम नेकी और दयालुता थी कि मैंने उसे अपने घर पर रहने को स्थान देकर अपने को न सही अपने नौकरों को असुविधा में डाला और उसे खाना तथा पुराने कपड़े भी दिये? (ध्यान रहे कि उसे खाना मैंने नहीं, बल्कि मेरे रसोइए ने खिलाया।)

वह लड़का मेरे यहां लगभग एक सप्ताह रहा। इस बीच मैंने उससे योंही चलते-फिरते दो बार बातचीत की। एक दिन टहलते हुए मैंने अपनी जान-पहचान के एक मोची के पास जाकर उस लड़के की चर्चा की और पूछा कि क्या तुम इसे अपने यहां काम सिखाने के लिए रख सकते हो? एक किसान ने, जो मेरे यहां ठहरा हुआ था, उस लड़के से मजदूरी करने के लिए गांव चलने को कहा। किंतु लड़के ने वहां जाने से इन्कार कर दिया और एक सप्ताह बाद वह मेरे यहां से भी चलता बना। उसकी तलाश में मैं रज्हानोफ़-भवन गया। वह लौटकर वहीं चला गया था; लेकिन जब मैं पहुँचा तब अपने कमरे में नहीं था। उस दिन और उससे पहले दिन भी वह चिड़िया-घर चला गया था। वहां उसे किसी सरकसवाले ने रंग-बिरंगे कपड़े पहनाकर हाथी के साथ-साथ जलूस में चलने के लिए तीस कोपेक रोजाना पर नौकर रख लिया था।

दूसरे दिन मैं फिर रज्हानोफ़-भवन गया था; किंतु वह लड़का इतना कृतघ्न निकला कि मुझसे जानबूझकर कतराता रहा। उस समय यदि मैंने अपने और उस लड़के के जीवन पर विचार किया होता तो मेरी समझ में आ गया होता कि उसके बिगड़ने का कारण यह है कि उसे मालूम हो गया है कि काम किये बिना ही वह चैन की बंसी बजा सकता है और उसे काम न करने का अभ्यास पड़ गया है। उसका उपकार और सुधार करने के लिए मैं उसे अपने घर ले गया था; पर वहां उसने क्या देखा ? उसने देखा कि मेरे बच्चे—जिनमें से कुछ उससे बड़े, कुछ छोटे और कुछ उसीकी उम्र के थे—स्वयं कोई काम नहीं करते थे और दूसरों से सब तरह के काम करवाते थे। वे चीजें मैली करते; अपने आस-पास की प्रत्येक वस्तु बिगाड़ते; स्वादिष्ट, मीठा और पौष्टिक भोजन ठूंस-ठूंसकर खाते; चीनी के बर्तन तोड़ते, दूध-मक्खन बखेरते और जिन चीजों को वह लड़का नियामत समझता उन्हें वे कुत्तों को दे देते। यदि एक ओर यह सत्य है कि मैं उस लड़के को पतन के गह्वर से निकालकर एक अच्छी जगह ले आया था, तो दूसरी ओर यह भी सत्य है कि जीवन-सम्बन्धी जो दृष्टिकोण उसने उस अच्छी जगह में देखा उसीको उसने स्वयं ग्रहण किया। हमारे जीवन-प्रवाह को देखकर उसने यही सीखा कि किसी अच्छी जगह रहने का अर्थ यही है कि कुछ काम-काज किये बिना ही खूब खाया पिया जाय और मौज उड़ाई जाय।

मैं मानता हूं कि उसे पता नहीं था कि मेरे लड़कों को लैटिन और यूनानी भाषाओं के व्याकरण सीखने में कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वह इस प्रकार के परिश्रम की उपयोगिता को समझ भी नहीं सकता था; किंतु इसमें सन्देह नहीं कि यदि यह बात उसकी समझ में आगई होती तो उसपर मेरे बच्चों के उदाहरण का और भी अधिक प्रभाव पड़ा होता। तब वह समझ जाता कि मेरे बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है कि उन्हें इस समय भी परिश्रम न करना पड़े और भविष्य में भी वे अपनी उपाधियों के बल पर यथासम्भव कम-से-कम काम करने और जीवन की अच्छी-अच्छी चीजों

को अधिक-से-अधिक परिमाण में प्राप्त करने के योग्य बन सकें। सच पूछिए तो यह बात उसकी समझ में आगई। तभी तो उसने गांव जाकर किसान के साथ ढोर चराने और आलू तथा क्वास[1] पर जीवन-निर्वाह करने की अपेक्षा करीब आठ पेंस प्रतिदिन पर जंगली कपड़े पहनकर हाथी के आगे-आगे चलना अधिक श्रेयस्कर समझा !

मुझे यह समझ लेना चाहिए था कि यह कैसी विडम्बना है कि स्वयं अपने बच्चों को तो मैं पूर्ण आलस्य और ऐश्वर्य का पाठ पढ़ा रहा था और जिस रज्हानोफ़-भवन को मैं पापगृह मानता था उसमें काहिली में पड़े-पड़े सड़नेवाले दूसरे आदमियों और उनके बच्चों को सुधारने की आशा करता था, हालांकि वहां के कम-से-कम तीन-चौथाई लोग या तो स्वयं अपने लिए या दूसरों के निमित्त श्रम अवश्य करते थे। किंतु ये बातें लेश मात्र भी मेरी बुद्धि में नहीं आईं।

रज्हानोफ़-भवन के अनेक बालक बड़ी ही दयनीय दशा में थे। उनमें से कुछ वेश्याओं के बच्चे थे, कुछ अनाथ थे और कुछ ऐसे थे जिन्हें लेकर भिखारी सड़क पर घूमा करते थे। उन सबकी अवस्था अत्यन्त करुणा-जनक थी; किंतु स्येर्योज़ा के साथ जो-कुछ बीती थी उससे मुझे यह विश्वास हो गया था कि जबतक मेरे जीवन का क्रम ऐसे ही चलता रहेगा तबतक मैं उनकी सहायता नहीं कर सकूंगा। जिन दिनों स्येर्योजा हमारे यहां था, मैंने अनुभव किया कि मेरे मन में उससे अपने—विशेषतः अपने बच्चों के—जीवन को छिपाने की इच्छा छिपी हुई थी। मुझे ऐसा लगता था कि उस लड़के को नेक और उद्यमी जीवन की ओर ले जाने का मेरा सारा प्रयत्न मेरे और मेरे बच्चों द्वारा उपस्थित किये गए दृष्टांत के कारण विफल हो रहा है।

किसी बच्चे को वेश्या या भिखारी से ले लेना बड़ा सरल है और यदि अपने पास धन हो तब तो उसे नहलाना-धुलाना, अच्छे कपड़े पहनाना और अच्छा खाना खिलाना, यहां तक कि विविध विद्याएं पढ़ाना भी अत्यन्त सरल होता है; किंतु हम-जैसे लोगों के लिए, जो

---

१. एक प्रकार का पेय।

स्वयं अपनी जीविका नहीं कमाते, उस बच्चे को जीविकोपार्जन करने की शिक्षा देना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है, क्योंकि हम अपने उदाहरण द्वारा और जिस वस्तु में हमारा एक पैसा भी खर्च नहीं होता उससे, उस बच्चे के जीवन में सुधार करके भी हम उसको उल्टी ही शिक्षा देते हैं। किसी पिल्ले को लेकर चुमकारना-पुचकारना, खिलाना-पिलाना, चीजें उठाकर लाने-ले जाने की शिक्षा देना और उसे देखकर हर्षित होना तो ठीक हो सकता है; किंतु किसी मनुष्य को केवल पालने-पोसने, खिलाने-पिलाने और यूनानी भाषा सिखाने से ही काम नहीं चल सकता। उसको तो जीवनयापन का ढंग सिखाना होगा और बताना होगा कि दूसरों से लो कम और दो अधिक। किंतु हम लोग तो इन अनाथ बच्चों को—चाहे उन्हें हम अपने घर रखें और चाहे किसी अनाथाश्रम में भेज दें—उलटी ही बातें सिखला पाते हैं।

: १० :

घोर निराशा

ल्यापिन-अनाथालय में मैंने अपने प्रति घृणा और दूसरों के प्रति करुणा की जिस भावना का अनुभव किया था, वह अब मिट गई थी। अब तो मेरे मन में बस यही अभिलाषा भरी हुई थी कि जो काम मैं आरम्भ कर चुका हूं उसे पूरा करूं, अर्थात् जिन लोगों से यहां मिल चुका हूं उनका कुछ उपकार करूं। आश्चर्य की बात तो यह है कि जहां उपकार करना अर्थात जरूरतमंदों को रुपया देना एक बहुत ही नेक काम मालूम होता था और उससे लोगों के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होना चाहिए था, वहां उससे मेरे मन में लोगों के प्रति कटुता और निंदा की भावना उत्पन्न हो गई। पहले ही दिन शाम को चक्कर लगाते समय मेरी आँखों के सामने बिलकुल ल्यापिन-अनाथालय का-सा दृश्य उपस्थित हुआ; परंतु उसका मेरे ऊपर पहले-जैसा प्रभाव न पड़कर एक बिलकुल ही और तरह का असर पड़ा।

बात उस समय की है जब एक कमरे में मुझे सचमुच एक ऐसी अभागिन बुढ़िया मिली जिसे तत्काल सहायता की आवश्यकता थी। बुढ़िया भूखी थी; उसे दो दिन से कुछ भी खाने को नहीं मिला था।

कथा इस प्रकार है। एक बहुत ही बड़े छमरे में, जो करीब-करीब पूरा-का-पूरा खाली पड़ा था, मुझे एक बुढ़िया मिली और मैंने उससे पूछा—"क्या यहां कोई ऐसा भी गरीब आदमी है जिसके पास खाने को कुछ न हो ?" बुढ़िया ने कुछ देर तक सोचने के बाद दो नाम बतलाए; फिर, जैसे एकाएक उसे कुछ याद आ गया हो, वह एक चारपाई की ओर झांककर बोली—"हां, मेरे खयाल में एक तो यहीं पड़ी हुई है; मैं समझती हूँ कि इसके पास खाने को कुछ भी नहीं है।"

"सचमुच ? वह कौन है ?"

"वह एक वेश्या है; लेकिन अब उसे कोई नहीं पूछता, इसलिए उसे अब कोई आमदनी नहीं होती। अबतक तो मकान-मालकिन उसपर तरस खाती थी; लेकिन अब वह उसे निकालना चाहती है। अगाफ्या, ओ अगाफ्या !" बुढ़िया ने चिल्लाकर पुकारा।

हम लोग पास गए और हमें चारपाई पर कोई चीज उठकर बैठती हुई दिखाई दी। वह सफेद और बिखरे बालोंवाली एक औरत थी, जो सूखकर हड्डियों का ढांचा भर रह गई थी। उसने एक फटी हुई मैली कुर्ती पहन रखी थी और उसकी गतिहीन आँखों में एक विचित्र प्रकार की चमक थी। उसने हमारी ओर देखा और फटी कुर्ती के भीतर से दिखाई पडनेवाली अस्थिमात्र छाती को छिपाने के लिए पास पड़ी हुई एक जाकट को अपने पतले हाथों से उठाया। इसके बाद वह गुर्राकर बोली—"क्या है ? क्या है ?"

"कैसी बीत रही है ?" मैंने उससे पूछा।

मेरी बात समझने में उसे काफी देर लगी, जिसके बाद वह बोली—"मुझे खुद पता नहीं। ये लोग मुझे निकाल रहे हैं।"

"तो क्या यह सच है कि तुम्हारे पास खाने को कुछ नहीं ?"

मुझे लिखते हुए लज्जा आती है कि उस समय मैंने उससे ऐसा प्रश्न किया। उसने मेरी ओर देखे बिना पहली ही जैसी तेजी के

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE

साथ उत्तर दिया—"मैंने कल कुछ नहीं खाया था और आज भी कुछ नहीं खाया है।"

इस औरत को देखकर मेरी हृत्तंत्री के तार एकबारगी ही झनझना उठे, फिर भी मुझ पर उतना गहरा असर नहीं पड़ा जितना ल्यापिन-अनाथालय का दृश्य देखकर बड़ा था। वहां के लोगों के प्रति करुणा का भाव उठते ही मुझे अपने ऊपर ग्लानि हुई थी; किन्तु यहां मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि जिस प्रकार के भूखे प्राणी की मैं तलाश में था वह मुझे आखिरकार मिल ही गया।

मैंने उसे एक रूबल दिया और मुझे याद है कि इस बात से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि लोगों ने मुझे वह रूबल देते हुए देखा। रूबल देते देखकर बुढ़िया ने भी हाथ फैलाया। उस समय दान करना इतना अच्छा लग रहा था कि पात्र-कुपात्र का विचार किये बिना ही मैंने बुढ़िया को भी कुछ दे दिया। वह कमरे के बाहर तक मुझे पहुँचाने आई और दालान में खड़े हुए कुछ लोगों ने उसको मुझे धन्यवाद देते हुए सुना। दरिद्रता के विषय में मैंने जो प्रश्न किये थे उनसे शायद इन लोगों में आशा का संचार हो गया था और वे मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे।

दालान में पहुँचने पर लोग मुझसे फिर पैसा माँगने लगे। इनमें कुछ तो स्पष्ट रूप से शराबी मालूम पड़ते थे। उन्हें देखकर मुझे बहुत बुरा लगा; लेकिन बुढ़िया को देने के बाद इन लोगों को इन्कार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं था, इसलिए मैंने उनमें भी स्वतन्त्रतापूर्वक रुपया-पैसा बाँटना शुरू कर दिया। ज्यों-ज्यों मैं देता जाता था त्यों-त्यों भीड़ बढ़ती जाती थी। सारे भवन में एक उत्तेजना-सी फैल गई। सीढ़ियों पर और गैलरियों में लोग आ-आकर मुझे देखने लगे। जब मैं आंगन में पहुँचा तब एक लड़का भीड़ चीरता हुआ सीढ़ियों पर से बड़ी तेजी से उतरा। वह मुझे देखे बिना ही चिल्लाकर बोला "इन्होंने अगाफ्या को एक रूबल दिया है।" फिर सीढ़ी से नीचे उतरकर वह लड़का मेरे पीछे-पीछे चलनेवाली भीड़ के साथ हो लिया।

मैं बाहर गली में निकल गया। वहां भी बहुत-से लोग मेरे पीछे हो लिये और पैसा मांगने लगे। मेरे पास थोड़ी-बहुत जितनी भी

रेजगारी थी, मैंने सब बांट दी और एक दूकान पर जाकर दस रूबल की और रेजगारी मांगी। फिर वही हुआ जो ल्यापिन-अनाथालय में हुआ था। बड़ा वावेला मचा। बूढ़ी स्त्रियां, बिगड़े हुए अमीर, किसान और बच्चे सब-के-सब हाथ फैलाए हुए दूकान के सामने जमा हो गए। मैंने उनको पैसा दिया और कुछ लोगों से उनके जीवन के सम्बन्ध में पूछताछ कर उनके नाम अपनी नोटबुक में लिख लिये। दूकानदार अपने गरम ओवरकोट के रोएँदार कालर समेटे पत्थर की मूर्ति की तरह बैठा रहा। बीच में रह-रहकर वह कभी भीड़ की ओर और कभी मेरी ओर देख लेता था। साफ मालूम पड़ रहा था कि औरों की तरह वह भी मेरे इस काम को मूर्खतापूर्ण समझ रहा था; किन्तु ऐसा कहने का उसे साहस नहीं होता था।

ल्यापिन-अनाथालय के लोगों की दुर्दशा और अवनति देखकर मैं दंग रह गया था और अपने को अपराधी समझने लगा था। साथ ही मेरे मन में पहले की अपेक्षा अच्छे बनने की इच्छा उदित हुई थी और इसकी सम्भावना भी दिखाई देने लगी थी। किन्तु अब उसी प्रकार के दृश्य ने मेरे हृदय पर एक दूसरे प्रकार का प्रभाव डाला। सबसे पहले तो जो लोग मुझे घेरकर खड़े हो गए थे उनमें से अधिकांश के प्रति मेरे मन में दुर्भावना उत्पन्न हुई और फिर मुझे इस बात की उद्विग्नता-सी हुई कि आखिर दूकानदारों और दरबानों ने मेरे बारे में क्या सोचा होगा!

वहांसे घर लौटकर मैं तमाम दिन बड़ा बेचैन रहा। मुझे ऐसा लगा कि मैं जो-कुछ कर रहा हूं वह मूर्खतापूर्ण और अनैतिक है और, जैसा कि अंतर्द्वन्द्व की अवस्था में सदा हुआ करता है, मैं अपने द्वारा आरम्भ किये गए कार्य के सम्बन्ध में इस तरह बढ़-चढ़कर बातें करने लगा मानों मुझे उसकी सफलता में कोई सन्देह ही न हो।

अगले दिन मैं अकेला ही नोटबुक में लिखे हुए उन लोगों से मिलने गया जिनकी अवस्था मुझे सबसे अधिक दयनीय प्रतीत हुई और जिनकी सहायता करना सबसे सरल मालूम हुआ। जैसा कि बतला चुका हूँ, मैंने किसीकी वास्तविक सहायता नहीं की। यह कार्य मुझे आशा से

अधिक कठिन प्रतीत हुआ और या तो अपनी असमर्थता के कारण या काम असम्भव होने के कारण मैं दुखियों को केवल उत्तेजित भर कर सका; मुझसे उनकी कोई सहायता नहीं बन पड़ी।

मर्दुमशुमारी का कार्य समाप्त होने से पहले मैं रज्हानोफ़-भवन में कई बार गया और हर बार एक-सी ही बात हुई। मांगनेवालों की भीड़ मुझे चारों ओर से घेर लेती और उनके बीच मैं खो-सा जाता। मंगतों की संख्या इतनी अधिक थी कि मुझे ऐसा लगा कि मैं इनके लिए कुछ कर-धर नहीं सकूँगा और सच पूछिए तो मुझे उनकी बहुलता पर क्रोध आया। इससे अधिक मुझे उनमें कोई दिलचस्पी नहीं हुई। मुझे ऐसा लगा कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति या तो झूठ बोल रहा है या पूरी बात सच-सच नहीं बतला रहा है और मुझे केवल रुपयों की थैली समझकर अधिक-से-अधिक पैसे ऐंठना चाहता है। अक्सर मुझे ऐसा भी लगता कि लोग खुशामद करके मुझसे जो रुपए ले लेते हैं उससे उन्हें लाभ के बदले हानि की ही अधिक सम्भावना है। रज्हानोफ़-भवन में मैं जितना ही अधिक गया और वहां के लोगों से मेरा जितना ही अधिक परिचय हुआ, उतना ही अधिक यह स्पष्ट होता गया कि उनकी सहायता करना असम्भव है। फिर भी, मर्दुमशुमारी की अंतिम रात तक मैंने अपना काम बन्द नहीं किया।

अंतिम रात की बात याद करके मुझे विशेष लज्जा मालूम होती है। पहले मैं अकेला जाया करता था; किन्तु उस रात करीब बीस जने इकट्ठे होकर गए। गश्त में भाग लेने की इच्छा रखनेवाले लोग सात बजे ही मेरे मकान पर जमा हो गए। उनमें से प्रायः सब-के-सब मेरे लिए अपरिचित थे। अधिकांश तो विद्यार्थी ही थे; बस एक अफसर था और दो मेरी जान-पहचान के थे। प्रचलित रीति से अभिवादन करते हुए उन्होंने मुझसे अपनेको गणकों में शामिल कर लेने के लिए कहा।

जो लोग मेरी जान-पहचान के थे वे खास तौर से शिकारी कोट और ऊँचे सफरी जूते पहनकर आए थे। इसी विषय में वे शिकार पर जाया करते थे और यही उनकी राय में सरायों में जाने के लिए ठीक

लिबास था। उन्होंने अपने साथ विशेष रंग की नोटबुकें और असाधारण पेंसिलें ले रखी थीं। उस समय उनमें वही विशेष उत्तेजना दिखाई दे रही थी जो शिकार, कुश्ती अथवा युद्ध में जाते सयय लोगों में हुआ करती है। उन्हें देखकर तो यह और भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगा कि हमारा कार्य कितना मूर्खतापूर्ण और निरर्थक है !

चलने से पहले हम लोगों ने आपस में सलाह की—ठीक उसी तरह जैसे युद्ध के सलाहकार परामर्श किया करते हैं। हमने इस बात पर विचार किया कि काम किस तरह से आरम्भ किया जाय, पहले किस काम में हाथ डाला जाय, कौन-कौन लोग किस तरफ जायं आदि-आदि। यह विचार-विमर्श ठीक उसी प्रकार से हुआ जिस प्रकार कौंसिलों, असेम्बलियों और कमेटियों में हुआ करता है, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ-न-कुछ कहा—इसलिए नहीं कि उसके पास कोई ऐसी बात थी जिसे कहना अनिवार्य था या वह कुछ पूछना चाहता था; बल्कि इसलिए कि दूसरे से पिछड़े न रहने की इच्छा से उसने कोई-न-कोई बात कहने के लिए निकाल ही ली। पर जिस दान के विषय में मैं उनसे कई बार कह चुका था उसकी इस बातचीत के दौरान में किसीने भी चर्चा नहीं की। मैं लज्जित तो बहुत हो रहा था; किन्तु लोगों को इस बात की याद दिलाना आवश्यक था कि गणना के साथ-साथ हमें परोपकार का कार्य भी करना है, अर्थात चक्कर लगाते समय जो लोग दरिद्रावस्था में मिलें उनका नाम हमें लिख लेना चाहिए।

इस प्रसंग की चर्चा करने में मुझे सदा लज्जा मालूम होती थी और उस रात भी यह बात मेरे मुँह से बड़ी कठिनाई से निकल सकी। मुझे ऐसा लगा कि लोग मेरी बात खेद के साथ सुन रहे हैं। मौखिक रूप से तो उन्होंने अपनी स्वीकृति ही प्रकट की; किन्तु साफ मालूम होता था कि वे मेरी बात को मूर्खतापूर्ण समझ रहे हैं और उनका खयाल है कि इसका कोई नतीजा नहीं निकलेगा। इसलिए वे लोग तत्काल दूसरी-दूसरी बातों की चर्चा करने लगे और यह सिलसिला तबतक जारी रहा जबतक हमारे चलने का समय नहीं हो गया और हम लोग वहां से गाड़ी में बैठकर चल नहीं दिये।

हम लोग अंधेरी सराय में पहुँचे और वहांके नौकरों को जगाकर अपने कागज छांटने लगे। जब हमने सुना कि हमारे आने की सूचना पाकर लोग भागे जा रहे हैं तब हमने मकान-मालिक से फाटक बंद कर देने के लिए कहा और स्वयं आंगन में जाकर भागनेवालों को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की कि कोई उनसे पासपोर्ट[1] दिखाने के लिए नहीं कहेगा।

इन घबराए हुए लोगों को देखकर मुझे जो विचित्र और अप्रिय अनुभूति हुई वह मुझे आज भी याद है। फटे चीथड़े पहने हुए वे अर्द्ध-नग्न प्राणी अंधकारपूर्ण आंगन में लालटेन की रोशनी में बहुत लम्बे मालूम पड़ते थे। भय से कांपते हुए वे दुर्गन्धपूर्ण पाखाने के पास दल बनाए खड़े थे। उन्होंने हमारा आश्वासन सुना; किन्तु उन्हें उसपर विश्वास नहीं हुआ। साफ मालूम पड़ता था कि आखेट के लिए घेरे गए जानवरों की भांति वे अपने प्राण बचाने के लिए सबकुछ करने को उतारू थे। जिन शरीफ लोगों ने पुलिस-अफसरों, मजिस्ट्रेटों, जजों आदि के नाना वेशों में उन्हें शहरों और गांवों में, सड़कों और गलियों में, सरायों और अनाथालयों में, सब जगह जीवन-भर हताश किया था वे ही शरीफ एक बार एकाएक उनके घर पर आ धमके थे और उन्होंने केवल गणना करने के लिए उनके मकान के फाटक बंद करवा दिये थे। स्वभावतः हमारे आश्वासन पर विश्वास करना उनके लिए उतना ही कठिन था जितना खरगोशों के लिए यह विश्वास करना कि शिकारी कुत्ते उन्हें पकड़ने नहीं, बल्कि गिनने आए हैं। किन्तु फाटक बंद हो चुके थे, इसलिए लाचार होकर वे अपनी-अपनी कोठरी में वापस चले गए और हमने अलग-अलग टोलियां बनाकर अपना काम आरम्भ कर दिया। मेरे साथ मेरे जान-पहचानवाले दोनों सज्जन और दो विद्यार्थी थे। वान्या ओवरकोट और सफेद पतलून पहने और हाथ में लालटेन लिये उस अंधकार में हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा था।

---

[1] उन दिनों पासपोर्ट न रखना अथवा जाली पासपोर्ट रखना रूस में सख्त कानूनी जुर्म समझा जाता था।

हम उन कमरों में गए, जिन्हें मैं पहले ही देख चुका था और जिनके कुछ निवासियों से परिचित भी था। फिर भी, अधिकांश लोग नए थे और वहां का दृश्य ल्यापिन-अनाथालय के दृश्य से भी अधिक भयानक था। सब कमरे और तख्ते भरे हुए थे और अधिकतर एक तख्ते पर दो-दो आदमी सोते थे। कमरों में स्त्री-पुरुष जिस बुरी तरह से ठुंसे पड़े थे वह दृश्य बड़ा ही भयानक था। जो औरतें शराब पीकर पूरी तरह बुत नहीं हुई थीं वे पुरुषों के साथ सो रही थीं। बहुत-सी स्त्रियां तो अपने बच्चों को लिये तंग तख्तों पर अजनबी पुरुषों के साथ पड़ी हुई थीं। इन लोगों की कंगाली, गंदगी और कातरता का दृश्य वास्तव में बड़ा ही करुण था। सबसे भयंकर बात तो यह थी कि इस प्रकार की दुर्दशा भोगनेवाले लोगों की संख्या अपरिमित थी। एक, दो, दस, बीस—अनगिनत थीं वे जीर्ण-शीर्ण कोठरियाँ जिनमें ये रहते थे और उन सभी में दुर्गन्ध, वही दम घोटनेवाला वातावरण, वही भीड़ और स्त्री-पुरुषों का वही गड़बड़-घोटाला या। चारों ओर स्त्री-पुरुष उसी तरह मदहोश पड़े थे, उनके चेहरों पर वैसा ही भय, वैसी ही दीनता और वैसी ही अपराध की छाया थी।

यह सब देखकर मेरे मन में एक बार फिर ल्यापिन-अनाथालय की ही तरह ग्लानि और लज्जा उत्पन्न हुई और मेरी समझ में आ गया कि मैंने जो काम हाथ में लिया है वह बड़ा ही विकट तथा मूर्खतापूर्ण है और इसलिए असम्भव है। यह सोचकर कि अब प्रयत्न करना व्यर्थ है, मैंने किसीसे और कोई प्रश्न नहीं किया और नोट लेना भी बंद कर दिया।

मेरे हृदय को बड़ा आघात लगा। ल्यापिन-अनाथालय का दृश्य देखकर मेरी अवस्था वैसी ही हो गई थी जैसी संयोगवश किसी मनुष्य के शरीर पर कोई बीभत्स फोड़ा देखकर हो जाती है। उस समय उस मनुष्य के लिए दुख होता है और इस बात की आत्मग्लानि होती है कि हमने उसकी सहायता पहले क्यों नहीं की। फिर भी यह आशा तो लगी ही रहती है कि कदाचित भविष्य में कुछ सहायता बन पड़े। किंतु अब मेरी दशा उस डाक्टर के समान हो गई थी, जो अपनी ओषधियों

के साथ रोगी के पास जाता है, उसके घाव को खोलता है और उसे साफ करता है किन्तु अंत में उसे यही स्वीकार करना पड़ता है कि उसका सारा प्रयत्न विफल रहा और उसकी ओषधि से रोगी को कोई लाभ नहीं पहुँचेगा।

: ११ :

मेरी परोपकारिता का अंत

इस घटना ने मेरी आत्मभ्रांति को बिलकुल मिटा दिया और मुझे यह स्पष्ट रूप से दिखाई दे गया कि मैंने जो काम अपने हाथ में लिया है वह केवल मूर्खतापूर्ण ही नहीं, बल्कि भयानक भी है। यह जानते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि सारी योजना को एकदम भंग कर देना न केवल ठीक नहीं होगा, बल्कि उसे जारी रखना मेरा कर्त्तव्य है; क्योंकि एक तो लेख लिखकर और निर्धनों से मिलकर तथा उन्हें सहायता का वचन देकर मैंने उनके मन में आशा उत्पन्न कर दी थी और दूसरे अपने लेख तथा वार्त्तालाप से मैंने दानी व्यक्तियों के हृदय में सहानुभूति जागृत कर दी थी जिसके फलस्वरूप बहुतों ने मेरे कार्य में सहयोग देने और आर्थिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया था। मैं इस प्रतीक्षा में था कि दोनों पक्ष के लोग मुझसे प्रार्थना करें और मैं उनकी प्रार्थना पर यथोचित रूप से विचार करूं।

जहांतक जरूरतमंदों का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में निम्नलिखित घटना घटी। मेरे पास सौ से भी अधिक प्रार्थनापत्र आए और यदि मैं एक नए शब्द का प्रयोग करूं तो कह सकता हूं कि वे सब-के-सब 'धनी दरिद्रों' के प्रार्थनापत्र थे। इनमें से कुछ लोगों को तो मैंने उत्तर नहीं दिया; किंतु कुछसे मैं स्वयं जाकर मिला। फिर भी मैं किसीकी सहायता करने में सफल न हो सका।

सभी प्रार्थनापत्र ऐसे व्यक्तियों के थे जो किसी समय सौभाग्यशाली पद पर रह चुके थे; किंतु अब वे पद से हटा दिये गए थे और

उसे फिर से प्राप्त करना चाहते थे। मेरा आशय ऐसे पद से है जहाँ रहकर मनुष्य दूसरों को देने की अपेक्षा स्वयं लेता अधिक है। एक आदमी ने अपने गिरते हुए धंधे को सम्भालने और अपने बच्चों की शिक्षा पूरी करने के लिए दो सौ रूबल मांगे। दूसरे ने फोटोग्राफी के सामान की मांग की; तीसरे ने चाहा कि उसका ऋण चुका दिया जाय और उसके अच्छे कपड़े गिरवी से छुड़ा दिये जायं; चौथे ने एक पियानो मांगा ताकि वह उसे अच्छी तरह बजाना सीख सके और फिर दूसरों को सिखाकर अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण कर सके। अधिकांश लोगों ने केवल सहायता की प्रार्थना की और यह नहीं लिखा कि उन्हें कितने रुपयों की जरूरत है। किन्तु जब उनकी आवश्यकताओं की छानबीन की गई तो पता चला कि जितनी अधिक सहायता उपलब्ध की गई उतनी ही अधिक उनकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं और उन्हें न तो सन्तोष हुआ न हो ही सकता था। जैसाकि मैं पहले कह चुका हूँ. शायद इसका कारण यह था कि मुझे उनके साथ बर्ताव करने का ढंग नहीं मालूम था। जो कुछ भी हो, सच यह है कि मैं किसीकी भी सहायता नहीं कर सका, यद्यपि कुछ लोगों की सहायता करने की मैंने चेष्टा अवश्य की।

अब दानी व्यक्तियों के सहयोग का हाल सुनिए। उन्होंने जो-कुछ किया वह बड़ा ही आश्चर्यजनक और आशा के विपरीत था। जिन-जिन लोगों ने निर्धनों के सहायतार्थ धन देने का वचन दिया था और रकम भी तय कर दी थी, उनमें से किसीने एक रूबल भी नहीं दिया। उनके वचन के आधार पर मैं लगभग तीन हजार रूबल पाने की आशा करता था; किन्तु एक को भी अपना वचन याद नहीं रहा और उनसे फूटी कौड़ी भी हाथ नहीं लगी। अलबत्ता विद्यार्थियों को मर्दुमशुमारी-सम्बन्धी कार्य के पारिश्रमिक स्वरूप जो-कुछ भी मिला, उन्होंने लाकर मुझे दे दिया। जहाँतक मुझे याद पड़ता है, उनसे कुल मिलाकर बारह रूबल मिले। अतः जिस योजना के अन्तर्गत मैंने धनी लोगों से एकत्र किये हुए सहस्रों रूबल की सहायता से सैकड़ों और हजारों निर्धनों को दरिद्रता और पाप के पंक से उबारने का विचार किया था उसका अंत

यह हुआ कि जिन लोगों ने मुझसे मांगा उनमें मैंने कुछ दर्जन रूबल योंही अललटप बांट दिये और बाद में मेरे पास विद्यार्थियों के दिये हुए बारह रूबलों के अतिरिक्त वे पच्चीस रूबल भी बच गए जो नगर-पालिका ने मुझे मर्दुमशुमारी के आयोजक की हैसियत से काम करने के लिए दिये थे। मैं यह नहीं समझ पाया कि इस रकम का क्या करूँ !

इस तरह सारी योजना ठप पड़ गई। मास्को छोड़कर गाँव जाने से पहले मैं एक रविवार को बचे हुए सैंतीस रूबलों को गरीबों में बांटने के लिए रज्हानोफ़-भवन गया। वहां मैं जितनों से परिचित था उन सबके कमरे में हो आया; किन्तु एक बीमार आदमी को छोड़कर, जिसे मैंने शायद पांच रूबल दिये, वहां और कोई ऐसा आदमी नहीं मिला जिसे कुछ दिया जा सकता। मांगने तो बहुत-से लोग लगे थे; किन्तु उनके विषय में मुझे कोई जानकारी नहीं थी, इसलिए मैंने बत्तीस रूबलों को बांटने के सम्बन्ध में सराय के मालिक ईवान फिदोतिश से सलाह लेने का निश्चय किया।

उस दिन कार्नीवाल का उत्सव था सब लोगों ने अच्छे-से-अच्छे कपड़े पहने थे, खूब डटकर खाना खाया था और कुछ लोग तो पिये हुए झूम रहे थे। सराय के एक कोने में फटा कोट और चटाई के जूते पहने एक बूढ़ा किन्तु फुर्तीला कबाड़ी खड़ा-खड़ा काम कर रहा था। वह अपनी टोकरी के सामान को छांट-छांटकर लोहे, चमड़े और दूसरी चीजों के अलग-अलग ढेर बना रहा था और ऊँचे मीठे स्वर में कुछ गा भी रहा था। मैं उससे बातें करने लगा। उसकी उम्र ७० वर्ष की थी और वह कबाड़ी का काम करके अपना पेट पालता था तथा अकेला ही रहता था। उसने न केवल किसी बात की शिकायत नहीं की, वल्कि बतलाया कि उसके पास खाने-पीने के लिए काफी है। मैंने उससे पूछा कि क्या तुम्हारे जानने में रज्हानोफ़-भवन में कोई ऐसा आदमी है जो सचमुच जरूरतमंद हो। मेरे इस प्रश्न से उसे कुछ खिजलाहट-सी हुई और उसने साफ-साफ कहा कि काहिलों और पियक्कड़ों को छोड़कर और किसीको तंगी नहीं होती। परन्तु जब उसे मेरे उद्देश्य का पता लगा तो उसने पीने के लिए मुझसे पांच कोपेक मांगे और उन्हें पाते ही

वह सीधा सराय की ओर भागा। मैं भी बाकी रकम को बंटवाने का भार ईवान फिदोतिश को सौंपने के अभिप्राय से सराय की ओर चल दिया।

सराय में बहुत भीड़ थी। मदिरा के मद में झूमती हुई युवतियाँ भड़कीले कपड़े पहने हुए इधर-उधर आ-जा रही थीं। सब मेजें भरी हुई थीं और कितने ही लोग नशे में चूर थे। एक छोटे-से कमरे में एक आदमी बाजा बजा रहा था और दो आदमी नाच रहे थे। मुझे देखते ही ईवान फिदोतिश ने आदरवश नाच बन्द करने का आदेश दिया और मेरे साथ वह एक खाली मेज पर बैठ गया। मैंने उसे बतलाया कि मुझे गरीबों में बांटने के लिये कुछ पैसे मिले हैं; तुम अपने किरायेदारों को जानते हो, बतलाओ कि उनमें से सबसे ज्यादा जरूरतमन्द कौन-कौन हैं। उस भले आदमी ने (जिसकी एक साल बाद मृत्यु हो गई) अपने रोजगार में व्यस्त रहने पर मेरी सहायता करने के लिए थोड़ी देर को अपना काम छोड़ दिया। कुछ समय तक वह मेरे प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करता रहा और उसकी मुद्रा से साफ मालूम पड़ता था कि वह चक्कर में पड़ गया है। एक बूढ़े नौकर ने हमारी बात सुन ली थी; वह भी हमारी बातचीत में शरीक हो गया।

वे एक-एक करके किरायेदारों के नाम लेने लगे—इनमें से कुछको मैं भी जानता था; किन्तु वे किसीके सम्बन्ध में सहमत नहीं हो सके।

"परामोनौफना," नौकर ने सुझाया।

"हाँ, ठीक है, कभी-कभी उसे भूखा रहना पड़ता है।...लेकिन वह तो शराब पीती है," फिदोतिश बोला।

"तो क्या हुआ ? सब ठीक है...।"

"और स्पिरिडोन ईवानोविच ? उसके बच्चे हैं ?"

किन्तु फिदोतिश को स्पिरिडोन के विषय में शंका थी।

"अच्छा तो अकुलीना ?...किन्तु उसे तो भत्ता मिलता है। हां, याद आया वह अंधा आदमी कैसा रहेगा ?"

किन्तु, उस अन्धे आदमी के सम्बन्ध में मैंने स्वयं आपत्ति की। उसे मैंने तभी देखा था। उसकी उम्र लगभग ८० वर्ष की थी और उसके

कोई सगा सम्बन्धी नहीं था। कहने को तो कहा जा सकता है कि इससे दीन भला और कौन होगा; किन्तु थोड़ी देर पहले ही मैंने देखा था कि वह परोंवाले एक ऊँचे बिछौने पर शराब पिये पड़ा था और जिस अपेक्षाकृत जवान स्त्री के साथ उसने सम्भोग किया था उसे वह, मुझे न देख सकने के कारण, बहुत ही धीमे स्वर में गन्दी-से-गन्दी गालियाँ दे रहा था।

इसके बाद फिदोतिश और उसके नौकर ने एक लूले लड़के का नाम लिया जो अपनी मा के साथ रहता था। मैंने देखा कि अन्तःकरण शुद्ध होने के कारण फिदोतिश असमंजस में पड़ गया है। वह जानता था कि कार्नीवाल के दिनों में गरीबों को जो पैसा दिया जायगा वह लौट-फिर कर उसीके पास सराय में आ जायगा।

किन्तु मुझे तो ३२ रूबल बांटने थे और जब मैंने बहुत कहा तो वे रूबल भले-बुरे किसी-न-किसी ढंग से बाँट दिये गए। जिन्हें-जिन्हें पैसा मिला उनमें से अधिकांश अच्छे कपड़े पहने हुए थे और उन्हें ढूंढ़ने के लिए हमें कहीं दूर नहीं जाना पड़ा, क्योंकि वे सराय में ही मौजूद थे। लूल्हा लड़का ऊँचे जूते, लाल कमीज और वास्कट पहने हुए था।

इस प्रकार मेरी दानशीलता का अंत हो गया और, जैसा कि हमेशा होता है, लोगों से तंग आकर मैं गांव चला गया। यह तो सत्य है कि मेरी दान-वृत्ति का कोई परिणाम नहीं निकला और वह बिलकुल बन्द हो गई; किन्तु मेरे अन्तःप्रदेश में उठनेवाले विचारों और भावनाओं का प्रवाह रुकने के बदले और भी दुगुने वेग से बढ़ चला।

: १२ :

असफलता क्यों ?

तो, इन सब बातों का क्या अर्थ था ?

मैं देहात में रह चुका था और वहाँ निर्धनों से मेरा सम्पर्क भी हो गया था। नम्रतावश नहीं, क्योंकि नम्रता में तो अधिक पुट गर्व का

होता है, बल्कि अपनी भावनाओं और विचारधारा को स्पष्ट करने के उद्देश्य से मैं यह बात सच-सच बतला देना चाहता हूं कि देहात में मैंने गरीबों की बहुत ही कम सहायता की थी। फिर भी वहाँके अभागे मुझसे इतनी कम सहायता चाहते थे कि मैं जितना भी थोड़ा-बहुत कर देता था, वही उनके लिए उपयोगी सिद्ध होता था और उससे मेरे चारों ओर प्रेम तथा सन्तोष का वातावरण छा जाता था। इस वातावरण में रहकर मुझे उस वेदना को शांत करना सम्भव प्रतीत होता था जिसका मैं अपने जीवनयापन के अनौचित्य के कारण अपनी अन्तरात्मा में निरन्तर अनुभव किया करता था। नगर में आकर मैंने आशा की थी कि वहां भी मैं गांव की तरह ही जीवन व्यतीत कर सकूंगा; किन्तु मास्को पहुँचकर मुझे एक बिलकुल ही दूसरी तरह की दरिद्रता दिखाई दी। वहाँ की दरिद्रता में देहात की दरिद्रता की अपेक्षा सत्य का अंश कम था और साथ-ही-साथ वह अधिक कष्टदायक तथा निर्ममता की सूचक थी। सबसे बुरी बात यह थी कि एक ही स्थान पर इतनी अधिक मात्रा में दरिद्रता विद्यमान थी कि उसका मुझपर बड़ा भयानक प्रभाव पड़ा।

ल्यापिन-अनाथालय में मैंने जो-कुछ देखा उससे तत्काल मुझे अपने जीवन के घिनौनेपन का भान हुआ। वह अनुभूति सच्ची और बलवती थी। फिर भी उसके लिए जीवन में जिस क्रांति की आवश्यकता थी उससे पहले-पहले मुझे भय लगा और मैंने उससे समझौता कर लिया। मुझसे तो जो बात प्रत्येक व्यक्ति कहता था और जो सृष्टि के आरम्भ से सभी लोग कहते आए हैं उसी पर मैंने भी विश्वास कर लिया—अर्थात् मैंने यह मान लिया कि वैभव और ऐश्वर्य में कोई बुराई नहीं; ये ईश्वर की देन हैं और मनुष्य ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताते हुए भी अभागों की सहायता कर सकता है। मैंने इस बात पर विश्वास करके इसीके अनुसार कार्य करने का निश्चय किया और एक लेख लिखकर धनवानों को निर्धन की सहायता के लिए ललकारा। सभी धनिकों ने यह स्वीकार तो कर लिया कि दरिद्रों की सहायता करना उनका नैतिक कर्त्तव्य है; परन्तु इस कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए कोई भी आगे नहीं

बढ़ा। इससे यह स्पष्ट था कि या तो वे सहायता करना चाहते ही नहीं थे या उनमें सहायता करने की सामर्थ्य नहीं थी।

मैं गरीबों में आने-जाने लगा और वहाँ मैंने जो कुछ देखा उसे देखने की मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। एक ओर तो उन 'पाप की गुफाओं' में—जैसा कि मैं उन कोठरियों को कहा करता था—मुझे ऐसे लोग दिखाई दिये जिनकी सहायता करने का मेरे लिए प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि वे मजदूर थे, उन्हें काम करने और कष्ट सहने का अभ्यास था और इसलिए उनका जीवन मेरी अपेक्षा कहीं अधिक पक्की नींव पर स्थित था। दूसरी ओर मेरे सामने ऐसे दीन-दुखिए आए जिनकी सहायता करने में मैं असमर्थ था, क्योंकि वे सब मेरे ही समान थे। उनमें से अधिकांश की दुर्दशा का कारण यह था कि वे अपनी रोटी आप कमाने की सामर्थ्य, इच्छा और आदत खो बैठे थे। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि वे मेरे ही समान अकर्मण्य थे।

भूखों मरती अगाफ़िया के अतिरिक्त मुझे एक भी ऐसा दुखिया नहीं मिला—चाहे वह बीमार हो चाहे जाड़े में ठिठुरता हुआ, चाहे भूखा—जिसकी सहायता तत्काल की जा सकती। अतः मुझे इस बात का विश्वास हो गया कि जिन दीन-दुखियों की मैं सहायता करना चाहता हूं उनके जीवन से अलग रहने के कारण उनका पता लगाना मेरे लिए प्रायः असम्भव-सा होगा, क्योंकि उनमें से किसीको जब कभी कोई वास्तविक आवश्यकता होती है तो उन्हींके बीच रहनेवाले दूसरे दीन-दुखिए उस आवश्यकता की पूर्ति कर देते हैं। सबसे अधिक विश्वास तो मुझे इस बात का हो गया कि पैसे के बल पर मैं उनके दुखी जीवन को बदलने में समर्थ नहीं हो सकूंगा।

फिर भी जिस काम में मैं हाथ डाल चुका था उससे किनारा काटने की झूठी लज्जा के कारण और परोपकारिता की भावना से मदांध होकर मैंने अपना काम उस समय तक जारी रखा जबतक कि वह स्वयं निरर्थक नहीं बन गया। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, उन ३७ रूबलों से जिन्हें मैं अपना नहीं समझता था, मैं बड़ी कठिनाई से छुटकारा पा सका और ईवान फ़िदोतिश की सहायता

से जैसे-तैसे करके उन्हें रज्हानोफ़-भवन के दुखियों में बांट पाया।

अगर मैं चाहता तो अपने काम को जारी रखकर परोपकारिता का ढोंग रच सकता था। इसी तरह यदि चाहता तो जिन लोगों ने मुझे धन देने का वचन दिया था उन्हें विवश करके रुपया वसूल कर सकता था। इसके अतिरिक्त मैं और भी अधिक धन एकत्र कर कंगालों में बांट सकता था और इस प्रकार अपनी परोपकारिता पर सन्तोष की सांस ले सकता था; परन्तु मैंने देखा कि हम धनवानों में इस बात की न तो इच्छा है न सामर्थ्य ही कि हम अपने बहुल धन का एक भाग निर्धनों के लिए अलग उठाकर रख दें, क्योंकि हमारी अपनी ही आवश्यकताएँ अनेक हैं। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी देखा कि यदि हम सचमुच कंगालों की सहायता करना चाहते हैं और अपना रुपया योंही अललटप लुटाना नहीं चाहते, जैसा कि मैंने रज्हानोफ़-भवन में किया था, तो सहायता देने योग्य कोई पात्र ही नहीं मिलेगा। इसीलिए मैंने सारा काम छोड़ दिया और निराश तथा दुखी होकर देहात चला गया।

वहां पहुँचकर इच्छा हुई कि अपने अनुभवों पर एक लेख लिखूं और उसमें बतलाऊँ कि मेरा काम सफल क्यों नहीं हुआ। मैं चाहता था कि मर्दुमशुमारीवाले लेख के सम्बन्ध में मुझपर जो आक्षेप किये गए थे उनका यथोचित उत्तर दूं, समाज को उसकी उदासीनता के लिए दोषी ठहराऊँ और शहर की गरीबी के कारणों, उसे दूर करने की आवश्यकता और अपने मतानुसार उसके उपायों पर भी प्रकाश डालूं।

मैंने लेख लिखना आरम्भ कर दिया और सोचा कि वह बड़ा ही बहुमूल्य होगा; किन्तु बार-बार चेष्टा करने पर और सामग्री की बहुलता रहने पर भी मैं लेख आगे नहीं बढ़ा सका और वह कहीं अब[1] आकर समाप्त हो पाया है। इस विलम्ब के कई कारण थे। एक तो

---

[1] सन् १८८५–८६ के जाड़ों में

यह कि मैं क्रोधावेश में लिख रहा था; दूसरे यह कि मैं उन प्रवंचनाओं से मुक्त नहीं हो पाया था जो समस्या को ठीक प्रकाश में आने से रोक रही थीं। तीसरी और सबसे बड़ी बात यह थी कि यद्यपि इन सब बातों का कारण बड़ा ही साधारण था और उसकी जड़ें स्वयं मुझ-में जमी हुई थीं तथापि मुझे अभी तक उसका ठीक-ठीक और स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाया था।

नैतिक क्षेत्र में कुछ ऐसी बात हो जाया करती है जो आश्चर्यजनक होती है और जिसकी ओर लोग बहुत ही कम ध्यान देते हैं।

यदि मैं भूगर्भ-विज्ञान, ज्योतिष, इतिहास, पदार्थ-विज्ञान अथवा गणित-शास्त्र की कोई बात किसी ऐसे व्यक्ति को बतलाऊँ जो उसे नहीं जानता तो उसे वह नए ज्ञान के रूप में ग्रहण करेगा और यह कभी नहीं कहेगा कि इसमें नई बात क्या है, यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है और मुझे तो इसका बहुत पहले से पता था। किन्तु किसी श्रेष्ठ नैतिक सत्य को आप चाहे कितने भी स्पष्ट-से-स्पष्ट और संक्षिप्त-से-संक्षिप्त रूप में समझाने की चेष्टा क्यों न करें, प्रत्येक साधारण मनुष्य—विशेषतः वह जिसे नैतिक प्रश्नों में कोई दिलचस्पी नहीं और जिसपर नैतिक शिक्षा का उलटा ही प्रभाव पड़ता है—यही कहेगा कि अजी, इसको कौन नहीं जानता ? इसे तो लोग पहले भी जानते और कहते थे। वास्तव में वह समझता भी यही है कि बहुत पहले भी ऐसी ही शिक्षा दी जाती थी और ठीक इसी ढंग से। केवल वे लोग जो नैतिक सत्य को एक गम्भीर और बहुमूल्य वस्तु मानते हैं यह समझ पाते हैं कि नैतिक सत्य कितना महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान होता है और कितने परिश्रम और अध्यवसाय के बाद उसे बुद्धिगम्य तथा सरल बनाया जाता है; अर्थात् किस प्रकार धुंधली तथा अनिश्चित कल्पनाएं और इच्छाएँ धीरे-धीरे विकसित होकर ऐसे अविचल और सुनिश्चित भावों का रूप धारण करते हैं, जिन्हें हृदयंगम करने के लिए तदनुकूल ही आचरण की आवश्यकता होती है।

हम लोगों को यह सोचने की आदत-सी पड़ गई है कि नैतिक शिक्षा एक बिलकुल तत्त्वहीन और नीरस वस्तु है, जिसमें कोई

नवीनता या सरसता हो ही नहीं सकती। फिर भी तथ्य यह है कि मनुष्य के सभी जटिल क्रिया-कलापों का; उसके राजनीतिक, वैज्ञानिक, कलात्मक, व्यावसायिक आदि विविध कार्यों का, जिनका नैतिकता से कोई बाह्य सम्बन्ध नहीं होता, केवल एक लक्ष्य होता है और वह है नैतिक सत्य को अधिक-से-अधिक स्पष्ट बनाना, उसकी अधिक-से-अधिक पुष्टि करना और उसे अधिक-से-अधिक सुगम बनाते हुए अधिक-से-अधिक प्रचारित करना।

मुझे याद है कि एक बार जब मैं मास्को की एक गली से होकर जा रहा था तब मैंने देखा कि एक आदमी एक दूकान से निकला। उसने गली में लगे हुए पत्थरों को ध्यानपूर्वक देखकर उनमें से एकको चुना और मुझे ऐसा लगा कि उसपर बैठकर वह पूरे बल और उत्साह के साथ उसे खुरचने या घिसने लगा। "यह आदमी रास्ते के पत्थर पर क्या कर रहा है ?"—मैंने सोचा और जब उसके पास जाकर देखा तो पता चला कि वह लड़का कसाई की दूकान पर काम करता है और सड़क के पत्थर पर अपना चाकू तेज कर रहा है।

पत्थरों की परीक्षा करते समय लड़का पत्थरों के बारे में कुछ नहीं सोच रहा था और बाद में चाकू तेज करते समय तो वह उनके सम्बन्ध में और भी कम सोच रहा था। वह तो केवल अपना चाकू तेज़ कर रहा था; क्योंकि गोश्त काटने के लिए उसे चाकू तेज करने की आवश्यकता थी। किन्तु मुझे ऐसा लगा जैसे वह सड़क के पत्थरों के साथ कुछ कर रहा है। इसी प्रकार, यद्यपि प्रतीत यह होता है कि मनुष्य व्यापार, संधि, युद्ध, विज्ञान, कला आदि विविध बातों में संलग्न है तथापि वास्तव में उसके लिए केवल एक ही कार्य महत्त्वपूर्ण होता है और वह उसी कार्य को करता है। वह कार्य है अपने तईं उन नैतिक सूत्रों की व्याख्या करना जिनके बल पर वह जीवनयापन करता है।

नैतिक सूत्र सदा से ही चले आए हैं; मनुष्य उनकी व्याख्या भर करता है। जो लोग इन नैतिक सूत्रों को नहीं चाहते और उनके अनुसार जीवनयापन करने की कामना नहीं रखते, उन्हें यह व्याख्या तुच्छ और

निरर्थक प्रतीत होती है; किन्तु नैतिक सूत्रों की व्याख्या करना मानव-जाति का मुख्य ही नहीं बल्कि एकमात्र कर्त्तव्य है। यह व्याख्या उसी प्रकार अलक्षित रहती है जिस प्रकार खुट्टल और पैनी छुरी का भेद अलक्षित रह सकता है। छुरी तो छुरी होती है। जिसे उससे कुछ काटना नहीं होता उसकी दृष्टि उसके खुट्टलपन और पैनेपन के भेद पर नहीं जाती। किंतु जो व्यक्ति समझता है कि छुरी के खुट्टल अथवा पैनी होने पर ही उसका सारा जीवन निर्भर है उसके लिए छुरी को तेज बनाने की प्रत्येक क्रिया महत्वपूर्ण होती है। वह यह भी जानता है कि पैना करने की यह क्रिया अनन्त है और सच्ची छुरी वही है जो पैनी हो और जिससे जो चाहे काटा जा सके।

जब मैं यह लेख लिखने बैठा तब मेरी यही दशा हुई। मैं सोचता था कि ल्यापिन-अनाथालय और मर्दुमशुमारीवाली अनुभूतियों के फल-स्वरूप मेरे मन में जो प्रश्न उठे हैं उनके विषय में मैं सब-कुछ जानता और समझता हूं; किन्तु जब मैंने उन्हें समझने और व्यक्त करने की चेष्टा की तब मैंने देखा कि मेरी छुरी से कुछ कटता नहीं और उसे तेज करना होगा। और अब पूरे तीन वर्ष बीत जाने पर मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी छुरी में अब इतनी धार आ गई है कि उससे मैं जो चाहूँ काट सकता हूँ। इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे कोई नई बात मालूम हो गई है। मेरे विचार अब भी वैसे ही हैं जैसे पहले थे। अन्तर केवल इतना है कि पहले वे अस्पष्ट थे, आसानी से बिखर जाते थे और केन्द्रीभूत नहीं होते थे; उस समय उनमें पैनापन नहीं था और वे आज की तरह एक सरलतम तथा स्पष्टतम निर्णय में बद्ध नहीं हो पाते थे।

: १३ :

गांवों पर शहर की विलासिता का प्रभाव

मुझे याद है कि नगर के दीन-दुखियों की सहायता करने का निष्फल प्रयत्न करते समय मुझे ऐसा लगता था कि जिस दलदल से मैं

दूसरों को बाहर निकालने की चेष्टा कर रहा हूं उसमें स्वयं खड़ा हुआ हूं। मेरे प्रत्येक नए प्रयत्न ने मुझे यह अनुभव करने के लिए बाध्य किया कि जिस धरती पर मैं खड़ा हूं वह पोली है। मैंने अनुभव तो किया कि मैं दलदल में हूं; किन्तु इस अनुभूति से उस समय मुझमें यह प्रेरणा उत्पन्न नहीं हुई कि मै अपने पैरों तले की भूमि की अधिक सावधानी के साथ जाँच-पड़ताल करूँ और पता लगाऊं कि मैं किस वस्तु पर खड़ा हूं। मैं तो अपने चारों ओर फैली हुई बुराई को दूर करने के लिए लगातार बाहरी उपायों की खोज में ही लगा रहा।

उन्हीं दिनों मैंने यह भी अनुभव किया कि मेरा जीवन बुरा है और इस प्रकार रहने से काम नहीं चलेगा। इतने पर भी मैं इस सहज और स्पष्ट निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका कि मुझे अपने रहन-सहन में सुधार कर उत्तमतर जीवन बिताना चाहिए। इसके विपरीत, मैं इस विचित्र निष्कर्ष पर पहुँचा कि अपने जीवन को उत्तम बनाने के लिए दूसरों का जीवन सुधारना आवश्यक है और बस मैं इसी सुधार-कार्य में लग गया।

मैं नगर में रहता था और वहाँ रहनेवाले दूसरे लोगों के जीवन को सुधारना चाहता था; किन्तु मुझे शीघ्र ही इस बात का विश्वास हो गया कि यह काम मेरे लिए सम्भव नहीं है और इसीलिए मैं शहरी जीवन तथा निर्धनता के रूप पर विचार करने लगा।

"यह शहरी जीवन और शहरी निर्धनता है क्या वस्तु ? क्या कारण है कि मैं शहर में रहते हुए शहर के कंगालों की सहायता नहीं कर सकता ?" ये प्रश्न मेरे मन में उठे और उनका मेरे मन ने ही जो उत्तर दिया वह इस प्रकार था—"मैं उनके लिए कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि एक तो वे एक ही स्थान पर बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं और दूसरे वे गांव के गरीबों से बिलकुल भिन्न हैं।"

"तो फिर उनके यहां इतनी बड़ी संख्या में होने का क्या कारण है और उनमें तथा गांव के गरीबों में क्या भेद है?"—ये प्रश्न मेरे मन में फिर उठे और इनका एक ही उत्तर मिला "इन निर्धनों के यहां इतनी बड़ी संख्या में विद्यमान होने का कारण यह है कि गांव में जो

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

लोग अपना पेट नहीं भर पाते वे सब-के-सब यहाँ आकर अमीरों के आसपास इकट्ठे हो जाते हैं। इनकी विशेषता ही यह है कि रोटी कमाने के लिए ये गांव छोड़कर शहर में आ बसे हैं। यदि इनमें कुछ ऐसे हैं जिनका जन्म शहर में ही हुआ था और जिनके बाप-दादा भी शहर में ही पैदा हुए थे तो इसका यह मतलब है कि इनके पूर्वज यहां रोटी कमाने आए होंगे।"

"शहर में रोटी कमाना !" इसका क्या अर्थ है ? इन शब्दों पर विचार करने से पता चलता है कि इनमें एक अजीब मजाक-जैसी बात है। जिस देहात में जंगल हैं, मैदान हैं, अनाज हैं, चौपाए हैं, सारांश यह कि जहां धरती की सारी सम्पदा है—उस देहात को छोड़कर लोग रोटी कमाने के लिए भला ऐसी जगह क्यों आते हैं, जहां न पेड़ हैं, न घास, न धरती और जहां सिर्फ पत्थर और धूल-ही-धूल है ? जिन शब्दों का प्रयोग खाने और खिलानेवाले दोनों ही इस प्रकार करते हैं मानों उनके लिए वे सर्वथा स्पष्ट और बुद्धिगम्य हों, उन शब्दों का क्या अर्थ है ?

मुझे याद है कि जब मैंने नगर में रहनेवाले सैकड़ों और हजारों लोगों से—जिनमें से कुछ अमीर थे और कुछ गरीब—यह पूछा कि आप नगर में क्यों आए हैं तो उनमें से प्रत्येक ने बिना किसी अपवाद के यही उत्तर दिया—

"मास्को में बोया-काटा नहीं जाता, फिर भी वहां धन का ढेर लगा है।"

सबने यही कहा कि मास्को में प्रत्येक वस्तु की बहुलता है और वही एक ऐसा स्थान है जहाँ वे उस धन का उपार्जन कर सकते हैं जिसकी उन्हें गांव में अनाज, मकान, घोड़ा और जीवन-सम्बन्धी अन्य आवश्यक सामग्री खरीदने के लिए आवश्यकता पड़ती है। फिर भी यह तो सब जानते हैं कि गांव ही समस्त सम्पदा का उद्गम है और वहीं वास्तविक धन—अनाज, लकड़ी, घोड़ा आदि—मिलता है। तो फिर जो वस्तु देहात में उपलब्ध है, उसे लेने के लिए लोग शहर क्यों जाते हैं ? इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि गांववालों को आटा, जौ, घोड़े,

चौपाए आदि जिन पदार्थों की स्वयं आवश्यकता रहती है उन्हें वे लोग देहात से शहर में क्यों ले आते हैं ?

इस विषय पर मैंने शहर में रहनेवाले किसानों से सैकड़ों बार चर्चा की और उनकी बातचीत तथा अपने अध्ययन से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि गांववालों का शहर में आना कुछ तो अनिवार्य है, क्योंकि उनके पास पेट पालने का कोई दूसरा साधन नहीं और कुछ स्वेच्छापूर्ण है, क्योंकि नागरिक जीवन के प्रलोभन उन्हें आकर्षित करते हैं। यह सच है कि देहात में किसान की स्थिति कुछ ऐसी होती है कि उसे अपने सिर पर आ पड़नेवाले विविध व्ययों की पूर्ति के लिए अपना वह अनाज और पशु-धन बेचना पड़ता है जिसकी वह जानता है कि उसे स्वयं अवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार विवश होकर—चाहे वह पसन्द करे या न करे—उसे अपना अनाज वापस पाने के लिए शहर जाना पड़ता है; किन्तु साथ-ही-साथ यह भी सच है कि शहर में पैसा कमाने की जो अपेक्षाकृत आसानी होती है उससे आकर्षित होकर और शहरी जीवन के वैभव के लोभ में भी वह शहर की ओर खिंचा चला जाता है। वहां वह जीविका कमाने का बहाना लेकर कम मेहनत का काम ढूंढ़ने, बढ़िया खाने-पहनने, दिन में तीन-चार बार चाय लेने और शराब के नशे में चूर होकर स्वेच्छाचारितापूर्ण जीवन बिताने के लिए भी जाता है।

दोनों परिस्थितियों का कारण एक ही है; वह यह कि धन उत्पादकों के हाथ से निकलकर उन लोगों के पास चला जाता है जो उत्पादक नहीं हैं और इस प्रकार शहर में इकट्ठा हो जाता है। जब सर्दी का मौसम आता है तब ऐसा लगता है जैसे लक्ष्मी गांवों में आ बसी हो, किन्तु तत्काल ही कर, फौजी भरती, लगान आदि सिर पर आ पड़ते हैं और वोडका, शादी-विवाह, उत्सव, खोमचेवाले आदि अनेक आकर्षण मन को खींचने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि भेड़, बछड़ा, गाय, घोड़ा, सूअर, मुर्गी अंडा, मक्खन, सन, राई, जौ, मेथी, मटर, पाट के बीज, अलसी आदि विभिन्न रूपों में सारी सम्पत्ति दूसरे आदमियों के हाथ चली जाती है और फिर देहातों से कस्बों में तथा कस्बों से शहर में पहुँचा

दी जाती है। बेचारा किसान कुछ तो अपने खर्चों की पूर्ति के लिए और कुछ प्रलोभनों के चक्कर में पड़कर अपनी समस्त सम्पत्ति को बेचने के लिए विवश हो जाता है और फिर कंगाल बनकर उसी जगह जाता है जहां उसका धन गया है। वहां वह कुछ तो इस बात का प्रयत्न करता है कि देहात में उसे जिन पदार्थों की नितान्त आवश्यकता है उन्हें प्राप्त करने के लिए पैसे कमा ले और कुछ शहर के प्रलोभनों में फंसकर वह दूसरों के साथ व्यसनों में लिप्त हो जाता है।

सारे रूस में—रूस में ही क्यों, मैं समझता हूँ कि सारे संसार में—ऐसा ही होता है। ग्रामीण उत्पादकों का धन व्यापारियों, जमींदारों, अफसरों और मिल-मालिकों के हाथ में चला जाता है। जिन्हें धन मिलता है, वे स्वाभावतः उसका उपभोग करना चाहते हैं और उसका पूरा-पूरा उपभोग वे केवल नगर में कर सकते हैं। देहात में लोग एक-दूसरे से दूर-दूर रहते हैं जिसके कारण धनवानों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन होती है, क्योंकि वहां न तो कारखाने होते हैं, न बड़ी-बड़ी दुकानें, न बैंक न होटल, न थियेटर, न मनोरंजन के विभिन्न साधन। इसके अलावा, धन से मिलनेवाला जो एक बड़ा सुख अभिमान है, अर्थात् दूसरों को अपनी शान-शौकत से चकित करने और नीचा दिखाने की जो तृष्णा है, वह भी लोगों के दूर-दूर रहने के कारण गांव में बड़ी कठिनाई से तृप्त हो पाती है। गांव में भोग-विलास की वस्तुओं के पारखी नहीं होते, वहाँ ऐसे लोग नहीं होते जिनकी आँखों में इन वस्तुओं से चकाचौंध पैदा की जाय। गांव के मकान को चाहे जितना सजाइए, उनमें चाहे जितने चित्र और मूर्त्तियां लाकर रखिए, चाहे जितने गाड़ी-घोड़े और सौंदर्य-सामग्रियां जुटाइए, वहां उनकी प्रशंसा या उनसे ईर्ष्या करनेवाला कोई नहीं मिलेगा, क्योंकि किसान लोग इन चीजों के बारे में कुछ नहीं समझते। तीसरी बात यह है कि आत्मा की पुकार सुननेवाले और सामाजिक औचित्य की चिन्ता करनेवाले व्यक्ति को गांव में विलासिता अरुचिकर ही नहीं, बल्कि संकटजनक भी प्रतीत होती है। जबकि दूध वहां के बच्चों को भी पीने को नसीब नहीं होता हमारा उससे नहाना या पिल्लों

को पिलाना बड़ा ही भद्दा और अरुचिकर प्रतीत होता है। इसी तरह जो लोग खाद से घिरी हुई कच्ची झोंपड़ियों में रहते हैं और जिनके पास आग जलाने के लिए लकड़ी भी नहीं होती, उनके बीच बड़े-बड़े मंडप बनवाना और बाग लगवाना कष्टकर तथा अस्वाभाविक मालूम देता है। मूर्ख किसान यदि अज्ञानवश इन सब चीजों को नष्ट कर दें तो देहात में ऐसा कोई अधिकारी नहीं जो उन्हें नियन्त्रण में रख सके।

इसीलिए धनी लोग शहरों में इकट्ठे होते हैं और अपनी ही जैसी रुचि के दूसरे धनवानों के बीच जा बसते हैं। वहां भोग-विलास के हर प्रकार के साधन की सावधानी के साथ निगरानी करने के लिए बहुत-सी पुलिस तैनात रहती है। इस तरह के शहरियों में मुख्य स्थान सरकारी कर्मचारियों का है। उनके आसपास तरह-तरह के कारीगर, व्यापारी और धनी लोग आ बसे हैं। धनियों को किसी वस्तु के लिए बस इच्छा भर करने की आवश्यकता होती है और वह वस्तु उनके सामने कर दी जाती है। नगरों में रहना धनिकों को अधिक प्रिय भी होता है, क्योंकि वहां उनके अभिमान को संतुष्टि का मार्ग मिल सकता है। वहां वे भोग-विलास में दूसरों के साथ होड़ कर सकते हैं, उन्हें चकित कर सकते हैं और नीचा भी दिखा सकते हैं। सबसे बड़ी बात, जिसके कारण उन्हें शहर में रहना अधिक रुचिकर प्रतीत होता है, यह है कि पहले तो वैभवशाली होने के कारण उन्हें अपने गांव में रहना बड़ा अप्रिय और कष्टकर लगता था और अब नगर में आ जाने पर उन्हें शान-शौकत से न रहना अप्रिय मालूम होता है; क्योंकि नगर में आसपास के सभी लोग ऐसे ही रहते हैं। रहन-सहन का जो ढंग उन्हें गांव में भयप्रद और भद्दा प्रतीत होता था, वही नगर में बिलकुल उचित लगता है। नगर में एकत्र होकर धनवान लोग अधिकारियों की छत्रछाया में शान्तिपूर्वक उन्हीं पदार्थों की मांग करते हैं जो गांव से आते हैं। जहां अमीर लोग नित्य-नए आमोद-प्रमोद मनाते हैं और गांव से हथियाए हुए धन का उपभोग करते हैं वहां जाने के लिए कुछ अंश में ग्रामीणों को बाध्य हो जाना पड़ता है ताकि वे अमीरों की मेज से गिरनेवाले जूठन से अपना पेट भर सकें। अमीरों के इस आरामतलब

और वैभवपूर्ण जीवन को देखकर कुछ-कुछ देहातियों की भी इच्छा अपने जीवन की इस प्रकार व्यवस्था करने की होती है कि उन्हें स्वयं तो कम काम करना पड़े और वे दूसरों के परिश्रम का अधिक सुख भोग सकें। स्मरण रहे कि इस प्रकार के जीवन को सभी लोग अच्छा समझते हैं और उसका समर्थन करते हैं।

यही कारण है कि देहात के स्त्री-पुरुष शहर जाते हैं और वहां धनिकों का पता लगाकर उनसे उन पदार्थों को, जिनकी उन्हें आवश्यकता होती है, हर सम्भव रीति से वापस लेने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिए अमीर लोग उनपर जो शर्तें लगाते हैं, उन्हें वे स्वीकार कर लेते हैं। वे उनकी सारी मनोवांछित उमंगों की पूर्ति में सहायता देते हैं; या तो उनकी स्त्रियां या वे स्वयं हमामों और होटलों में नौकरी बजाते हैं, कोचवानी या वेयावृत्ति करते हैं, गाड़ियां, खिलौने और फैशनेबिल कपड़े बनाते हैं और धीरे-धीरे धनवानों से उनकी ही तरह रहना सीख लेते हैं। अर्थात, वे स्वयं श्रम न कर दूसरों की भिन्न-भिन्न युक्तियों द्वारा इकट्ठी की हुई सम्पत्ति का अपहरण करना जान जाते हैं और इस प्रकार बिगड़कर नष्ट हो जाते हैं। शहरों में शहर के पैसे से बिगड़े हुए ऐसे ही निर्धन रहते हैं। मैं इन्हींकी सहायता करना चाहता था, किन्तु कर न सका।

जरा गांव के उन लोगों की स्थिति पर विचार कीजिए जो पेट पालने या टैक्स भरने के लिए पैसा कमाने शहर आते हैं! एक ओर तो उन्हें एक-एक पैसे के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है, दूसरी ओर वे देखते हैं कि उनके चारों ओर लोग पागलों की भांति हजारों रुपए पानी की तरह बहा देते हैं और चुटकियों में सैकड़ों रुपए कमा लेते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उसमें से एक भी व्यक्ति मेहनत-मजदूरी करके पेट पालना पसन्द करता है और यदि सब-के-सब पैसा कमाने के आसान साधनों—व्यापार, पशु-विक्रय, भिक्षा, व्यभिचार, धोखा-धड़ी चोरी आदि—का आश्रय नहीं लेते तो यह निस्सन्देह आश्चर्य की बात है।

शहर की अनन्त रंगरलियों में भाग लेते-लेते हम लोग इस प्रकार के जीवन के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हमें अकेले एक आदमी का पांच

बड़े-बड़े कमरों में रहना सर्वथा स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है—ऐसे कमरे, जिन्हें गरम करने के लिए इतना ईंधन जलाया जाता है जितना बीस परिवारों के लिए भोजन बनाने और उनके घरों को गरम रखने के लिए काफी हो सकता है। इसी प्रकार आध मील जाने के लिए दो घोड़े और दो सईस रखने, अपने बेल-बूटेदार फर्शों पर गलीचे बिछाने और नाच-गाने में दस-पांच हजार रूबल व्यय कर देने की बात तो दूर रही, बड़े दिन के वृक्ष के लिए २५ रूबल खर्च करना आदि भी हमें स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है। किन्तु जिस आदमी को अपने परिवार का पेट पालने के लिए दस रूबलों की आवश्यकता है, अथवा जिसकी आखिरी भेड़ सात रूबल का कर भरने के लिए बिकी जा रही है और जो कड़ी मेहनत करके पैसा पैदा नहीं कर पाता, वह ऐसे जीवन का अभ्यस्त नहीं बन सकता। हम लोग समझते हैं कि ये सब बातें गरीबों को स्वाभाविक मालूम देती हैं। कुछ लोग तो यह कहते हुए भी नहीं हिचकते कि हमारे राग-रंग से गरीबों का पेट पलता है और इस बात के लिए वे हमारे कृतज्ञ हैं; परन्तु निर्धन होने से मनुष्य की बुद्धि नहीं मारी जाती। निर्धन भी हमारी ही तरह तर्क-वितर्क कर सकते हैं। जब हम सुनते हैं कि किसीने दस-बीस हजार रूबल उड़ा दिये तो तत्काल हमारे मन में यही विचार आता है—"कितना मूर्ख और बेकार आदमी है यह, जिसने इतने रुपए व्यर्थ ही बर्बाद कर दिये! अगर इतने रुपए मेरे होते तो इनका मैं अपने खेत की उन्नति करने या उस मकान को बनवाने में सदुपयोग करता जिसे बनवाने की मुझे इतने दिनों से इच्छा थी;" आदि-आदि। कंगालों के मन में भी धन को मूर्खतापूर्वक नष्ट होते देख ठीक इसी प्रकार के विचार उठते हैं। सच पूछिए तो उनके मन में ये तर्क-वितर्क और भी अधिक होते हैं, क्योंकि उन्हें उस धन की आवश्यकता किसी लोभ की पूर्त्ति के लिए नहीं, बल्कि जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताएँ जुटाने के लिए होती है। हम लोग यह सोचने में बहुत बड़ी भूल करते हैं कि गरीब लोग इन बातों पर ध्यान नहीं देते और वे अपने चारों ओर फैली हुई विलासिता को शांतिपूर्वक देख सकते हैं।

निर्धनों ने इस बात को कभी उचित नहीं माना और न मानेंग कि कुछ लोग तो सदा गुलछर्रे उड़ायं और कुछ भूखों मरें और हड्डियां तोड़ें। इस अन्याय को देखकर पहले तो उन्हें आश्चर्य के साथ-ही-साथ क्रोध आता है; किन्तु बाद में वे इसके अभ्यस्त हो जाते हैं और यह देख कर कि समाज की ऐसी ही व्यवस्था ठीक मानी जाती है वे स्वयं भी काम से बचने तथा सदा रंगगलियां मनाने की चेष्टा करते हैं। कुछको सफलता मिल जाती है और वे सदा आनन्द-भोग में मस्त रहने लगते हैं; कुछ इस प्रकार के जीवन को प्राप्त करने के लिए धीरे-धीरे अपनी भावनाएं उत्तेजित करने लगते हैं और कुछ अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में असफल होने के कारण हताश हो जाते हैं और मेहनत-मजदूरी की आदत छूट जाने से वेश्यालयों या अनाथाश्रमों की शरण लेते हैं।

दो वर्ष हुए हम लोग एक किसान के लड़के को नौकरी करने के लिए गांव से लाए। उसकी दरबान से नहीं पटी और वह निकाल दिया गया। बाद में उसे एक सौदागर के यहां काम मिल गया। उसने सौदागर को खुश कर लिया और अब वह चमचमाते हुए बूट पहनकर अपनी वास्कट में जंजीर लगाए फिरता है। उसकी जगह हमने एक गृहस्थ किसान को नौकर रखा। वह शराब पीने लगा और कुछ रुपए गंवा बैठा। हमने तीसरा आदमी रखा। वह पियक्कड़ था। उसने कपड़े-लत्ते बेचकर शराब पी डाली और फिर बहुत दिनों तक वह अनाथालयों में मारा-मारा फिरता रहा। इसी तरह एक बूढ़ा बावर्ची गांव से शहर में आकर शराब पीने का आदी बन गया और बीमार पड़ गया। एक दरबान भी, जो पहले बहुत शराब पीता था किन्तु जो गांव में रहते हुए पिछले पांच वर्ष से अपने को नशे से बचाता आया था, पार-साल मास्को आकर फिर शराब पीने लगा और इसीमें उसने अपना सारा जीवन नष्ट कर डाला। गांव में तो उसकी स्त्री उसे शराब पीने से रोकती रहती थी; किन्तु शहर में वह अकेला ही रहता था और उसे रोकनेवाला कोई नहीं था। हमारे गांव का एक लड़का मेरे भाई के यहाँ नौकरी करता है। जब मैं गांव गया था तो एक दिन

उसका अंधा दादा मेरे पास आया और बोला कि बाबूजी, किसी तरह मेरे पोते को शर्मिन्दा करके टैक्स के लिए दस रूबल भिजवा दो, नहीं तो मुझे अपनी गाय बेचनी पड़ेगी। बूढ़े ने कहा—"वह हमेशा यही कहता है कि शहर में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने पड़ते हैं। उसने बूट खरीद लिये हैं। इतना ही बहुत है; लेकिन मेरा खयाल है कि अब वह घड़ी खरीदने की धुन में है।" बूढ़े ने यह बात इस तरह कही जैसे उसकी राय में घड़ी खरीदने से बढ़कर और कोई पागलपन हो ही नहीं सकता। निस्सन्देह यदि लोगों को यह मालूम हो जाय कि बेचारे बूढ़े को लेन्ट के व्रत में खाने के साथ तेल तक मयस्सर नहीं हुआ था और एक रूबल तथा बीस कोपेक का ऋण न भर सकने के कारण उसकी काटी हुई लकड़ी उसके हाथ से निकली जा रही है तो उन्हें उसके पोते का घड़ी खरीदने का प्रस्ताव पागलपन ही जंचेगा। बाद में पता चला कि बूढ़े का आक्षेप ठीक था। उसका पोता बढ़िया कपड़े का काला ओवरकोट और बूट पहने मेरे पास आया। ये बूट उसने आठ रूबल में खरीदे थे। कुछ दिन पहले उसने मेरे भाई से दस रूबल पेशगी लिये थे और उन्हींमें से वह बूट खरीदकर लाया था। मेरे लड़कों ने, जो उसे बचपन से जानते हैं, मुझे यह भी बतलाया कि घड़ी खरीदना वह सचमुच अपने लिए आवश्यक समझता है। लड़का बहुत अच्छे स्वभाव का है; किन्तु समझता है कि जबतक उसके पास घड़ी नहीं होगी तबतक लोग उसकी हँसी उड़ाते रहेंगे, इसलिए घड़ी उसके लिए जरूरी है। इस साल हमारे यहां की एक अट्ठारह वर्ष की नौकरानी का साईस के साथ सम्बन्ध हो गया। इसपर उसे हमने निकाल दिया। इस बात की चर्चा जब मैंने अपनी बूढ़ी धाय से की तो उसने मुझे एक और दुखिया लड़की की याद दिलाई जिसे मैं भूल गया था। दस साल पहले जब हम कुछ दिनों के लिए मास्को रहे थे तब उसका भी एक दरबान से सम्बन्ध हो गया था और उसे भी हमने नौकरी से अलग कर दिया था। अन्त में वह एक वेश्यालय में जा पहुँची थी और अपने जीवन का बीसवां वर्ष पूरा करने से पहले-ही-पहले उपदंश रोग से पीड़ित होकर एक अस्पताल में मर गई थी। यदि हम उन मिलों और

कारखानों को छोड़ दें जो हमारे लिए भोग-विलास की सामग्री तैयार करने में निरन्तर रत रहते हैं तो भी हम अपने चारों ओर उस छूत को देखकर दहल उठेंगे जो हम अपनी विलासिता द्वारा ठीक उन्हीं लोगों में प्रत्यक्ष रूप से फैलाते हैं जिनकी बाद में हम सहायता करना चाहते हैं।

इस प्रकार जिस नागरिक दरिद्रता को दूर करने में मैं असमर्थ रहा था, उसके स्वरूप का अध्ययन करने पर मुझे उसके दो कारण दिखाई दिये—पहला तो यह है कि मेरे-जैसे लोग गांववालों की आवश्यकता की चीजें एकत्र कर शहर ले आते हैं और दूसरा यह कि शहर में हम गांवों से बटोरी हुई सम्पत्ति के बल पर ऐश-आराम करते हैं और अपनी विलासिता से उन ग्रामीणों को ललचाते तथा भ्रष्ट करते हैं जो गांव से लाई गई वस्तु को किसी-न-किसी प्रकार वापस ले जाने के लिए हमारे पीछे-पीछे शहर आते हैं।

: १४ :

बीच की दीवार

इससे बिलकुल विपरीत दृष्टिकोण से विचार करने पर भी मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा। इस बीच शहर के कंगालों के साथ मेरा जो सम्बन्ध स्थापित हुआ था उसपर विचार करने पर मैंने यह अनुभव किया कि उन कंगालों की सहायता न कर सकने का एक कारण यह था कि उन्होंने मेरे साथ कपट किया और मुझसे झूठ बोला। वे मुझे मनुष्य नहीं, एक साधन समझते थे। मैं उनके सम्पर्क में न आ सका और मैंने सोचा कि शायद यह काम मुझे आता ही नहीं; किन्तु मैंने देखा कि जबतक वे सचाई से काम नहीं लेंगे तबतक उनकी सहायता नहीं की जा सकती। जबतक कोई व्यक्ति अपनी पूरी स्थिति न बतलाय तबतक उसकी सहायता कैसे की जा सकती है ? पहले मैंने इसका दोष कंगालों के ही सिर मढ़ा—दूसरों पर दोषारोपण करना बड़ा स्वाभाविक

होता है; किन्तु उन दिनों मेरे पास ठहरे हुए सुताएफ़[1] नामक एक विलक्षण पुरुष के एक शब्द ने सारी स्थिति स्पष्ट कर दी और मुझे मेरी असफलता का गूढ़ कारण समझा दिया। मुझे याद है कि सुताएफ़ की बात का उस समय भी मुझपर गहरा असर पड़ा था, किन्तु उसका पूरा महत्त्व मैं बाद में समझ पाया। यह उस समय की बात है जब मेरी आत्मप्रवंचना अपनी चरमसीमा पर पहुँची हुई थी। मैं अपनी बहन के यहां बैठा हुआ था। सुताएफ़ भी वहीं था और मेरी बहन मुझसे मेरी योजना के सम्बन्ध में कुछ पूछताछ कर रही थी। मैंने उसे बताना आरम्भ किया और—जैसा कि काम में पूरा विश्वास न होने पर सदा होता है—मैं उसके सामने अपने काम और उसके परिणामों का बड़ी तन्मयता तथा उत्साह के साथ बढ़-बढ़कर बखान करने लगा। मैंने उसे बतलाया कि किस प्रकार हम अनाथों और बूढ़ों की देखभाल करेंगे, किस तरह शहर में गुजारा न चला सकनेवाले किसानों को देहात वापस भेज देंगे, किस प्रकार पतितों के सुधार का मार्ग प्रशस्त करेंगे और किस प्रकार हमारी योजना के सफल होने पर मास्को में एक भी व्यक्ति निस्सहाय नहीं रह जायगा। मेरी बहन ने मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की और हम इसी विषय पर बातचीत करते रहे। इसी बीच मैंने सुताएफ़ पर दृष्टि डाली। मैं जानता था कि वह पक्का ईसाई है और दानशीलता को बहुत महत्त्व देता है। स्वभावतः मुझे आशा थी कि वह मेरा समर्थन करेगा और इसीलिए मैंने बातचीत इस ढंग से की कि वह मेरा आशय समझ जाय। वैसे तो मैं सारी बातें अपनी बहन को सम्बोधित करके कह रहा था; किन्तु वास्तव में वे सुताएफ़ के लिए ही थीं। भेड़ की खाल का काला कोट पहने—जिसे वह

---

[1] **सुताएफ़ का उल्लेख पहले आ चुका है। यह वही किसान था जिसने टॉल्सटॉय के यहां आए हुए लड़के को मजदूरी करने के लिए गांव चलने को कहा था; किन्तु उस लड़के ने टॉल्सटॉय की नौकरी छोड़कर सर्कस में नौकरी कर ली थी। टॉल्सटॉय इस किसान का बड़ा सम्मान करते थे।**

किसानों की तरह घर पर और घर से बाहर भी, सब जगह पहने रहता था—वह पत्थर-जैसा अचल बैठा था। ऐसा प्रतीत होता था कि वह हमारी बातें नहीं सुन रहा है और अपने ही विचारों में मग्न है। उसकी छोटी-छोटी आंखें बन्द प्रतीत होती थीं, मानों वे अन्दर की ओर देख रही हों। अपनी बात समाप्त कर मैंने उसको सम्बोधित किया और पूछा कि तुम्हारी क्या राय है।

"यह सब व्यर्थ है," उसने कहा।

"क्यों ?"

"आप जो सभा बनाने जा रहे हैं वह बिलकुल व्यर्थ होगी, उससे कोई लाभ नहीं निकलेगा," सुताएफ़ ने आत्मविश्वास के साथ दुहराया।

"क्यों नहीं निकलेगा ? अधिक को न सही, हजारों या सैकड़ों अभागों को ही सही, मदद देना व्यर्थ क्यों जायगा ? क्या नंगों को कपड़ा और भूखों को भोजन देना बुरा है ? यह तो बाइबिल का उपदेश है।"

"मैं जानता हूँ कि यह बाइबिल का उपदेश है; किन्तु आप ठीक ढंग से काम नहीं कर रहे हैं। क्या मदद करने का यही तरीका है ? आप टहलने निकलते हैं; रास्ते में आपसे कोई बीस कोपेक मांगता है और आप दे देते हैं। क्या यही दान है ? यदि आप दे सकते हैं तो मांगनेवाले को आध्यात्मिक दान दीजिए, उसको शिक्षा दीजिए। किन्तु इसकी बजाय आप क्या करते हैं ? पैसा देकर गरीब से महज पीछा छुड़ा लेते हैं।"

"नहीं, हम इसकी बात नहीं कर रहे हैं। हम गरीबों की आवश्यकताएं जानना चाहते हैं और जो जरूरतमन्द हैं उन्हें धन तथा काम देना चाहते हैं और उनके लिए नौकरी भी ढूंढ़ना चाहते हैं।"

"इस तरह से आप इन लोगों के लिए कुछ नहीं कर सकेंगे।"

"क्या मतलब ? क्या इन्हें भूख और ठंड से मरने दिया जाय ?"

"वे मरें क्यों ? उनकी संख्या इतनी अधिक तो नहीं।"

"है क्यों नहीं ?" यह बात मैंने यह सोचकर कही कि सुताएफ़ इस चर्चा को इसलिए इतना तुच्छ समझ रहा है कि उसे यह पता ही

नहीं कि रूस में कंगालों की संख्या कितनी विशाल है। मैं बोला—"क्या तुम्हें मालूम नहीं कि अकेले मास्को में करीब बीस हजार भूखे और ठंड से कंपकंपाते हुए अभागे हैं? इसके अलावा पीट्र्सबर्ग और दूसरे शहरों में भी..."

इसपर सुताएफ़ मुसकराया और बोला—"बीस हजार! और रूस में कुल घर कितने होंगे? दस लाख?"

"अच्छा, मान लो दस लाख! तो इससे क्या?"

"इससे क्या?" उसकी आँखें चमक उठीं और उसने आवेश में आकर कहना आरम्भ किया—"क्यों न हम इनको अपने में बाँट लें! मैं अमीर नहीं हूं, फिर भी तत्काल दो का भार अपने ऊपर लेने को तैयार हूं। आपके बावर्चीखाने में जो लड़का था उसे मैंने अपने साथ चलने के लिए कहा था; लेकिन वह राजी नहीं हुआ। मैं तो कहता हूं कि अगर इससे दसगुने कंगाल हों तब भी हम उन सबको शरण दे सकते हैं। एकको आप रख लीजिए, दूसरे को मैं रख लूंगा। मैं जिसको रखूंगा उसके साथ स्वयं काम करने जाऊंगा। वह मेरे काम करने का ढंग देखेगा और इस तरह जीवन-निर्वाह की विधि सीखेगा। हम सब एक मेज पर बैठकर खाना खायेंगे; उसे कभी मुझसे और कभी आपसे उपदेश के दो शब्द सुनने को मिलेंगे। सच्चा दान यह है। आपकी योजना तो बिलकुल बेकार है।"

उसकी यह सीधी-सी बात मेरे मन में बैठ गई और मुझे उसकी सार्थकता को स्वीकार करना पड़ा। फिर भी उस समय मुझे ऐसा लगा कि यद्यपि सुताएफ़ की बात ठीक है तथापि सम्भव है कि मैंने जो कार्य आरम्भ किया है वह भी उपयोगी सिद्ध हो। किन्तु ज्यों-ज्यों मेरा काम आगे बढ़ता गया और जैसे-जैसे मैं निर्धनों के निकटतर सम्पर्क में आता गया, वैसे-वैसे मुझे सुताएफ़ के शब्दों की अधिकाधिक याद आने लगी और वे मेरे लिए अधिकाधिक अर्थपूर्ण बनते गए। इसमें सन्देह नहीं कि जब मैं घर से बाहर निकलता हूं तो एक बहुमूल्य रोएंदार कोट पहनकर या स्वयं अपनी गाड़ी में निकलता हूं। एक ऐसा आदमी, जिसके पास जूते तक नहीं हैं, मेरे दो हजार रूबल के मकान पर

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

दृष्टि डालता है या केवल यह देखता है कि जब कभी मेरा जी चाहता है तभी मैं बिना खेद के किसीको भी पांच रूबल दे बैठता हूं। इससे वह समझता है कि मेरे इस प्रकार रूबल लुटाने का कारण यह है कि मैंने बहुत-से रूबल इकट्ठे कर लिये हैं और मेरे पास बहुत-से रूबल फालतू भी हैं जिन्हें मैंने किसीको देने की बजाय ठीक इसके विपरीत दूसरों से सरलतापूर्वक हड़प लिया है। स्वभावतः वह आदमी मेरे विषय में इसके अतिरिक्त और क्या सोच सकता है कि जो धन वास्तव में उसका होना चाहिए था उसे मैंने हथिया लिया है ? इसी तरह मेरे प्रति उसकी और क्या भावना हो सकती है सिवा इसके कि मैंने उससे और दूसरों से जो हथियाया है उसे वह अधिक-से-अधिक परिमाण में वापस ले ले ? चाहता तो मैं यह हूँ कि उसके सम्पर्क में जाऊं और उससे शिकायत करूं कि तुम साफ-साफ बातें नहीं करते; किन्तु मुझे उसके बिछौने पर बैठते हुए डर लगता है कि कहीं मेरे कपड़ों पर जूं न चढ़ जाय, कहीं मुझे कोई छूत की बीमारी न लग जाय। मैं उसको अपने कमरे में भी घुसने नहीं देता। जब वह भूख से बिलबिलाता हुआ मेरे पास आता है तब उसे मेरी दुबारी या बाहर बरसाती में ही प्रतीक्षा करनी पड़ती है और वह भी यदि उसके भाग्य सीधे हुए तब। फिर भी मैं कहता यही हूं कि यदि मैं उसके सम्पर्क में नहीं आ पाता या वह मुझसे खुलकर बातें नहीं करता तो इसका दोष उसपर ही है।

यदि हम नाना प्रकार के व्यंजन लेकर ऐसे लोगों के बीच भोजन करने बैठ जायं जिन्हें खाने को कुछ नहीं मिला है और जिन्हें केवल सूखी रोटी मयस्सर होती है, तो—हम चाहे कितने ही कठोर हृदय क्यों न हों—यह सम्भव नहीं कि हम स्वयं तो खा लें और भूखे लोग ओठ चाटते रह जायं। अतः भूखों के बीच रहते हुए स्वादिष्ट भोजन करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने-आपको उनसे छिपा लें और ऐसी जगह भोजन करें जहां वे हमें देख न सकें। सच पूछिए तो ऐसा ही हम करते भी हैं।

सामाजिक जीवन पर कुछ अधिक सरल ढंग से विचार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि निर्धनों के सम्पर्क में आने में हमें जो

कठिनाई दिखाई देती है वह केवल संयोग की बात नहीं है, बल्कि हम जान-बूझकर अपने जीवन की व्यवस्था इस प्रकार कर लेते हैं कि उससे निर्धनों के सम्पर्क में आना कठिन हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि जब मैंने निष्पक्ष भाव से अमीरों के जीवन पर विचार किया तो देखा कि हमारे जीवन में जो सुख समझा जाता है वह वास्तव में वह वस्तु है—या कम-से-कम उसका उस वस्तु से अटूट सम्बन्ध है—जो हमें कंगालों से यथासम्भव अधिक-से-अधिक अलग रखती है। सच पूछिए तो हमारे वैभवपूर्ण जीवन के समस्त प्रयत्नों—हमारे भोजन, कपड़े, मकान, सफाई और शिक्षा तक—का मुख्य उद्देश्य हमें गरीबों से अलग रखना है। इस प्रकार अपने और निर्धनों के बीच अलंघ्य दीवारें खड़ी करने में हम अपनी सम्पत्ति का दस में से कम-से-कम नवां भाग अवश्य उड़ा डालते हैं। धनवान बनने पर हम जो पहला काम करते हैं वह है दूसरों के साथ एक ही बर्तन में भोजन करना बन्द कर देना[1]। हम चीनी के बर्तन मंगा लेते हैं और अपनेको रसोई-घर तथा नौकर-चाकरों से अलग कर लेते हैं।

हम अपने नौकरों को भरपेट भोजन कराते हैं, ताकि हमारे स्वादिष्ट भोजन को देखकर उनके मुँह में पानी न भर आए। हम स्वयं अलग भोजन करते हैं; किन्तु अकेले खाना अच्छा न लगने के कारण भोजन को सुधारने और मेज को सजाने के लिए तरह-तरह की युक्तियां करते हैं, यहांतक कि हमारे भोजन करने की रीति अभिमान तथा गर्व का विषय बन जाती है। हमारा भोजन करने का ढंग हमें दूसरों से अलग करने का एक साधन बन जाता है। किसी निर्धन को भोजन के लिए निमन्त्रित करना अमीरों के लिए कल्पना से बाहर की बात है। भोज में सम्मिलित होने के लिए कितने ही शिष्टाचारों का ज्ञान आवश्यक है—जैसे महिलाओं को मेज तक पहुँचाना, एक विशेष ढंग से झुकना, बैठना, खाना, उंगलियों को कटोरी में धोना आदि—

---

[1]रूस के किसान-परिवार में सब लोग एक बड़े बर्तन में से अपनी-अपनी काठ की चम्मच से भोजन निकालकर खाते हैं।

और ये शिष्टाचार केवल धनवान ही जानते हैं। यही बात कपड़ों के सम्बन्ध में भी है। यदि कोई धनी व्यक्ति केवल ठंड से शरीर की रक्षा करने के लिए कपड़े पहने तो उसे बहुत ही थोड़े कपड़ों की आवश्यकता पड़ेगी। एक ओवरकोट, एक भेड़ की खाल का कोट, एक जोड़ी फेल्ट जूता, एक जोड़ी चमड़े का जूता, एक किसानोंवाला कोट, पाजामा और कमीज—बस इतना ही उसको काफी होगा और यदि उसके पास भेड़ की खाल के दो कोट होंगे तो वह उसमें से एक कोट किसी बिना कोटवाले आदमी को देने में आनाकानी नहीं कर सकेगा। किन्तु अमीर लोग विशेष-विशेष अवसरों के लिए विशेष-विशेष प्रकार की पोशाक बनवाते हैं और ये पोशाकें गरीबों के मतलब की नहीं होतीं। धनवानों के पास ड्रेसकोट, वेस्टकोट, जाकेट, पेटेंट चमड़े के जूते, लबादे, फ्रांसीसी एड़ी के जूते, छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़कर बनाए गए फैशनेबिल कपड़े, शिकारी लिबास, सफरी जाकेट आदि तरह-तरह के वस्त्र होते हैं। ये कपड़े केवल उन्हीं लोगों के काम आ सकते हैं जो निर्धनता से बहुत दूर होते हैं। अतः वस्त्र भी हमें गरीबों से अलग करने के साधन बन जाते हैं। फैशन का उद्देश्य ही अमीरों को गरीबों से अलग रखना है। यही बात कुछ और भी स्पष्ट रूप में हमारे मकानों से सिद्ध होती है। दस कमरों में अकेले रहने के लिए यह आवश्यक है कि एक कमरे में दस-दस की संख्या में रहनेवाले लोग उन कमरों को न देख सकें। आदमी जितना ही अधिक अमीर होता है उतना ही उस तक पहुँचना अधिक कठिन होता है, अर्थात् उसके और निर्धनों के बीच उतने ही अधिक दरबान होते हैं और निर्धनों के लिए उसके गलीचों पर चलकर उसकी साटन की कुर्सी पर बैठना उतना ही कम सम्भव होता है। सवारी के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि बैलगाड़ी में बैठकर जाता हुआ कोई किसान किसी पैदल बटोही को बैलगाड़ी में चढ़ा लेने से इन्कार करे तो वह निस्सन्देह बड़ा ही कठोर-हृदय माना जायगा। उसकी गाड़ी में जगह होती है और उसे पैदल चलनेवालों को बैठा लेने का अवसर भी प्राप्त होता है; किन्तु गाड़ी जितनी बढ़िया होती है उतनी ही उसमें किसी दूसरे को स्थान

मिलने की कम सम्भावना होती है। इसीलिए जो गाड़ियाँ सबसे सुन्दर होती हैं उनमें से कुछ 'एक सवारीवाली' गाड़ी कहलाती हैं।

'स्वच्छता' शब्द से जिस जीवनक्रम का बोध होता है उसके सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उन मनुष्यों को—विशेषत: उन स्त्रियों को—भला कौन नहीं जानता जो स्वच्छता को एक महान् सद्गुण मानते हैं? और कौन ऐसा है जो स्वच्छता की युक्तियों से अपरिचित हो? जबतक ये युक्तियां दूसरों के श्रम के बल पर काम में लाई जाती हैं तबतक वे अनन्त होती हैं। जो लोग धनवान बन गए हैं, उनमें से ऐसा कौन है जो अपने अनुभव से यह न जानता हो कि सफाई की आदत उसे कितनी कठिनाई और कष्ट से पड़ी है? इससे तो यही कहावत चरितार्थ होती है कि गोरे हाथों को दूसरों की ही मेहनत अच्छी लगती है।

आज स्वच्छता इस बात में मानी जाती है कि एक कमीज हर रोज बदली जाय। कल शायद इस बात में मानी जायगी कि दिन भर में दो कमीजें बदली जायं। इसी तरह आज सफाई इस बात में समझी जाती है कि मुँह-हाथ प्रतिदिन धोए जायं[1], कल इस बात में समझी जायगी कि प्रतिदिन पैर भी धोए जायं और परसों इस बात में कि प्रतिदिन सारे शरीर को स्नान कराया जाय और वह भी एक विशेष ढंग से रगड़कर। आज एक मेजपोश दो दिन चलता है, कल रोजाना बदला जायगा और परसों दिन में दो बार। आज स्वच्छता के लिए केवल इतना आवश्यक समझा जाता है कि दरबान के हाथ साफ हों; किन्तु कल उसके लिए साफ दस्ताने पहनना अनिवार्य हो जायगा और उसे आदेश मिलेगा कि वह चिट्ठियां साफ दस्ताने पहनकर साफ तश्तरी में लाया करे। इस तरह जब सफाई दूसरों के शरीर से कराई जाती है तब उसकी कोई सीमा नहीं होती और उससे कोई लाभ भी

---

[1] रूस में इतनी कड़ी सर्दी पड़ती है कि वहां साधारण व्यक्तियों के लिए प्रतिदिन स्नान करना सम्भव नहीं। इसकी सुविधा तो वहां के अमीर लोगों के लिए ही हो सकती है।

नहीं होता, सिवा इसके कि वह हमें दूसरों से अलग रखने का साधन बन जाती है और उसके कारण हमारा दूसरों से संपर्क रखना असम्भव हो जाता है।

इतना ही नहीं, जब मैंने इस प्रश्न पर कुछ और गम्भीरता के साथ विचार किया तो मुझे विश्वास हो गया कि साधारणतः हम जिसे शिक्षा कहते हैं उसके सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है।

भाषा हमें धोखा नहीं देती। जनता जिस वस्तु का जो अर्थ लगाती है, वही भाषा भी व्यक्त करती है। साधारण लोग जिस वस्तु को 'शिक्षा' कहते हैं वह है फैशनेबिल वेशभूषा, शिष्टतापूर्ण बातचीत, उजले हाथ और एक विशेष प्रकार की स्वच्छता। इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति दूसरों की तुलना में 'शिक्षित' कहलाता है। उच्च वर्ग के व्यक्तियों में भी 'शिक्षा' का यही अर्थ लिया जाता है; परन्तु वहां पियानो बजाने की योग्यता, फ्रांसीसी भाषा का ज्ञान, हिज्जे की गलती किये बिना रूसी भाषा में पत्र लिखने की क्षमता तथा कुछ अधिक बाह्य स्वच्छता भी 'शिक्षा' के उपकरणों में जोड़ लिये जाते हैं। और भी उच्च वर्ग के लोगों में उक्त गुणों के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा का ज्ञान, किसी उच्च शिक्षण-संस्था की डिग्री तथा और भी अधिक मात्रा में बाह्य स्वच्छता 'शिक्षा' के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं। किन्तु उक्त तीनों प्रकार की शिक्षा वस्तुतः एक ही है। 'शिक्षा' का अर्थ है वह आचार-व्यवहार और वह ज्ञान जो एक मनुष्य को दूसरों से अलग करता है। इसका भी वही उद्देश्य है जो स्वच्छता का—अर्थात्, हम धनवानों को निर्धनों से अलग रखना जिससे कि भूखे और नंगे यह न देख सकें कि हम किस तरह मौज उड़ाते हैं। फिर भी हमारा राग-रंग छिप नहीं पाता और वे उसे देख ही लेते हैं।

इस प्रकार मुझे विश्वास हो गया कि हम अमीरों का शहर के गरीबों की सहायता न कर सकने का एक कारण यह भी है कि हम लोगों के लिए उनके संपर्क में आना असम्भव है और हमने अपने और उनके बीच यह खाई स्वयं अपनी जीवनचर्या और अपने धन के विभिन्न

प्रयोगों से खोद ली है। मुझे यह विश्वास हो गया कि हम धनवानों और निर्धनों के बीच स्वच्छता और शिक्षा की एक दीवार है, जिसे हमने स्वयं अपने धन से खड़ा किया और मजबूत बनाया है। अतः कंगालों की सहायता करने के योग्य बनने के लिए हमें सबसे पहले इस दीवार को गिराना है ताकि हम एक-एक दो-दो अनाथ को शरण देने की सुताएफ़ द्वारा बताई गई युक्ति काम में ला सकें। इस दृष्टि-कोण से विचार करने पर भी मैं उसी परिणाम पर पहुंचा जिसपर नगर की दरिद्रता को दृष्टि में रखकर सोचविचार करने पर पहुंचा था—अर्थात् यह कि शहरी दरिद्रता का कारण हमारी सम्पत्ति है।

: १५ :

तो दोषी हम ही हैं

मैंने इस प्रश्न पर एक और भी दृष्टिकोण से विचार करना आरम्भ किया। वह दृष्टिकोण पूर्णतः व्यक्तिगत था। परोपकार का कार्य करते समय मुझपर जिन बातों का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा था उनमें से एक बड़ी अद्भुत थी और बहुत दिनों तक मैं उसका कारण नहीं ढूंढ पाया। बात यह थी कि घर पर या सड़क पर जब कभी मुझे किसी कंगाल को बिना बातचीत किये ही पैसा देने का संयोग होता तो मैं देखता या मुझे ऐसा लगता कि उसके मुख पर प्रसन्नता और कृतज्ञता के भाव झलक रहे हैं। ऐसे अवसरों पर मुझे स्वयं भी बड़ी सुखकर अनुभूति होती थी। मुझे ऐसा लगता था जैसे मैंने वही काम किया है जो वह कंगाल चाहता था और जिसकी उसे मुझसे आशा थी, किंतु जब कभी मैं ऐसे व्यक्ति से बातचीत करने के लिए ठहर जाता और उसके पिछले तथा वर्तमान जीवन के सम्बन्ध में सहानुभूति के साथ विस्तारपूर्वक पूछताछ करने लगता, तब मुझे उसे तीन-चार या दस-बीस कोपेक देना ठीक नहीं जंचता और अपना बटुवा टटोलते हुए मैं इस सोच में पड़ जाता कि आखिर कितना दूं। उस दशा में मैं सदा अधिक ही दे दिया करता था।

फिर भी मैं देखता था कि वह मेरे पास से असंतुष्ट होकर गया है। यदि मैं उससे और भी घनिष्ठतापूर्वक बातें करने लगता तो पैसों की संख्या के संबंध में मेरा असमंजस और भी बढ़ जाता और उस समय मैं चाहे कितना भी दे डालता, कंगाल मेरे पास से पहले की अपेक्षा अधिक निराश और अधिक असंतुष्ट ही होकर जाता। यह एक नियम-सा हो गया था कि जब-कभी मैं किसी कंगाल को अधिक घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने के बाद तीन या अधिक रूबल देता तो सदा उसके मुख पर निराशा, असंतोष और क्रोध तक के भाव झलकने लगते। कभी-कभी तो ऐसा होता कि मेरे दस रूबल दे देने पर भी वह धन्यवाद तक देने का शिष्टाचार न दिखाता और चुपचाप चल देता, मानों मैंने उसके साथ कोई अपराध कर दिया हो। ऐसे अवसरों पर मुझे सदा बेचैनी होती, अपने ऊपर लज्जा आती और ऐसा अनुभव होता जैसे मैं वास्तव में अपराधी हूं। इससे भी आगे बढ़कर यदि मैं किसी निर्धन को हफ़्तों, महीनों या वर्षों सम्पर्क में रहने के बाद सहायता देता और उसे अपने विचार बतलाने का प्रयत्न करते हुए घनिष्ठता स्थापित करता तो उसके साथ मेरे संबंध दुखदाई बन जाते और मुझे लगता कि वह मुझसे घृणा करता है। उस समय मेरी अंतरात्मा कहती कि उसका ऐसा करना ठीक ही है।

सड़क पर जाते समय यदि कोई भिखारी दूसरे राहगीरों की तरह मुझसे भी तीन कोपेक मांग ले और मैं उसको दे दूं तो उसकी दृष्टि में मैं एक नेक और दयालु राहगीर बन जाऊंगा—एक ऐसा राहगीर जो किसी नंगे के लिए कमीज बनवाने में योग देने के निमित्त एक धागा दान देता है। सच पूछिए तो वह भिखारी एक धागे से अधिक की आशा भी नहीं रखता और यदि मैं उसको इतना दे देता हूं तो वह मुझे दिल से दुआ देता है। किंतु यदि मैं उसके पास रुककर एक भाई के नाते बातें करता हूं और यह प्रदर्शित करता हूं कि मैं उसके लिए एक राहगीर की अपेक्षा कुछ अधिक बनना चाहता हूं और—जैसाकि अक्सर होता है—यदि वह रो-रोकर मुझे अपना दुखड़ा सुनाने लगता है, तब वह मुझे केवल एक राहगीर नहीं बल्कि एक दयालु पुरुष

समझने लगता है, जैसाकि मैं स्वयं चाहता हूं कि वह समझे। किंतु यदि मैं सचमुच दयालु हूं तो मेरी दया बीस कोपेक या दस रूबल या दस हजार रूबल पर समाप्त नहीं हो सकती। यह सम्भव नहीं कि हम थोड़े-से ही नेक बनकर रह जायं। मान लीजिए मैंने किसीको बहुत-सा धन दे दिया है; उसको रहने की जगह और पहनने को कपड़े भी दिलवा दिये हैं और उसे इस योग्य बना दिया है कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके और दूसरों की दया पर निर्भर रहे बिना ही अपना जीवन-निर्वाह कर सके। इतने पर भी यदि दुर्भाग्यवश या स्वयं अपनी दुर्बलता अथवा दुश्चरित्रता के कारण वह व्यक्ति मेरे दिये हुए ओवरकोट, कपड़े अथवा रुपए को गंवा दे और भूखों मरता तथा जाड़े में ठिठुरता मेरे पास दुबारा आय तो मैं उसे इन्कार क्यों कर दूं? यदि मेरी चेष्टाओं का उद्देश्य केवल भौतिक वस्तुओं की पूर्ति करना हो—जैसे, किसी निर्धन को रूबल दे देना या ओवरकोट बनवा देना—तब तो उसके लिए एक बार इतना कर चुकने के बाद मैं निश्चिंत बैठ सकता हूं; किंतु मेरी चेष्टाओं का उद्देश्य इतना ही नहीं है। मेरा उद्देश्य तो दयालु बनना है; मैं चाहता हूं कि मैं अपनी ही प्रतिच्छाया उन व्यक्तियों में देखूं। दयालुता का सब लोग यही अर्थ मानते हैं, कोई दूसरा नहीं। अतः यदि हम किसी निर्धन की बीस बार सहायता करें और प्रत्येक बार वह सारे पैसों की शराब पीकर फिर भूखा और नंगा हो जाय तब भी यह सम्भव नहीं कि यदि हम वास्तव में दयालु हैं तो उसकी पुनः सहायता किये बिना रह जायंगे। इतना ही नहीं, बल्कि जबतक भी हमारे पास उस निर्धन से अधिक धन रहेगा तबतक हम उसे सहायता देना बंद नहीं करेंगे और यदि हम उसकी सहायता करने से हाथ खींचेंगे तो यह प्रमाणित करेंगे कि हमने जो-कुछ किया था वह इसलिए नहीं किया था कि हम दयालु हैं बल्कि इसलिए कि हम उसकी और दूसरे लोगों की आंखों में दयालु दिखाई देना चाहते थे।

जब-जब मुझे निर्धनों की सहायता करने से हाथ खींचना पड़ा और इस प्रकार अपनी दयालुता को तिलांजलि देनी पड़ी, तभी-तभी मुझे मर्मान्तिक लज्जा का अनुभव हुआ।

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

ऐसी ही लज्जा का अनुभव मुझे ल्यापिन-अनाथालय में हुआ था और उससे पहले तथा बाद में भी जब-कभी मैं गांव में गरीबों को पैसा या कोई दूसरी वस्तु देता और जब कभी मैं नगर में दरिद्रों के बीच जाता तो मुझे ऐसी ही अनुभूति होती।

हाल की एक घटना ने मुझे इस लज्जा का बड़ा ही मार्मिक स्मरण कराया और यह भी स्पष्ट कर दिया कि निर्धनों को पैसा देते समय मुझे ऐसी अनुभूति क्यों होती थी।

यह घटना गांव में घटी। एक तीर्थयात्री को देने के लिए एक बार मुझे बीस कोपेक की आवश्यकता पड़ी। मैंने अपने लड़के से कहा कि जाकर किसीसे उधार मांग ला। उसने कोपेक लाकर तीर्थयात्री को दे दिये और मुझे बतलाया कि यह रकम वह रसोइए से उधार ले आया है। कुछ दिनों बाद कुछ और तीर्थयात्री आए और मुझे फिर बीस कोपेक की आवश्यकता पड़ी। मेरे पास एक रूबल था। तभी मुझे याद आया कि रसोइए को बीस कोपेक देने हैं। यह सोचकर कि उसके पास रूबल की बाकी खरीज मिल जायगी मैं रसोईघर में गया और रसोइए से बोला—"मैंने तुमसे बीस कोपेक उधार लिये थे, लो यह एक रूबल..." मेरे वाक्य समाप्त करने से पहले ही उसने दूसरे कमरे से अपनी स्त्री को पुकारा और कहा—"पराशा, यह रूबल ले लो।" यह सोचकर कि वह मेरा अभिप्राय समझ गई है मैंने उसे रूबल दे दिया। यहां यह बतला देना प्रयोजनीय है कि इस रसोइए को हमारे यहां आए केवल एक सप्ताह हुआ था और मैंने उसकी स्त्री को देखा तो अवश्य था किंतु उससे बातचीत नहीं की थी। मैं उससे शेष पैसे लौटाने के लिए कहने ही जा रहा था कि वह मेरे हाथ पर झुकी और यह समझकर कि मैं वह रूबल उसे ईनाम में दे रहा हूं वह कृतज्ञता-प्रकाश के लिए मेरा हाथ चूमने[१] को उद्यत हुई।

कुछ बड़बड़ाता हुआ मैं रसोईघर से बाहर चला आया। उस समय मुझे बड़ी लज्जा आई, इतनी लज्जा जितनी वर्षों से नहीं आई

---

[१] **रूस में कृतज्ञता-प्रकाश का यही आम तरीका है।**

थी। शर्म की पीड़ा से मेरा शरीर ऐंठने लगा और मैंने साफ-साफ देखा कि मैंने दांत तक निपोर दिये हैं। वहांसे भागते समय मैं क्षोभ से कराह उठा। लज्जा की इस तीव्र भावना से, जो उस समय मेरे लिए बिलकुल अवांछित जौर अप्रत्याशित थी, मैं चौक पड़ा—विशेषतः इस-लिए कि बहुत दिनों से मुझे ऐसी अनुभूति नहीं हुई थी और मैं समझता था कि बूढ़ा होने के कारण मैं इस ढंग से जीवन बिता रहा हूँ कि मुझे इस प्रकार लज्जित होने की आवश्यकता ही नहीं। यही कारण था कि मैं स्तम्भित रह गया। मैंने इस घटना की चर्चा अपने परिवार-वालों और कुछ मित्रों से की और सभीने यह स्वीकार किया कि यदि वे मेरी स्थिति में होते तो उन्हें भी ऐसी ही अनुभूति हुई होती।

अब मैं सोचने लगा कि लज्जा मुझे क्योंकर आई। इस प्रश्न का उत्तर कुछ दिन पहले मास्को में घटी एक घटना से मिला। उसपर जब मैंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया तो रसोइए की स्त्री के सामने लज्जित होने का कारण साफ-साफ समझ में आ गया। साथ-ही-साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि मास्को में परोपकार का कार्य करते समय मुझे बार-बार क्यों लज्जा आती थी और अब भी जब-कभी मैं साधुओं और तीर्थयात्रियों को उतने से अधिक दान दे देता हूं जितने की मुझे आदत पड़ी हुई है और जिसे मैं दान नहीं बल्कि शिष्टाचार और सौजन्य मानता हूँ, तो क्या कारण है कि सदा मुझे अपने ऊपर लज्जा आती है? यदि कोई हमसे प्रकाश के लिए कहे और यदि हमारे पास दियासलाई हो तो हमें चाहिए कि हम उसके लिए दियासलाई जला दें। इसी प्रकार यदि कोई हमसे तीन या बीस कोपेक अथवा कुछ रूबल भी मांगे और यदि हमारे पास हों, तो हमें अवश्य दे देना चाहिए। यह दान नहीं सौजन्य की बात है।

वह घटना इस प्रकार थी। पहले मैं दो किसानों की चर्चा कर चुका हूँ, जिनके साथ दो वर्ष हुए मैं लकड़ी चीरा करता था। एक शनिवार की शाम को झुटपुटे के समय मैं उनके साथ शहर आ रहा था। वे अपने मालिक के पास मजदूरी लेने जा रहे थे। एक पुल के

पास हमें एक बूढ़ा मिला। वह भीख माँगने लगा और मैंने उसे बीस कोपेक दिये। उन्हें देते समय मैंने सोचा कि मेरे दान का सेम्यॉन पर, जिसके साथ मैं पारमार्थिक विषयों पर बातें करता आ रहा था, अच्छा प्रभाव पड़ेगा। सेम्यॉन व्लाडीमीर का रहनेवाला किसान था और मास्को में उसकी स्त्री तथा दो बच्चे थे। उसने भी रुककर अपने लम्बे कोट के भीतर से बटुआ निकाला और उसमें से तीन कोपेक का एक सिक्का निकालकर उस बूढ़े को देते हुए दो कोपेक वापस मांगे। बूढ़े ने हाथ पसारकर अपने सारे पैसे दिखला दिये। उसके पास तीन कोपेकवाले दो और एक कोपेकवाला एक सिक्का था। सेम्यॉन ने उन सिक्कों की ओर देखा। वह एक कोपेकवाला सिक्का उठाने ही वाला था कि एकाएक उसका विचार बदल गया; उसने टोपी उतार-कर बूढ़े को सलाम किया और उसके हाथ में तीन कोपेक का सिक्का छोड़कर वह आगे बढ़ गया। मैं सेम्यॉन की आर्थिक स्थिति से परि-चित था। उसके पास न अपना घर था, न कोई दूसरी सम्पत्ति। जिस दिन उसने बूढ़े को तीन कोपेक दिए उस दिन तक उसने कुल मिलाकर ६ रूबल और ५० कोपेक कमाए थे। यह रकम उसने बचा-कर रखी थी और यही उसकी कुल सम्पत्ति थी। मेरी सम्पत्ति लगभग ६ लाख रूबल की थी। मैं बाल-बच्चेदार आदमी था। सेम्यॉन भी गृहस्थ था, आयु में वह मुझसे छोटा था और उसके बच्चों की संख्या भी कम थी। किन्तु उसके बच्चे अभी छोटे थे, जबकि मेरे दो लड़के कमाने योग्य हो गए थे। इस प्रकार सम्पत्ति को छोड़कर हम दोनों की स्थिति प्रायः एक-सी थी, बल्कि मेरी स्थिति कुछ अच्छी ही थी। उसने तीन कोपेक दिये और मैंने बीस। अब सोचिए कि उसके और मेरे दान में क्या अंतर था। उसके बराबर दान करने के लिए मुझे कितना देना चाहिए था ? उसके पास छः सौ कोपेक थे, जिनमें से उनसे तीन बूढ़े को दे दिये। मेरे पास छः लाख रूबल थे। सेम्यॉन की बराबरी करने के लिए मुझे बूढ़े को तीन हजार रूबल का नोट देकर उससे दो हजार का नोट वापस मांगना चाहिए था और दो हजार का नोट न मिलने पर उसे भी उसके पास छोड़कर सलाम करते

हुए आगे बढ़ जाना चाहिए था और चुपचाप इधर-उधर की बातों में लग जाना चाहिए था। इस घटना पर विचार तो मैंने उसी समय किया; किन्तु उससे अनिवार्य रूप से निकलनेवाले निष्कर्ष पर बहुत दिनों बाद पहुँचा। वह निष्कर्ष गणित के समान असंदिग्ध होते हुए भी इतना असाधारण और विचित्र मालूम होता है कि उसका अभ्यस्त बनने के लिए समय की आवश्यकता है। सदा ऐसा लगता है मानों इस निष्कर्ष में कोई-न-कोई त्रुटि है, किन्तु वस्तुतः ऐसी कोई बात नहीं है। हम लोगों की आँखों के सामने केवल भ्रम का एक भयंकर जाल छाया रहता है।

इस निष्कर्ष की असंदिग्धता पर विश्वास होते ही मुझे उस लज्जा का रहस्य मालूम हो गया जो मुझमें रसोइए की स्त्री के सामने और निर्धनों को सहायता देते समय उत्पन्न हुई थी और ऐसे अवसरों पर अब भी होती है।

जो पैसा मैं निर्धनों को देता हूं और जिसे रसोइए की स्त्री ने समझा था कि मैं उसे दे रहा हूँ वह वास्तव में क्या है? प्रायः वह मेरी सम्पत्ति का इतना छोटा अंश होता है कि उसे सेम्यॉन अथवा रसोइए की स्त्री के सामने बुद्धिगम्य रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। साधारणतया वह मेरी सम्पत्ति का दस लाखवां हिस्सा होता है। मैं इतना थोड़ा देता हूँ कि उससे न तो मेरी सम्पत्ति में कोई कमी आती है, न आ सकती। मेरा दान तो एक प्रकार का मनोविनोद, एक तरह की मन की तरंग है। जब चाहा तब दिया, जब चाहा तब नहीं दिया। रसोइए की स्त्री ने मेरे रूबल को इसी रूप में देखा था। जब मैं राह-चलते लोगों को एक रूबल या बीस कोपेक दे देता हूँ तो क्या कारण है उसे एक रूबल न दे देता? मेरा इस प्रकार दान देना उसकी दृष्टि में ठीक वैसा ही था जैसा कंगालों की भीड़ में भद्र पुरुषों का रोटी के टुकड़े उछालना। यह तो जिनके पास बहुत-सा बेकार धन होता है उनका एक मनोरंजन है। मुझे लज्जा इसलिए आई कि रसोइए की स्त्री की भूल ने मुझे यह स्पष्ट रूप से बतला दिया कि केवल वही नहीं बल्कि दूसरे गरीब लोग भी मेरे विषय में ऐसा ही विचार

रखते हैं। वे समझते हैं कि मैं अपना धन—वह धन जो मैंने कमाया नहीं है—योंही मुफ्त बांटता फिरता हूँ।

मेरा धन वास्तव में क्या है और कहां से आया है? इसका कुछ अंश तो मुझे उस भूमि से प्राप्त हुआ है जो मुझे अपने पिता के उत्तराधिकार-स्वरूप मिली है और जिसका लगान देने के लिए किसान को अपनी आखिरी भेड़ या गाय बेचनी पड़ती है। मेरी सम्पत्ति का दूसरा अंश मेरे लेखों तथा पुस्तकों से आया है। यदि मेरी पुस्तकें हानिकारक हैं तो मैं उसके खरीदारों के मार्ग में केवल प्रलोभन का जाल बिछाता हूं और उनसे मुझे जो धन मिलता है वह बुरे ढंग से कमाया हुआ धन है। किंतु यदि मेरी पुस्तकें उपयोगी हैं, तब तो और बुरी बात है। मैं ये पुस्तकें लोगों को देता नहीं, बल्कि कहता हूँ कि लाओ मुझे सत्रह रूबल[1] दो तब मैं तुम्हें अपनी पुस्तक छूने दूँगा। जिस प्रकार लगान भरने के लिए किसान को अपनी अंतिम भेड़ बेचनी पड़ती है, उसी प्रकार मेरी पुस्तक के लिए कोई निर्धन विद्यार्थी, कोई निर्धन अध्यापक, या कोई दूसरा निर्धन व्यक्ति अपनी आवश्यक वस्तुओं से वंचित रह जाता है। इस रूप में मैंने बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया है। लेकिन उसका मैं आखिर करता क्या हूँ? मैं उसे शहर ले आता हूं और यदि गांव के गरीब लोग शहर आकर मेरी इच्छानुसार कार्य करते हैं—जैसे; मेरे यहां झाड़ू लगाना, मेरे लैम्प व जूते साफ करना और कारखानों में काम करना—तो मैं शहर लाए हुए इस धन का कुछ अंश उन्हें दे देता हूँ। इसके बदले में मैं उनसे जितना भी काम ले सकता हूँ लेता हूँ, अर्थात् मैं उन्हें कम-से-कम देने और उनसे अधिक-से-अधिक लेने का प्रयत्न करता हूँ। फिर एकाएक बिलकुल अप्रत्याशित रूप से और अकारण ही मैं यही धन इन्हीं गरीबों में बांटने लगता हूँ—सबको नहीं, बल्कि थोड़ों को अपने इच्छानुसार चुनकर। ऐसी दशा में क्यों न उनमें से प्रत्येक व्यक्ति यह आशा करे कि जिन लोगों को मुफ्त

---

[1] उस समय टॉल्सटॉय के लेखों आदि का संग्रह १७ रूबल में मिलता था।

धन बांटकर मैं अपना मनोरंजन करूंगा उनमें शायद उसे भी सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय ?

सारे कंगाल मुझे इसी दृष्टि से देखते हैं और रसोइए की स्त्री ने भी मेरे विषय में ऐसा ही सोचा था। मैं इतने बड़े भ्रम में था कि एक हाथ से गरीबों से हजारों रुपए छीनकर दूसरे हाथ से कुछ चुने हुए निर्धनों के सामने कौड़ियां बखेरने को परोपकार कहता था। अतः इसमें आश्चर्य ही क्या कि मुझे अपने ऊपर लज्जा आई।

तो, परोपकार करने से पहले यह आवश्यक है कि मैं स्वयं बुराई से दूर खड़ा हो जाऊं, एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाऊं जहां बुराई करना ही बंद हो जाय। इसका कारण यह है कि मेरा सारा जीवन बुराई से भरा हुआ है। हो सकता है कि अपनी सम्पत्ति में से निर्धनों को एक लाख रूबल दे डालने के बाद भी मैं अपनेको परोपकार करने की स्थिति में न पा सकूं, क्योंकि तब भी मेरे पास पाँच लाख रूबल बच ही जायंगे। थोड़ा-बहुत भी परोपकार मैं उसी समय कर सकूंगा जब मेरे पास एक कौड़ी भी शेष न रह जाय, चाहे वह परोपकार उतना ही क्यों न हो जितना उस वेश्या ने बीमार स्त्री और उसके बच्चे की तीन दिन तक सुश्रूषा करके किया था। भला सोचिए तो, उसके इस परोपकार को मैंने बहुत ही नगण्य समझा और फिर भी मुझे परोपकार करने की कल्पना करने का साहस हुआ ? वास्तव में सत्य का एकमात्र स्वरूप तो मेरी उस भावना में दिखाई दिया था जो ल्यापिन-अनाथालय के भूखों और नंगों को देखते ही मेरे मन में उदित हुई थी और जिसने यह स्पष्ट कर दिया था कि उनकी दुर्दशा का दोष मुझपर है और जैसा जीवन मैं बिता रहा हूँ वैसा निरन्तर कदापि नहीं बिता सकूंगा।

तो फिर हम क्या करें ? यदि किसीको अब भी इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा है तो भगवान की कृपा से मैं आगे के पृष्ठों में उसका विस्तृत उत्तर दूंगा।

: १६ :

हमारे शोषण का जाल

पहले तो मेरे लिए यह विश्वास करना कठिन था कि मैं एक भ्रम-जाल में फंसा हुआ हूँ, किन्तु जब मुझे सत्य का ज्ञान हुआ तब मैं स्तम्भित रह गया। मैं स्वयं तो कान तक दलदल में फंसा हुआ था और फिर भी यही सोचता था कि मैं दूसरों को उस दलदल में से निकाल सकूंगा।

मैं वास्तव में क्या चाहता हूं ? मैं लोगों की भलाई करना चाहता हूँ, कुछ इस प्रकार की व्यवस्था करना चाहता हूँ कि एक भी प्राणी नंगा और भूखा न रहे और मनुष्य-मनुष्य की तरह जीवन-निर्वाह करे।

ऐसा मैं चाहता तो अवश्य हूँ, किन्तु देखता हूँ कि हिंसा, बल-प्रयोग आदि जिन विभिन्न शोषण-क्रियाओं में मैं हाथ बंटाता हूँ उनसे एक ओर तो मजदूर अपनी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं से वंचित हो जाते हैं और दूसरी ओर मेहनत न करनेवाले लोग—जिनमें से एक मैं भी हूँ—मेहनत करनेवालों की मेहनत से छककर लाभ उठाते हैं।

मैं देखता हूँ कि इस शोषण-व्यूह की रचना कुछ इस प्रकार की गई है कि मनुष्य जितना ही अधिक छल-प्रपंच करता है उतना ही अधिक वह दूसरों के श्रम का लाभ उठाता है और स्वयं कम मेहनत करता है।

ऐसा करनेवालों में सबसे पहला स्थान बड़े-बड़े पूंजीपतियों, मिल-मालिकों, खानों के स्वामियों और भूमिपतियों का है। इनके बाद बड़े-बड़े महाजन, व्यापारी, जमींदार और अफसर आते हैं। तीसरा स्थान मध्यम वर्ग के महाजनों, व्यापारियों, अफसरों और मेरे-जैसे जमींदारों का है। इनके बाद छोटे व्यापारियों, सराय के स्वामियों, सूदखोरों, पुलिस-अफसरों, सिपाहियों, स्कूली अध्यापकों, पुरोहितों और क्लर्कों का निम्न वर्ग है। इनके नीचे दरबान, खानसामे, साईस, भिश्ती, गाड़ीवान और बिसाती आदि हैं और सबसे नीचे कारखानों में काम करनेवाले मजदूर तथा किसान हैं, जिनकी संख्या अन्य सब वर्गों की अपेक्षा दस गुनी है। मैं देखता हूं कि दस में से नौ लोगो—श्रमजीवियों—का जीवन कुछ है ही ऐसा

कि उसके लिए कठोर परिश्रम आवश्यक है, जैसाकि सभी प्राकृतिक जीवन के लिए होता है। परन्तु हमारे द्वारा प्रयोग में लाई जानेवाली विविध शोषण-विधियों के फलस्वरूप स्थिति दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है और श्रमजीवियों का जीवन अधिक दुखःपूर्ण बनता जा रहा है। इसके विपरीत हम-जैसे निठल्लों का जीवन कला और विज्ञान की सहायता से प्रतिवर्ष अधिक सम्पन्न, अधिक आकर्षक और अधिक सुरक्षित होता जा रहा है।

मैं देखता हूँ कि आजकल मजदूर लोग—विशेषतः वृद्ध स्त्री, पुरुष और बच्चे—अतिशय परिश्रम और अपर्याप्त पोषण के कारण काल-कवलित होते जा रहे हैं, उन्हें जीवन की नितान्त आवश्यक वस्तुओं तक के प्राप्त होने की आशा नहीं होती। दूसरी ओर निठल्ले लोगों को—जिनमें एक मैं भी हूँ—प्रतिवर्ष सुख और विलास की अधिकाधिक सामग्रियां मिलती जा रही हैं और उनका जीवन अधिकाधिक सुरक्षित होता जा रहा है; यहांतक कि उनमें से मुझ-जैसे कुछ भाग्यशाली लोगों का जीवन सुरक्षा की उस सीमा पर पहुंच गया है जिसका स्वप्न पुराने जमाने में लोग केवल परियों की कहानियों में देखा करते थे। हमारी अवस्था उस व्यक्ति की-सी हो गई है जो जादू की किसी अक्षय थैली का स्वामी बन बैठा है। दूसरे शब्दों में हम उस अवस्था में पहुँच गए हैं जिसमें मनुष्य न केवल जीवन-रक्षा के लिए परिश्रम करने के प्राकृतिक नियम से मुक्त हो गया है बल्कि इस योग्य भी बन गया है कि परिश्रम किये बिना ही वह जीवन के समस्त सुखों का उप-भोग कर सके और अपने बाद अपनी जादू की अक्षय थैली या तो अपनी संतान को या अपनी इच्छानुसार किसी और व्यक्ति को दे जा सके। मैं देखता हूं कि मनुष्य के परिश्रम का फल श्रम करनेवालों को न मिलकर अधिकाधिक निठल्ले लोगों को मिल रहा है। ऐसा मालूम पड़ता है कि समाज के विशाल भवन का पुनर्निर्माण कुछ इस ढंग से हो रहा है कि नींव के पत्थर शिखर की ओर बढ़ते जा रहे हैं और यह परिवर्तन दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता जा रहा है। मैं देखता हूं कि जो कुछ हो रहा है वह ऐसा है जैसे किसी बांबी की चीटियां

अपने समान नियम को भूल जायं और उनमें से कुछ चीटियां मिट्टी को उठा-उठाकर नीचे से ऊपर ले जाने लगें और इस प्रकार नीचे का भाग क्रमशः छोटा होता जाय और शिखर बढ़ता जाय; यहांतक कि अन्य चीटियां भी विवश होकर नीचे से ऊपर चली जायं। मैं देखता हूं कि परिश्रमी जीवन के आदर्श का स्थान जादूवाली थैली के आदर्श ने ले लिया है। धनिकों ने, जिनमें एक मैं भी हूँ, अनेक युक्तियों से जादू की थैली हथिया ली है और उसका उपभोग करने के लिए हम शहरों में, अर्थात् एक ऐसी जगह, आ बसे हैं जहां उत्पादन एक भी वस्तु का नहीं होता किन्तु उपभोग सब वस्तुओं का होता है। अभागा मजदूर, जो इस जादू की थैली को अमीरों के लिए सुलभ बनाने के लिए लुटा जाता है, उनके पीछे-पीछे शहर पहुंचने की चेष्टा करता है। वहां पहुंचकर वह भी छल-प्रपंच सीख जाता है और या तो अपने लिए ऐसी स्थिति पैदा कर लेता है जिसमें थोड़ा श्रम करने से ही अधिक प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार मजदूर-वर्ग का बोझ और भी अधिक बढ़ जाता है, या उस स्थिति तक पहुंचने में असफल होने के कारण वह नष्ट हो जाता है और सराय में रात काटनेवाले उन भूखों-नंगों की श्रेणी में जा मिलता है जिनकी संख्या आश्चर्यजनक वेग से बढ़ रही है।

मैं उस वर्ग के लोगों में से हूँ जो अनेकानेक युक्तियों द्वारा मजदूरों को जीवन-सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओं से वंचित कर देता है। इन्हीं युक्तियों के बल पर उसे वह जादूभरी थैली मिली है, जिसे बेचारे मजदूर ललचाई आँखों से देखते हैं। यदि मैं इन निर्धनों की सहायता करना चाहता हूं तो यह स्पष्ट है कि मुझे इन लोगों को लूटना नहीं चाहिए, जैसा कि मैं कर रहा हूं। इसके अलावा मुझे इन लोगों को प्रलोभन भी नहीं देना चाहिए। किंतु इसके विपरीत, मैंने सदियों से प्रचलित जटिलतम, कुटिल और क्रूर छल-प्रपंचों की सहायता से अपने लिए एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर ली है जैसी जादू की थैली रखनेवाले किसी भी व्यक्ति की हो सकती है। अर्थात्, मैं उस स्थिति में पहुंच गया हूं जिसमें स्वयं कोई काम-काज किये बिना ही सैकड़ों, हजारों

आदमियों को अपने लिए काम करने को बाध्य कर सकता हूं। ऐसा ही मैं आजकल कर भी रहा हूं; फिर भी यह सोचने की धृष्टता करता हूं कि मैं निर्धनों पर दया करता हूं और उनकी सहायता करना चाहता हूं। एक ओर तो मैं गरीब की पीठ पर सवार होकर उसका दम घोट देता हूं और उसे बाध्य करता हूं कि वह मुझे लादकर ले चले और दूसरी ओर अपनेको तथा दूसरों को विश्वास दिलाता हूं कि मुझे उस बेचारे के लिए सहानुभूति है और मैं हर सम्भव युक्ति से उसका भाग्य सुधारना चाहता हूं, बशर्ते कि मुझे उसकी पीठ से उतरना न पड़े।

बात बिलकुल सीधी-सादी है। यदि मैं निर्धनों की सहायता करना चाहता हूं, अर्थात यदि मैं चाहता हूं कि निर्धन न रहें, तो मुझे उन्हें निर्धन नहीं बनाना चाहिए। परंतु वास्तविकता यह है कि उन गरीबों को, जो जीवन-मार्ग से विचलित हो गए हैं, मैं स्वेच्छा से दसियों, बीसियों या सैकड़ों रूबल दे डालता हूं; किंतु जो लोग अभी विचलित नहीं हुए हैं उनसे मैं ठीक इसी प्रकार के सहस्रों रूबल वसूल कर लेता हूं। इस प्रकार मैं उन्हें निर्धन बनाने के साथ-ही-साथ बुद्धिभ्रष्ट भी कर देता हूं।

बात तो बिलकुल सरल है, फिर भी इसे पूरी तरह समझना मेरे लिए उस समय तक अत्यन्त कठिन था, जबतक कि मैं कोई ऐसा समझौता न कर लेता या ऐसे बहाने न ढूंढ़ लेता जिनसे मेरे पक्ष का समर्थन हो सकता। पर जैसे ही मैंने अपना अपराध स्वीकार किया, वैसे ही जो बातें पहले विचित्र, जटिल, अस्पष्ट और अगम्य मालूम होती थीं वे बिलकुल सरल और बोधगम्य हो गईं। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इस व्याख्या के फलस्वरूप स्वयं मेरे जीवन का मार्ग सुगम, स्पष्ट और सुखदायी हो गया और पहले की भांति जटिल, अगम्य तथा क्लेशकर न रह गया।

लोगों की सहायता करने की इच्छा रखनेवाला मैं हूं कौन? मैं लोगों की सहायता करना चाहता हूं, फिर भी मैं चार-चार मोमबत्तियां जलाकर रात को देर तक ताश खेलता हूं और फिर दोपहर तक पड़ा

सोता रहता हूं। मैं दुर्बल, पौरुषहीन हो गया हूं और मुझे स्वयं सैकड़ों आदमियों की सहायता और सेवा की आवश्यकता है। फिर भी मैं दूसरों की सहायता करने बढ़ता हूं। किंतु किसकी ? उनकी, जो सबेरे पांच बजे उठ जाते हैं, तख्तों पर सोते हैं और रोटी और करमकल्ला खाकर रह जाते हैं; जिनमें हल चलाने, लकड़ी काटने, कुल्हाड़ी में मूठ लगाने, रंदा चलाने, घोड़ों पर जीन कसने और कपड़े सीने की योग्यता है। शक्ति, दृढ़ता, कार्य-कुशलता और आत्मसंयम में ये लोग मुझसे सैकड़ों-गुना बढ़चढ़कर होते हैं, फिर भी मैं उनकी सहायता करने निकलता हूं ! अतः ऐसे लोगों के सम्पर्क में आकर मैं लज्जित न होता तो और क्या ? इनमें से सबसे दुर्बल व्यक्ति भी—रज़्हानोफ़-भवन में रहनेवाला एक शराबी तक, जिसे लोग आवारा कहते हैं—मुझसे सैकड़ोंगुना अधिक परिश्रमी है। यदि मैं इस बात का हिसाब लगाऊं कि मैं लोगों से कितना लेता हूं और उन्हें कितना देता हूं और उसकी तुलना इस बात से करूं कि वह शराबी दूसरों से कितना लेता है और उन्हें कितना देता है तो मैं देखूंगा कि उसका आर्थिक संतुलन मेरे आर्थिक संतुलन से हजारोंगुना अच्छा है।

ऐसे ही लोगों की सहायता करने का मैं दम भरता हूं। मैं दीनों की सहायता करने जाता हूं। किंतु दीन कौन हैं ? जिनकी मैं सहायता करने जाता हूं उनमें से एक व्यक्ति भी मुझसे अधिक दीन नहीं हैं। मैं सर्वथा अशक्त, निकम्मा और परावलम्बी हूं और केवल विशेषतम अवस्था में ही जीवित रह सकता हूं। यह अवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब सहस्रों व्यक्ति एक नितांत निरर्थक जीवन को बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। मैं वह कीड़ा हूं, जो वृक्ष की पत्तियों के फूलने-फलने और नीरोग रहने की कामना तो करता है; किंतु उन्हें निरन्तर चाटता रहता है।

मैं अपना सारा जीवन इसी प्रकार व्यतीत करता हूं। मैं खाता हूं, बातें करता हूं, सुनता हूं पढ़ता हूं, लिखता हूं, खेलता हूं और सोता हूं। यही क्रम प्रतिदिन चलता है। मैं न तो कुछ काम कर सकता हूं, न करना जानता हूं। मुझे इस प्रकार का जीवन बिताने में सहायता देने के लिए यह आवश्यक है कि दरबान, किसान, रसोइए-

दार, रसोइएदारिन, साईस और धोबिन सबेरे से शाम तक काम करते रहें। इनमें वे मजदूर शामिल नहीं हैं जो इन साईसों, रसोइएदारों, दरबानों आदि को मेरे सेवार्थ बर्तन, कुल्हाड़ी, पीपे, ब्रुश, प्याले, तश्तरियां, मेज-कुर्सी, शीशे, पालिश, पैराफिन, घास, ईंधन, गोश्त आदि जुटाने में योग देते हैं। ये लोग दिन-रात कड़ी मेहनत करते हैं ताकि मैं बातें कर सकूं, खा सकूं और सो सकूं। फिर भी मैं निकम्मा यही सोचता हूं कि मैं दूसरों की सहायता कर सकता हूं, उन्हीं लोगों की जो मेरी सहायता कर रहे हैं।

इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मैं किसीकी सहायता नहीं कर सका और मुझे अपने ऊपर लज्जा आई। आश्चर्य की बात तो यह है कि मेरे मस्तिष्क में दूसरों की सहायता करने का मूर्खतापूर्ण विचार आया कैसे? जिस स्त्री ने बीमार बूढ़े की सेवा की थी, उसने उसकी सहायता की थी; जिस किसान महिला ने अपनी मेहनत से पैदा किये हुए नाज की रोटी में से एक टुकड़ा काटकर भिखारी को दे दिया था, उसने उसकी सहायता की थी। इसी तरह सेम्यॉन ने अपने कमाए हुए तीन कोपेक भिखारी को देकर उसकी सहायता की थी, क्योंकि वे तीन कोपेक वास्तव में उसकी मेहनत के द्योतक थे। किंतु मैंने न किसीकी सहायता की, न सेवा की। मैं यह अच्छी तरह जानता था कि मेरा धन मेरी कमाई का नहीं है।

अतः मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि स्वयं रुपए में—यहांतक कि उसे अपने पास रखने भर में—कोई दोष, कोई पाप है। मैंने अनुभव किया कि मेरे चारों तरफ जो बुराइयां दिखाई देती हैं उनकी जड़ यही रुपया और उसका मेरे पास होना है। तब मेरे मन में प्रश्न उठा—रुपया क्या है?

: १७ :

दासत्व का मूल कारण—रुपया

रुपया! रुपया क्या है?

रुपया परिश्रम का प्रतीक है।

मैं ऐसे शिक्षित लोगों से मिला हूं जो कहते हैं कि रुपया जिनके अधिकार में होता है उन्हींके परिश्रम का वह परिचायक होता है। मैं स्वीकार करता हूं कि कुछ अस्पष्ट रूप में मेरा भी पहले यही मत था। किंतु मैंने यह जानना जरूरी समझा कि रुपया वास्तव में है क्या और इसके लिए मैंने अर्थशास्त्र की शरण ली।

अर्थशास्त्र के अनुसार द्रव्य[1] में कोई बात अन्यायसूचक अथवा हानिकारक नहीं है। वह तो सामाजिक जीवन का एक स्वाभाविक उपकरण है और उसकी निम्नलिखित कार्यों में आवश्यकता पड़ती है:—(१) विनिमय सम्बन्धी सुगमता (२) मूल्य-निर्धारण (३) बचत और (४) भुगतान। यह एक बिलकुल स्पष्ट बात है कि यदि मेरी जेब में तीन फालतू रूबल पड़े हों तो मैं किसी भी सभ्य नगर में जाकर चुटकी बजाते ही सैकड़ों आदमियों को बुला सकता हूं, जो उन तीन रूबलों के लिए कठोर-से-कठोर, अप्रिय-से-अप्रिय और अपमानजनक-से-अपमानजनक कार्य करने को तैयार हो जायंगे। इसका कारण रुपया-पैसा नहीं, बल्कि हमारे आर्थिक जीवन की जटिल विषमता है। कुछ विशेष व्यक्तियों को दूसरों पर प्रभुता प्राप्त हो जाने का कारण यह नहीं है कि उनके पास रुपया है, बल्कि यह कि श्रमजीवियों को अपने श्रम का पूरा पारितोषिक नहीं मिलता। इस अनीति की जड़ में पूंजी, किराया और मजदूरी हैं जिनका स्वयं आपस में तथा धन के उत्पादन, वितरण और उपभोग से जटिल सम्बन्ध होता है। सीधी-सादी भाषा में इसका अर्थ यह है कि जो लोग पैसेवाले हैं वे बे-पैसेवालों को उंगलियों पर नचा सकते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र के अनुसार वास्तविकता कुछ और ही है। उनका मत है कि हर तरह के उत्पादन-कार्य पर तीन बातों का प्रभाव पड़ता है—(१) भूमि, (२) संचित श्रम (पूंजी) और (३) श्रम। इन तीनों साधनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण और उत्पादन के दो साधनों—भूमि तथा पूंजी—के मजदूरों के अधिकार में

---

[1] Money, सुगमता के लिए यहां 'द्रव्य' के स्थान पर 'रुपया-पैसा' या केवल 'रुपया' या 'पैसे' का भी प्रयोग किया गया है।

न होकर दूसरों के अधीन होने के कारण और साथ-ही-साथ उनसे उत्पन्न होनेवाली जटिल गुटबंदियों के फलस्वरूप कुछ लोगों का दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। धन का यह राज्य, जिसके अन्याय और जिसकी क्रूरता को देखकर हम स्तम्भित रह जाते हैं, कैसे उत्पन्न होता है ? पैसे की सहायता से कुछ लोग दूसरों पर क्यों शासन करते हैं ? अर्थशास्त्र के अनुसार इसका कारण उत्पादन के विभिन्न साधनों का विभाजन और उससे उत्पन्न होनेवाली गुटबंदी है, जो मजदूरों को सताती है। यह उत्तर मुझे सदा ही विचित्र प्रतीत होता रहा है, क्योंकि न केवल इसमें प्रश्न के एक भाग—रुपए के महत्त्व—पर विचार नहीं किया गया है, बल्कि उसके अनुसार उत्पादन के साधनों का जो विभाजन किया गया है वह प्रथम दृष्टि में सदा कृत्रिम और वास्तविकता के विपरीत दिखाई देता है। कहा जाता है कि सब प्रकार के उत्पादनों में भूमि, पूंजी और श्रम तीनों का योग होता है। इसीलिए यह मान लिया गया है कि इनसे जो कुछ पैदा होता है—अर्थात् धन या उसका प्रतीक वह रुपया—इनके ही स्वामियों में बांट दिया जाता है। भूमि का मूल्य—किराया—जमींदार को मिलता है, ब्याज पूंजीपति को और परिश्रम का पारितोषिक मजदूरी—मजदूर को। किन्तु क्या यह सच है ? सबसे पहले तो यह देखना है कि क्या सभी उत्पादनों में तीनों साधनों का जुटना अनिवार्य है।

इस समय जबकि मैं यह लेख लिख रहा हूँ, मेरे चारों और घास सुखाई जा रही है। इस क्रिया में कौन-कौन-से साधन प्रयोग में लाए जाते हैं ? मुझे बताया गया है कि इसमें निम्नलिखित साधनों का उपयोग किया जाता है—(१) भूमि, जिसपर घास उगाई गई है, (२) पूंजी, अर्थात् हँसिए, पैंजेठियाँ, दंतिए और गाड़ियाँ, जो घास को इकट्ठा करने के लिए आवश्यक हैं और (३) परिश्रम। किन्तु मैं देखता हूं कि यह बात सच नहीं है। भूमि के अतिरिक्त सूर्य, पानी, सामाजिक संगठन (जिसके फलस्वरूप लोगों के अनियमित अतिक्रमण से खेतों की रक्षा होती है), मजदूरों का ज्ञान, उनकी बोलने और शब्दों को समझ सकने की क्षमता आदि अनेक ऐसे दूसरे तत्व भी हैं जिनका सूखी घास के उत्पादन में योग होता है, किन्तु जिनकी, न जाने क्यों, अर्थशास्त्र में गणना

नहीं की जाती ।

सूर्य की शक्ति भी भूमि की ही भांति उत्पादन का एक साधन है, बल्कि उससे भी अधिक आवश्यक । यह बात कल्पना से बाहर नहीं है कि नगर के लोग दीवार खड़ी करके या पेड़ों द्वारा एक-दूसरे को सूर्य के प्रकाश से वंचित करने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। तो फिर उसकी गणना उत्पादन के साधनों में क्यों नहीं होती ? पानी भी भूमि के समान ही उत्पादन का एक आवश्यक साधन है । यही बात वायु की है । यह सम्भावना भी कल्पना से बाहर नहीं है कि कुछ लोग आवश्यक जल और वायु पर एकाधिकार प्राप्त करके दूसरों को इनसे वंचित करदें। सामाजिक संरक्षण भी इसी प्रकार का एक अनिवार्य साधन है और जैसाकि कुछ अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं, मजदूरों के लिए भोजन और वस्त्र की गणना भी उत्पादन के साधनों में ही होनी चाहिए । शिक्षा और बोलने की योग्यता भी, जिनसे विभिन्न प्रकार के काम करने की क्षमता आती है, इसी प्रकार के साधन हैं। यदि मैं उत्पादन के ऐसे-ऐसे अनुल्लिखित साधनों की गिनती करने बैठूं तो उनसे एक पूरी-की-पूरी पुस्तक भर सकता हूं । तो फिर, क्या कारण है कि उत्पादन के केवल तीन साधन चुने गए हैं और वे ही अर्थशास्त्र की नींव माने गए हैं ? सूर्य के प्रकाश और पानी को भी भूमि के समान उत्पादन का पृथक-पृथक साधन माना जा सकता है। इसी तरह मजदूरों के औजारों के समान उनके भोजन-वस्त्र, ज्ञान और इसके संचारण को भी उत्पादन के स्वतन्त्र साधनों में गिना जा सकता है। क्या कारण है कि सूर्य की किरणों, पानी, भोजन और ज्ञान की गणना उत्पादन के पृथक साधनों के रूप में नहीं होती और केवल भूमि, औजार और श्रम ही इस श्रेणी में सम्मिलित किये जाते हैं ? क्या इसका कारण केवल यह है कि सूर्य की किरणों, पानी, हवा और बोलने अथवा सुनने की क्षमता के सम्बन्ध में विरले ही कोई किसी विशेषाधिकार का दावा करता है, जबकि भूमि और श्रम-सम्बन्धी अधिकारों के लिए हमारे समाज में सदा झगड़ा होता रहता है ? निस्सन्देह इस वर्गीकरण का कोई आधार नहीं है । अतः मैं समझता हूँ कि उत्पादनों के साधनों का केवल तीन अंगों में

विभाजन एक जबर्दस्ती का विभाजन है और पदार्थों के रूप पर निर्भर नहीं है। किन्तु सम्भवतः यह विभाजन मनुष्य-समाज के लिए इतना स्वाभाविक है कि जहां-कहीं आर्थिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं वहां उत्पादन के ये ही तीन साधन सामने आते हैं।[1]

अब देखना है कि क्या यह बात सही है। सबसे पहले मैं अपने चारों ओर रहनेवाले रूसी प्रवासियों को लेता हूं, जिनकी संख्या लाखों थी और अब भी है। ये प्रवासी किसी नई जगह जाते हैं और वहां बसकर काम करने लगते हैं। यह बात उनकी समझ में बिलकुल नहीं आती कि जो आदमी किसी भूमि को जोतता-बोता नहीं उसका उसपर अधिकार हो और भूमि अपना कोई अलग दावा पेश न करे। इसके विपरीत प्रवासी समझते हैं कि भूमि सारे समाज की सम्पत्ति है और प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अधिकार है कि वह जहां चाहे वहां और जितनी सम्हाल सके उतनी भूमि जोते और बोए। प्रवासी अपने साथ जमीन जोतने, तरकारी पैदा करने और मकान बनाने के लिए औजार लाते हैं; किन्तु उनके मन में यह विचार कभी नहीं आता कि औजार स्वयं भी कमाई कर सकते हैं। ये औजार, जिन्हें पूंजी कहा जाता है, कभी अपना कोई दावा करते भी नहीं। इसके विपरीत प्रवासी लोग यह बात अच्छी तरह समझ बूझकर स्वीकार करते हैं कि औजार या अनाज—अर्थात् पूंजी—को उधार देने के लिए ब्याज लेना अन्याययुक्त है। ये प्रवासी मुफ्त भूमि पर स्वयं अपने औजारों अथवा बिना किसी ब्याज के उधार लिये हुए दूसरों के औजारों से, अलग-अलग या सब मिलकर, सामान्य हित के लिए काम करते हैं। इस प्रकार के सामूहिक समाज में, किराए, पूंजी, ब्याज या मजदूरी का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है। ऐसे समाज का उल्लेख करते समय मैं कोई मनगढ़न्त बात नहीं कर रहा हूँ बल्कि उस वस्तु-स्थिति

---

[1] अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में अब महान् परिवर्तन हो गए हैं। टॉल्सटॉय ने जितनी भी बातें गिनाई हैं उनकी गणना आज के अर्थशास्त्रियों के मतानुसार भूमि, श्रम अथवा पूंजी के अन्तर्गत करली जाती है।

का दिग्दर्शन करा रहा हूं जो सब जगह दिखाई देती रही है और केवल रूसी प्रवासियों के बीच ही नहीं बल्कि सर्वत्र उस समय तक दिखाई देती है जबतक मनुष्य-जाति की स्वाभाविक प्रकृति बिगाड़ नहीं दी जाती। मैं वही बात कह रहा हूं जो प्रत्येक मनुष्य को स्वाभाविक और न्यायसंगत प्रतीत होती है। लोग भूमि पर बस जाते हैं और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार काम करने लगते हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने काम के लिए आवश्यक तैयारी करके अपना काम स्वयं करता है। यदि ये लोग देखते हैं कि इकट्ठा मिलकर काम करना उनके लिए अधिक सुविधाजनक होगा तो वे अपना एक संघ बना लेते हैं; किन्तु न तो उनकी व्यक्तिगत खेती में और न सामूहिक व्यवस्था में ही उत्पादन के साधन अलग-अलग किये जाते हैं। वहां तो केवल श्रम और श्रम-सम्बन्धी आवश्यक साधन होते हैं; जैसे, सूर्य जो सबको गरमी देता है; हवा जिसमें सब लोग सांस लेते हैं; पानी जिसे वे लोग पीते हैं; भूमि जिसपर वे काम करते हैं; कपड़े जिनसे वे शरीर ढकते हैं; भोजन जिससे वे पेट भरते हैं और डंडे, कुदाली, हल, मशीन आदि जिनकी सहायता से वे कार्य करते हैं। यह स्पष्ट है कि न तो सूर्य, न वायु, न जल, न भूमि, न तन ढकने के कपड़े, न डंडे, न कुदाली, न हल, न मशीनें किसी और के हो सकते हैं सिवा उनके जो सूर्य की किरणों का उपभोग करते हैं, हवा में साँस लेते हैं, पानी को पीते हैं, रोटी खाते हैं, कपड़ों से तन ढकते हैं और कुदाली या मशीन से काम करते हैं; क्योंकि इन सब वस्तुओं की आवश्यकता केवल उन्हीं को होती है जो इनका उपयोग करते हैं। जब लोग इस रीति से काम करते हैं तब हमें ऐसा लगता है कि वे वैसा ही कार्य कर रहे हैं जैसा कि मनुष्य के लिए उचित और विवेकपूर्ण है। अतः मनुष्यों के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए मैं यह नहीं कह सकता कि उत्पादन के साधनों का तीन अंगों में विभाजित किया जाना उनके लिए स्वाभाविक है। इसके विपरीत में इसे अस्वाभाविक और विवेकहीन समझता हूं। किंतु कदाचित् आदिम समाज ही एक ऐसा समाज है जिसमें उत्पादन के साधनों का तीन अंगों में विभाजन नहीं

होता। बाद में जैसे-जैसे जन-संख्या बढ़ती जाती है और संस्कृति का विकास होता है वैसे-वैसे यह विभाजन अनिवार्य हो जाता है। यह विभाजन यूरोपीय समाज में भी हुआ है और जो बात सिद्ध हो चुकी है उसे स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा नहीं। किंतु देखना यह है कि इस बात में सत्यता कहांतक है। हमें बतलाया जाता है कि यूरोपीय समाज में उत्पादन के अंगों का पूरा-पूरा विभाजन हो गया है; अर्थात्, एक वर्ग के लोगों के पास ज़मीन है, दूसरे वर्ग के लोगों के पास औजार और तीसरे वर्ग के लोग इन दोनों से वंचित कर दिये गए हैं। मजदूर लोग इसी तीसरे वर्ग में हैं। उन्हें भूमि और औजारों से वंचित मानने के हम इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि अब हमें इसमें कोई विचित्रता नहीं प्रतीत होती। किंतु यदि हम विचार करें तो हमें तत्काल पता चल जायगा कि यह बात कितनी अशुद्ध और मूर्खतापूर्ण है। उसका खंडन स्वयं उसीमें छिपा हुआ है। मजदूर की कल्पना करते समय हम उसके साथ उस भूमि और उन औजारों को भी मिला लेते हैं जिसपर और जिनकी सहायता से वह कार्य करता है। यदि उसके पास रहने को भूमि और काम करने को औजार न हों तो वह मजदूर हो ही नहीं सकता। भूमि और औजारों के बिना न आजतक कोई मजदूर हुआ है और न हो सकता है। हम ऐसे किसी खेतिहर मजदूर की कल्पना नहीं कर सकते जिसके पास काम करने के लिए भूमि, हँसिया, गाड़ी और घोड़ा न हो। इसी प्रकार ऐसा मोची अकल्पनीय है जिसके पास मकान, पानी, हवा और काम करने के औजार न हों। यदि किसी किसान के पास भूमि, घोड़ा या हँसिया न हो, या किसी मोची के पास मकान, पानी या कुआं न हो तो इसका अर्थ यही है कि किसीने उसे भगाकर उसकी भूमि हड़प ली है या धोखा देकर उससे उसका हँसिया, उसकी गाड़ी, घोड़ा या कुआं छीन लिया है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि हल के बिना कोई खेतिहर मजदूर हो सकता है या औजार के बिना कोई आदमी मोची हो सकता है। जिस प्रकार हम जल से दूर भूमि पर खड़े हुए किसी बंसी-विहीन मछेरे की कल्पना नहीं कर सकते—सिवा उस दशा में जबकि किसीने उसे पानी से दूर भगा

दिया हो और उसकी बंसी आदि छीन ली हो—उसी तरह हम भूमि और औजारों से विहीन किसी किसान या मोची की कल्पना उस समय तक नहीं कर सकते जबतक कि किसीने उससे उसकी भूमि और उसके औजार छीन न लिये हों।

ऐसे आदमी हो सकते हैं जिनको एक जगह से दूसरी जगह भगा दिया गया हो, जिनके काम करने से औजार छीन लिये गए हों और जिन्हें दूसरों के औजार लेकर ऐसे पदार्थ बनाने के लिए विवश किया जाता हो जिनकी उन्हें स्वयं अपने लिए आवश्यकता नहीं होती; किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उत्पादन की प्रणाली होती ही ऐसी है। इससे तो केवल इतना व्यक्त होता है कि कहीं-कहीं उत्पादन की स्वाभाविक शर्तों का उल्लंघन होता है। यदि हम उन सब पदार्थों को उत्पादन का साधन मानते हैं जिनसे मजदूर को बलपूर्वक वंचित किया जा सकता है, तो फिर दास के शरीर पर अधिकार का जो दावा किया जाता है उसे भी उत्पादन का अग क्यों न माना जाय ? इसी तरह सूर्य की किरणों, वायु, जल आदि के प्रयोग के अधिकार को भी उत्पादन के साधनों में क्यों न गिना जाय ? सम्भव है कि कुछ लोग ऐसे हों जो दीवार खड़ी करके अपने पड़ोसी को धूप से वंचित कर दें। ऐसे आदमी भी हो सकते हैं जो नदी के बहाव को तालाब की ओर मोड़-कर पानी गंदा कर दें। इसी तरह ऐसे आदमियों के भी होने की सम्भावना है जो दूसरों को अपनी सम्पत्ति समझें। किन्तु बलपूर्वक कार्यान्वित किये जाने पर भी उपर्युक्त तीनों दावों में से एकको भी उत्पादन के साधनों के विभाजन का आधार नहीं माना जा सकता। भूमि और औजार-सम्बन्धी काल्पनिक अधिकारों को उत्पादन का अलग-अलग साधन स्वीकार करना उतना ही अशुद्ध है जितना सूर्य की किरणों, वायु, जल अथवा किसी मनुष्य के शरीर-सम्बन्धी काल्पनिक अधिकारों को। ऐसे लोग हो सकते हैं जो भूमि और मजदूर के काम करने के औजारों पर अपना अधिकार बतायें, जैसेकि पुराने जमाने में लोग मजदूर के शरीर को अपनी सम्पत्ति समझते थे। इसी प्रकार ऐसे लोग भी हो सकते हैं जो सूर्य, हवा या पानी पर एकाधिकार का

दावा करें। कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो श्रमजीवी को एक जगह से दूसरी जगह भगा दें और ज्योंही वह अपने श्रम से कोई वस्तु उत्पन्न करे त्योंही उसे उससे बलात् छीन लें और साथ-ही-साथ उसके औजारों को भी हथिया लें और उसको अपने लिए नहीं बल्कि अपने स्वामी के लिए श्रम करने को बाध्य करें, जैसा कि फैक्टरियों में होता है। यह सब सम्भव है; किन्तु फिर भी जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की चल सम्पत्ति नहीं बन सकता—चाहे कितने ही प्राचीन काल से लोग ऐसा क्यों न मानते आए हों—उसी तरह कोई मजदूर बिना जमीन और औजार के नहीं हो सकता।

यदि कोई मनुष्य यह दावा करे कि अमुक व्यक्ति का शरीर मेरी सम्पत्ति है तो उसका यह परिणाम नहीं हो सकता कि दास अपने स्वामी की अपेक्षा स्वयं अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करने के अपने प्राकृतिक अधिकार से वंचित हो जाय। ठीक इसी प्रकार किसी व्यक्ति का भूमि और दूसरों के औजारों पर स्वामित्व का दावा करना किसी मजदूर को मानवमात्र के इस नैसर्गिक अधिकार से वंचित नहीं कर सकता कि वह भूमि पर रहे और अपने लिए जो कुछ उपयोगी समझता है उसे स्वयं अपने या समाज के औजारों से उत्पन्न करे। वर्तमान आर्थिक अवस्थाओं को देखते हुए अर्थशास्त्र केवल इतना कह सकता है कि कुछ लोग मजदूरों की जमीन और औजारों पर अपना अधिकार जताते हैं, इसलिए कुछ मजदूरों के लिए—सबके लिए कदापि नहीं—उत्पादन के नैसर्गिक नियमों का इस प्रकार उल्लंघन किया गया है कि वे भूमि और उत्पादन-सम्बन्धी औजारों से वंचित होकर दूसरों के औजारों से काम करने के लिए बाध्य हो गए हैं। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उत्पादन के नियमों का यह आकस्मिक उल्लंघन स्वयं उत्पादन का नियम है।

अर्थशास्त्रियों का यह कहना कि उत्पादन के साधनों का यह विभाजन उत्पादन का आधारभूत नियम है वैसा ही है जैसा बहुत-सी पंखकटी छोटी हरी चिड़ियों को पिंजड़े में बन्द देखकर किसी जीव-शास्त्री का यह निष्कर्ष निकालना कि एक छोटा-सा पिंजरा और उनकी शलाकों

पर रखे हुए नन्हें-नन्हें पानी के बर्तन चिड़ियों के जीवन के आवश्यक साधन हैं और पक्षियों का जीवन इन्हीं तीन साधनों पर निर्भर है। पिंजरों में चाहे कितनी ही पंखकटी चिड़िएं क्यों न हों, जीव-शास्त्री को यह नहीं समझना चाहिए कि पिंजरा पक्षियों के लिए जीवन का कोई प्राकृतिक वातावरण है। चाहे कितने ही मजदूरों को उनके स्थान से क्यों न भगा दिया जाय और चाहे उनकी पैदावार और उनके काम के औजारों को उनसे क्यों न छीन लिया जाय, उनकी भूमि पर रहने की तथा अपने औजारों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएं बनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति बदलेगी नहीं। कुछ लोग श्रमजीवियों की भूमि और उनके औजारों पर अपना अधिकार बतलाते हैं, जैसा कि पुराने जमाने में कुछ लोग उनके शरीर पर स्वामित्व का दावा करते थे; किन्तु जिस प्रकार मनुष्य-समाज का विभाजन स्वामियों और दासों में नहीं हो सकता—जैसा कि प्राचीन काल में लोग चाहते थे—उसी प्रकार उत्पादन के साधनों का भूमि और पूजी में विभाजन नहीं हो सकता, जैसा कि वर्तमान समाज में अर्थशास्त्री करना चाहते हैं। किन्तु दूसरों की स्वतंत्रता पर इस अन्यायंयुक्त अतिक्रमण को अर्थशास्त्री उत्पादन के स्वाभाविक साधनों के नाम से पुकारते हैं। मानव-समाज की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को अपना आधार बनाने के बदले अर्थशास्त्र ने किसी विशिष्ट उदाहरण को ही ग्रहण कर लिया है और उस विशिष्ट उदाहरण को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उसने उस भूमि पर, जिस पर एक आदमी काम करके आजीविका कमाता है, और उन औजारों पर जिनके सहारे वह रोजी कमाता है, दूसरे के अधिकार को स्वीकार कर लिया है। दूसरे शब्दों में अर्थशास्त्र ने एक ऐसे अधिकार को मान लिया है, जिसका अस्तित्व न तो कभी था, न हो सकता है और जो स्वतः आत्मविरोधी है, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसी भूमि पर अधिकार जताता है जिसपर वह काम नहीं करता तो उसका वास्तविक तात्पर्य केवल इतना है कि वह एक ऐसी भूमि को उपयोग में लाने का अधिकार चाहता है जिसे वस्तुतः वह इस्तेमाल नहीं करता। इसी तरह औजारों पर अधिकार जताने का अर्थ है ऐसे औजारों से काम करने का अधिकार

मांगना जिनका स्वयं प्रयोग नहीं किया जाता। जिस प्रकार प्राचीन काल में मनुष्य-समाज को नागरिकों तथा दासों की दो श्रेणियों में विभक्त करके दासों की अस्वाभाविक स्थिति को ही मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था मानते थे, उसी तरह उत्पादन के साधनों का वर्गीकरण करके आज अर्थशास्त्र मजदूरों की उस अस्वाभाविक स्थिति को, जिसमें वे रहते हैं, जीवन की स्वाभाविक अवस्था मानता है। अर्थशास्त्र ने इस विभाजन को केवल इसलिए स्वीकार किया है कि वर्तमान समाज के जिस दुर्गुण को उसने अपने अन्वेषण का आधार मान लिया है उसे वह न्यायसंगत सिद्ध करना चाहता है। इसका परिणाम यह निकला है कि अर्थशास्त्र वर्त्तमान स्थिति को किसी-न-किसी प्रकार उचित सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा करता है और सामने आनेवाले प्रश्नों के स्पष्टतम तथा सरलतम उत्तर को अंगीकार न करके ऐसे उत्तर देता है कि जिनका कोई अर्थ नहीं होता।

अर्थशास्त्र के सामने प्रश्न यह है--क्या कारण है कि जिन लोगों के पास भूमि और पूंजी है, वे भूमिहीनों और बिना पूंजीवालों को दास बना लेते हैं? सामान्य बुद्धिवाले कहते हैं कि यह सब रुपए की माया है। उनका कहना है कि रुपया ही मनुष्य को गुलाम बनाता है। किंतु अर्थशास्त्र इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता और कहता है कि दासता का कारण रुपया नहीं है, बल्कि यह कि कुछ लोगों के पास भूमि और पूंजी है और कुछ लोगों के पास नहीं। हम पूछते हैं—"क्या कारण है कि भूमि और पूंजी के स्वामी भूमिहीनों और बिना पूंजीवालों को अपना दास बना सकते हैं?" हमें उत्तर मिलता है—"क्योंकि उनके पास भूमि और पूंजी है।" किंतु यही तो हमारा प्रश्न है। भूमि और काम के औजारों से वंचित किया जाना तो ही दासता है। यह तो वही पुराना उत्तर हुआ—"इससे नींद आती है क्योंकि इसमें नींद लाने का गुण है।" किंतु जीवन का यह अनिवार्य प्रश्न हमेशा उपस्थित रहता है। अर्थशास्त्र भी इसे देखता है और उत्तर देने का प्रयत्न करता है, किंतु जबतक वह अपने द्वारा चुने गए वर्तमान आधार पर ही काम करता रहेगा और भूल-भुलैया में पड़ा रहेगा तबतक वह ठीक उत्तर नहीं दे सकेगा।

इसका उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र सबसे पहले उत्पादन के साधनों के अपने गलत विभाजन का परित्याग करे; अर्थात् परिणाम को कारण मानना छोड़ दे और जिन बातों की उसे जांच-पड़ताल करनी है पहले उनके समीपस्थ और बाद में दूरस्थ कारणों पर विचार करे। अर्थशास्त्र को इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए—"क्या कारण है कि कुछ लोग तो भूमि और उत्पादन के औजारों से वंचित हैं और कुछ लोग उन दोनों के स्वामी हैं ?" अर्थात, "क्या कारण है कि जो लोग जमीन जोतते हैं और औजारों का उपयोग करते हैं उनसे उनकी भूमि और उनके औजार अलग कर दिये जाते हैं ?" जैसे ही अर्थशास्त्र इस प्रश्न पर विचार करना आरम्भ कर देगा वैसे ही अनेक नई बातें उसके सामने आ खड़ी होंगी और अधूरे शास्त्र की पहलेवाली वे सारी धारणाएं उलट-पुलट जायंगी जिनका परिचालन इस दूषित आधार पर होता था कि मजदूरों की गरीबी का कारण उनकी गरीबी है। साधारण मनुष्य को इस बात में लेशमात्र भी शंका नहीं होती कि दासत्व का निकट कारण रुपया है। किंतु अर्थशास्त्र इसको अस्वीकार करता है और कहता है कि रुपया (द्रव्य) तो विनिमय का साधनमात्र है और उसका लोगों की दासता से कोई सम्बन्ध नहीं। अब देखना है कि बात ऐसी ही है या नहीं ?

: १८ :

फ़ीजी द्वीप की करुण कहानी

रुपया कहां से आता है ? किन परिस्थितियों में राष्ट्रों के पास रुपया सदा बना रहता है और किन परिस्थितियों में वे उसका उपयोग नहीं करते ? जिस प्रकार प्राचीन काल में सीदियन[1] या द्रेवलियन[2] लोग रहते थे, उसी प्रकार एक जाति आज अफ्रीका या आस्ट्रेलिया में रहती

[1]एशिया की एक प्राचीन खानाबदोश जाति।

[2]प्राचीन रूसी इतिहास में उल्लिखित एक स्लैवोनिक जाति।

है। वह कृषि, पशु-पालन और फलोत्पादन द्वारा जीवन-निर्वाह करती है। उसकी चर्चा हम इतिहास के आरम्भिक काल में सुनते हैं और इतिहास का प्रारम्भ विजेताओं के आक्रमणों से होता है। विजेता सदा एक ही रीति का अनुसरण करते आए हैं। मूलनिवासियों से वे जितनी भी चीजें हड़प सकते हैं हड़प लेते हैं; जैसे पशु, अन्न, वस्त्र, बुनी हुई वस्तुएं आदि। इसके अतिरिक्त वे स्त्रियों और पुरुषों को बंदी बनाकर लूटी हुई दूसरी वस्तुओं के साथ अपने देश ले जाते हैं। कुछ वर्ष बाद वे फिर चढ़ाई करते हैं, किंतु उस समय तक वहां के निवासी अपने पहले विनाश से भी नहीं सम्हल पाते और विजेताओं को लूटने के लिए बहुत कम सामग्री मिलती है। इसलिए वे उनके शोषण की और भी अच्छी-अच्छी युक्तियां ढूंढ़ निकालते हैं। ये युक्तियां बहुत ही सरल होती हैं और सबको स्वभावतः ही सूझ जाती हैं। पहली युक्ति है व्यक्तिगत दासत्व की, किंतु इसमें कठिनाई यह होती है कि विजेताओं को समस्त पराजित जाति से काम लेने और बदले में उसकी रोटी की व्यवस्था करनी पड़ती है। स्वभावतः उन्हें एक दूसरी युक्ति सूझती है। इसके अनुसार वे पराजितों को उनकी ही भूमि पर रहने देते हैं, किंतु उस भूमि पर आधिपत्य अपना जमा लेते हैं और उसे अपने अनुगामियों में बांट देते हैं ताकि इन अनुगामियों द्वारा वे वहां के मूल निवासियों से मनमानी मेहनत करवा सकें। किंतु यह युक्ति भी असुविधाओं से रिक्त नहीं होती। विजेताओं के पृष्ठपोषकों को मूल निवासियों की उत्पादन-सम्बन्धी सभी क्रियाओं की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसलिए एक तीसरी युक्ति सामने आती है। यह युक्ति अन्य युक्तियों के समान ही सभ्यता की द्योतक होती है। इसके अन्तर्गत पराजितों पर एक प्रकार का अनिवार्य कर लगाया जाता है जो उन्हें निश्चित समय पर भरना पड़ता है। विजेताओं के सामने लक्ष्य यह होता है कि जनता की पैदावार का जितना भी अधिक-से-अधिक भाग हड़पा जा सकता है हड़पा जाय। स्पष्ट है कि विजेता ऐसी ही वस्तुओं को हथियाना चाहेंगे जिन्हें वहां के मूल निवासी सबसे अधिक बहुमूल्य समझते हों; किंतु जो भारी न हों और सरलतापूर्वक संचित की जा सकें, जैसे सोना और खाल। अतः वे प्रत्येक

पराजित कुटुम्ब या जाति पर सोने या खाल के रूप में निश्चित समय पर मिलनेवाले कर लगा देते हैं और इस प्रकार अत्यधिक सुविधा के साथ जनता के श्रम का शोषण करते हैं। जब मूल निवासियों का खाल और सोने का भंडार प्राय: पूरा-का-पूरा उनकी भेंट चढ़ लेता है तो अभागे पराजितों को और सोना प्राप्त करने के लिए न केवल आपस में ही एक-दूसरे को बल्कि विजेताओं और उनके अनुगामियों के हाथ भी अपनी सारी सम्पत्ति और कार्य-शक्ति बेचनी पड़ती है। यही क्रम प्राचीन और मध्यकाल में चलता रहा था और यही अब भी चल रहा है। प्राचीन काल में देशों की जय-पराजय प्राय: हुआ करती थी और मानव-समाज में समानाधिकार की भावना नहीं थी। यही कारण था कि वैयक्तिक दासता ही उन दिनों दूसरों पर स्थापित प्राप्त करने की सबसे प्रचलित प्रणाली थी और उसकी मुख्य विशेषता यह थी कि दासों के साथ चल-सम्पत्ति का-सा व्यवहार किया जाता था। मध्यकाल में इस प्रकार की दासता का स्थान कुछ अंश में सामंतशाही अर्थात् भूस्वामित्व और चाकरी ने ले लिया और दासत्व के खिंचाव का केन्द्र व्यक्ति से हटकर भूमि पर आ गया। आधुनिक काल में—जब से अमरीका का पता लगा, व्यापार में उन्नति हुई, बहुलता के कारण सोना संसार भर में प्रामाणिक सिक्के के रूप में स्वीकार कर लिया गया और विभिन्न देशों की राज्य-शक्ति भी बढ़ी—तब से रुपए या द्रव्य के रूप में कर लेना लोगों के शोषण की मुख्य विधि बन गया है और मनुष्य के समस्त आर्थिक सम्बन्ध इसीपर आधारित हैं। एक साहित्यिक पुस्तक में प्रोफेसर यानजूल का एक लेख है जिसमें उन्होंने फीजी द्वीप के आधुनिक इतिहास का वर्णन किया है। यह प्रमाणित करने के लिए कि किस प्रकार वर्तमान युग में रुपया वसूल करना ही दूसरों को दास बनाने का प्रमुख साधन बन गया है, यदि मैं कोई अत्यन्त प्रभावोत्पादक उदाहरण उपस्थित करना चाहूं तो मुझे नीचे लिखे सत्य-विवरण से बढ़कर कोई दूसरा दृष्टांत नहीं मिलेगा। यह विवरण लिखित प्रमाणों पर आधारित है।

फ़ीजी लोग दक्षिण प्रशांत महासागर में पोलिनीशिया के द्वीपों में

रहते हैं। प्रोफेसर यानजूल के अनुसार इस द्वीप-समूह में कई छोटे-छोटे टापू हैं, जिनका क्षेत्रफल लगभग ८,००० वर्गमील है। आबादी केवल आधे टापुओं में है। कुल जन-संख्या १,५१,५०० है, जिसमें से १,५०,००० मूल निवासी और १,५०० गोरे हैं। मूल-निवासियों को जंगली अवस्था में से निकले हुए बहुत दिन हो गए हैं और वे अपनी योग्यता के लिए प्रसिद्ध हैं। थोड़े ही दिनों में कृषि और पशुपालन की अच्छी योग्यता प्राप्त करके उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि उनमें कार्य और विकास की क्षमता है। पहले ये लोग वैभवशाली थे; परन्तु सन् १८५९ में भीषण संकट में फंस गए। अमरीकी सरकार ने फ़ीजी राजा पर यह अभियोग लगाया कि तुम्हारी प्रजा ने कुछ अमरीकी नागरिकों के साथ हिंसात्मक अत्याचार किये हैं, इसलिए उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में ४५,००० डालर दो। अतः फ़ीजी-निवासियों और उनके राजा थाकम्बाऊ को एकाएक रुपए की आवश्यकता पड़ गई।

क्षतिपूर्ति के धन को वसूल करने के लिए अमरीकियों ने एक सैन्य-दल भेजा, जिसने जमानत के रूप में कुछ सर्वोत्तम टापुओं पर अचानक अधिकार कर लिया और यहांतक धमकी दी कि यदि क्षतिपूर्ति का रुपया एक निश्चित तिथि तक अमरीकी प्रतिनिधियों को न दे दिया गया तो गोलाबारी करके उनकी बस्तियां नष्ट कर दी जायंगी।

धर्म-प्रचारकों के साथ जो गोरे फ़ीजी में सबसे पहले जा बसे थे उनमें अमरीकी भी थे। इन लोगों ने किसी-न-किसी बहाने टापुओं की सर्वोत्तम भूमि को चुन या हथियाकर उसपर रुई और कॉफ़ी की खेती आरम्भ कर दी। उन्होंने वहां के असंख्य निवासियों को मजदूरी पर रख लिया और उन बेचारों को या तो ऐसी शर्तों में जकड़ लिया जिन्हें वे समझ नहीं पाते थे या उन्हें ऐसे ठेकेदारों द्वारा नौकरी पर लगाया जो गुलामों का व्यापार किया करते थे। इन खेतों के गोरे स्वामियों और मूलनिवासियों में, जिन्हें गोरे अपना गुलाम समझते थे, झगड़ा अनिवार्य था। इसी प्रकार के एक झगड़े को बहाना

बनाकर अमरीका ने क्षतिपूर्ति की माँग की थी। वैभवशाली होते हुए भी फ़ीजी-निवासी उस समय तक भुगतान जिन्स के जरिए किया करते थे; जैसाकि यूरोप में भी मध्यकाल तक प्रचलित था। वे रुपए का प्रयोग नहीं करते थे और उनका सारा व्यापार वस्तु-विनिमय के ही रूप में होता था। माल के बदले माल दिया जाता था और जो इने-गिने सार्वजनिक अथवा सरकारी कर थे, उनका भुगतान पैदावार से होता था। अतः जब अमरीकावालों ने फ़ीजी निवासियों और उनके राजा थाकम्बाऊ से ४५,००० डालर की क्षतिपूर्ति मांगते हुए समय पर रुपया न भरे जाने पर भीषण परिणामों की धमकी दी तब उनके सामने एक विकट समस्या आ खड़ी हुई। उनके लिए तो ४५,००० का अंक ही कल्पनातीत था; डालर की तो बात ही क्या, जिसको इतने परिमाण में उन्होंने कभी देखा ही नहीं था। थाकम्बाऊ ने दूसरे सामंतों से परामर्श करके इंग्लैंड की रानी की सहायता लेने का निश्चय किया। पहले उसने रानी से फ़ीजी द्वीपों को अपने संरक्षण में लेने की प्रार्थना की। बाद में उसने इन द्वीपों के अंग्रेजी राज्य में मिला लिये जाने की चर्चा उठाई; किंतु अंग्रेजों ने इस प्रार्थना पर अत्यन्त सावधानी से विचार किया और उस अर्द्ध-सभ्य राजा को आपत्ति-काल में सहायता देने की कोई उतावली नहीं दिखाई। सीधा उत्तर देने के बदले उन्होंने फ़ीजी द्वीप की जांच-पड़ताल के लिए सन् १८६० में एक कमीशन भेजा जिससे कि यह निश्चय किया जा सके कि अमरीकी पावनेदारों को संतुष्ट करने और फ़ीजी द्वीपों को ब्रिटिश उपनिवेश में मिलाने के लिए धन व्यय करना लाभदायक होगा या नहीं।

इस बीच अमरीकी सरकार क्षतिपूर्ति के भुगतान के लिए बराबर तकाजा करती रही। जमानत के रूप में उसने वहां के कुछ सर्वोत्तम स्थानों पर अधिकार कर लिया और लोगों की सम्पन्नता को देखकर क्षतिपूर्ति की राशि ४५,००० डालर से बढ़ाकर ९०,००० डालर कर दी। साथ-ही-साथ उसने यह धमकी भी दी कि यदि थाकम्बाऊ ने भुगतान में तत्परता नहीं दिखाई तो क्षतिपूर्ति की राशि और भी बढ़ा

दी जायगी। इस प्रकार चारों ओर से दबाए जाने पर बेचारे थाकम्बाऊ ने, जिसको उधार लेन-देन की यूरोपीय पद्धति का तनिक भी ज्ञान नहीं था, यूरोपीय प्रवासियों की सलाह पर मेलबोर्न के व्यापारियों से किसी भी शर्त पर—यहांतक कि किसी एक व्यक्ति के पास अपना सारा राज्य गिरवी रखकर भी—रुपया लेने की चेष्टा की। थाकम्बाऊ की प्रार्थना के फलस्वरूप मेलबोर्न में एक व्यापारी कम्पनी की स्थापना हुई, जिनका नाम पोलिनीशियन कम्पनी रखा गया। इस कम्पनी ने अपने लिए बहुत ही अनुकूल शर्तों पर फीजी के सरदारों के साथ एक समझौता किया। अमरीकी सरकार के ऋण को कुछ निश्चित तिथियों तक चुका देने का वचन देकर कम्पनी ने समझौते की पहली शर्त के अनुसार आरम्भ में १,००,००० और बाद में २,००,००० एकड़ अच्छी-से-अच्छी अपनी पसन्द की भूमि ले ली। इसके अतिरिक्त उसने अपनी फैक्टरियों, बस्तियों आदि को सदा के लिए सब तरह के करों और चुंगियों से मुक्त करा लिया। साथ-ही-साथ, उसने बहुत समय तक के लिए फ़ीजी में बैंक स्थापित करने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया और अनिश्चित संख्या में नोट चलाने की छूट भी ले ली। समझौते के बाद से, जिसपर अंतिम रूप से सन् १८६८ में हस्ताक्षर किये गए, फ़ीजी-निवासियों को थाकम्बाऊ की अधीनता में अपनी निजी सरकार के अतिरिक्त एक-दूसरी शक्ति का सामना करना पड़ा। वह शक्ति वह प्रभावशाली व्यवसायी कम्पनी थी जिसके पास सभी टापुओं में बड़ी-बड़ी जमींदारियां थीं और जिसका थाकम्बाऊ-सरकार में बड़ा बोलबाला था। उस समय तक थाकम्बाऊ-सरकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न करों के रूप में मिलनेवाले पदार्थों को लेकर और आयात पर थोड़ी-सी चुंगी वसूल कर ही संतुष्ट हो जाती थी; किंतु शक्तिशाली पोलिनीशियन कम्पनी की स्थापना और उसके साथ की गई संधि के फलस्वरूप फ़ीजी सरकार की आर्थिक स्थिति बदल गई। उसकी सर्वोत्तम भूमि का एक बहुत बड़ा भाग कम्पनी के हाथ में चला गया, जिसके परिणामस्वरूप कर घट गए। उधर, जैसाकि बतलाया जा चुका है, कम्पनी को बिना

चुंगी दिये ही माल भेजने और मंगाने का अधिकार मिल गया था। परिणाम यह हुआ कि चुंगी की आय भी कम हो गई। मूल-निवासियों अर्थात् फ़ीजी के ९९ प्रतिशत लोगों से चुंगी की आय वैसे ही बहुत कम होती थी; क्योंकि रुई और धातुओं के कुछ सामान के अतिरिक्त वे किसी अन्य विदेशी वस्तु का उपयोग नहीं करते थे। अब जबकि पोलिनीशियन कम्पनी के कारण यूरोप के धनी लोग भी चुंगी देने से बचने लगे तो थाकम्बाऊ की आय नाममात्र की रह गई। स्वभावतः थाकम्बाऊ को अपनी आय बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील होना पड़ा। उसने अपने गोरे मित्रों से सलाह पूछी कि मैं इन कठिनाइयों से कैसे बच सकता हूं। उन्होंने थाकम्बाऊ को अपने देश में पहली बार प्रत्यक्ष कर लगाने की सलाह दी और यह भी कहा कि काम को सरल बनाने के लिए इस कर को रुपए के रूप में वसूल किया करो। यह कर एक पौण्ड प्रति पुरुष और चार शिलिंग प्रति स्त्री के हिसाब से व्यक्ति-कर के रूप में लगाया गया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, फ़ीजी द्वीपसमूह में अब भी खेती और प्रत्यक्ष वस्तु-विनिमय की प्रथा प्रचलित है। वहां के मूल-निवासियों में ऐसे बहुत ही कम लोग हैं जिनके पास रुपया या द्रव्य हो। विभिन्न प्रकार के कच्चे माल और पशु ही उनका धन हैं, रुपया नहीं। फिर भी, नए कर के अनुसार फ़ीजी-निवासियों से एक निश्चित तिथि पर और चाहे जैसे भी हो वैसे रुपए के रूप में एक ऐसी रकम मांगी गई जो कुटुम्बवाले व्यक्तियों के लिए काफी भारी सिद्ध हुई। उस समय तक कोई फ़ीजी-निवासी मजदूरी के अलावा और किसी रूप में सरकार को व्यक्तिगत कर देने का अभ्यस्त नहीं था। कर तो गांव या समुदाय द्वारा सार्वजनिक खेतों की पैदावार में से भरे जाते थे और यही पैदावार फ़ीजी-निवासियों की भी आय का प्रधान साधन थी। नई कठिनाई को दूर करने का इसके पास एक ही उपाय था और वह था गोरे औपनिवेशिकों से रुपया लेना। इसके लिए इन्हें या तो व्यापारियों की शरण लेनी पड़ती या खेत के मालिकों की। टैक्स-कलक्टर कर का रुपया एक निश्चित तिथि तक चाहते थे, इसलिए

यदि उसे चुकाने के लिए मूल निवासी व्यापारी के पास रुपया लेने जाते थे तो उन्हें अपनी चीजें व्यापारी के हाथ किसी भी मूल्य पर बेच देनी पड़ती थी। कभी-कभी तो आगामी फसल को गिरवी रखकर रुपया लेना पड़ता था, जिससे लाभ उठाकर व्यापारी लोग स्वभावतः अनुचित कमाई करते थे। दूसरी युक्ति यह थी कि लोग जमींदार के पास जाकर उसके हाथ अपनी मेहनत बेच देते; अर्थात उसके मजदूर बन जाते। किंतु उन दिनों फ़ीजी द्वीप में मजदूरी बहुत कम थी जिसका कारण सम्भवतः यह था कि एक साथ बहुत-से आदमी काम करने को तत्पर हो गए थे। वर्तमान सरकार की रिपोर्ट के अनुसार उस समय प्रत्येक वयस्क पुरुष को प्रति सप्ताह एक शिलिंग या प्रति वर्ष दो पौण्ड बारह शिलिंग[1] से अधिक नहीं मिलता था। इसका परिणाम यह होता था कि केवल निजी कर चुकाने के लिए—कुटुम्ब के कर की कौन कहे—फ़ीजी-निवासियों को घरबार, परिवार, भूमि और खेती छोड़कर कभी-कभी तो बहुत दूर दूसरे टापू में जाना पड़ता था और नए टैक्ट के एक पौण्ड के लिए किसी जमींदार की दासता में छः महीनों को बंधना पड़ता था। सारे कुटुम्ब के कर को चुकाने के लिए उसे दूसरे साधनों की शरण लेनी पड़ती थी।

इस प्रकार की व्यवस्था का क्या परिणाम हो सकता था, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अपनी १,५०,००० प्रजा से थाकम्बाऊ केवल ६,००० पौण्ड इकट्ठा कर सका। इसके पश्चात करों के भुगतान के लिए घर-घर इस प्रकार मांग की जाने लगी जैसी पहले कभी नहीं की गई थी और लोगों पर बहुत-से अनिवार्य काम भी लादे जाने लगे। स्थानीय शासन के कर्मचारी, जो पहले ईमानदार थे, शीघ्र ही उन गोरे जमींदारों से जा मिले, जिन्होंने देश की व्यवस्था अपने हाथों में ले ली थी। कर न चुकाने के अपराध में फ़ीजी-निवासी अदालतों में प्रस्तुत किये जाने लगे और उन्हें अदालती व्यय भरने के अतिरिक्त कम-से-कम छः महीने के कारावास का दण्ड भी दिया जाने लगा। जेल

---

[1]लगभग ३५ रुपये

का काम उस खेत से लिया जाता था जिसका गोरा स्वामी कैदी का कर चुकाने और मुकदमे का खर्च भरने को सबसे पहले तैयार हो जाता था। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि अदालत अभियुक्त फीजी-निवासियों को गोरों के हाथ सौंप देती थी जिनके खेतों पर अनिवार्य मजदूरी करके उन्हें कारावास का-सा समय काटना पड़ता था। इस प्रकार गोरों को जितने मजदूरों की आवश्यकता होती थी, उतने उन्हें सस्ते दामों पर मिल जाते थे। आरम्भ में इस अनिवार्य मजदूरी का दण्ड छः महीने से अधिक के लिए नहीं दिया जाता था; किन्तु बाद में भाड़े के टट्टू जज यह दण्ड अट्ठारह-अट्ठारह महीने तक के लिए देने लगे। कभी-कभी तो वे इस दण्ड को दुहरा भी देते थे। अतः कुछ ही वर्षों में फ़ीजी-निवासियों की आर्थिक स्थिति सर्वथा बदल गई। पूरे-के-पूरे जिले, जो पहले हरे-भरे और सम्पन्न थे, अब बिलकुल कंगाल हो गए और उनकी जन-संख्या आधी रह गई। बूढ़ों और दुर्बलों को छोड़कर सारा-का-सारा पुरुष-समाज कर चुकाने के लिए रुपया कमाने या अदालत द्वारा दिया गया दण्ड भोगने के लिए घर से दूर गोरे जमींदारों के यहाँ पापड़ बेलने लगा। फ़ीजी की स्त्रियाँ खेती का काम नहीं करतीं; अतः पुरुषों की अनुपस्थिति में उन्होंने या तो खेतों की रत्ती भर भी चिन्ता नहीं की या खेती बिल्कुल बन्द कर दी। कुछ ही वर्षों में फ़ीजी की आधी जन-संख्या गोरों की गुलाम बन गई। स्वभावतः अपनी दशा सुधारने के लिए इन लोगों ने एक बार फिर इंगलैंड का द्वार खटखटाया। एक नया प्रार्थनापत्र तैयार किया गया, जिसमें फ़ीजी के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों और सामन्तों ने ब्रिटिश प्रजा बनाए जाने की याचना की। यह प्रार्थना-पत्र ब्रिटिश राजदूत को दे दिया गया। इस बीच इंगलैंड अपने अन्वेषक यात्रियों की सहायता से फ़ीजी द्वीपों का ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर चुका था, बल्कि उसने उनका पर्यवेक्षण भी कर लिया था। साथ-ही-साथ उसे यह भी पता चल गया था कि संसार के एक कोने में पड़े हुए इस सुन्दर द्वीप-समूह में कितना प्राकृतिक धन है। अतः इस बार की चेष्टा पूर्ण रूप से सफल रही और सन् १८७४ में इंगलैंड ने फ़ीजी-द्वीप-समूह पर सरकारी रूप से अधिकार कर उसे

अपने उपनिवेशों में मिला लिया। इसके फलस्वरूप अमरीकी जमींदारों में बड़ा असंतोष फैला।

थाकम्बाऊ का देहान्त हो गया और उसके उत्तराधिकारियों को थोड़ी-सी पेंशन दे दी गई। द्वीप-समूह का शासन-भार न्यू साउथ वेल्स के गवर्नर सर हरकुलिज राबिनसन को सौंप दिया गया, जो बाद में लार्ड रासमीड कहलाए। अंग्रेजी राज्य में मिलने के बाद एक वर्ष तक फ़ीजी में अंग्रेजों की कोई सरकार नहीं रही; सर हरकुलीज राबिनसन ने वहां अपनी ओर से केवल एक व्यवस्थापक नियुक्त कर दिया। द्वीपों को अपने हाथ में लेने के बाद अंग्रेजी सरकार से जो आशाएं की गई थीं उन्हें पूर्ण करने में उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक ओर तो फ़ीजी के मूल-निवासी घृणित मनुष्य-कर के बन्द किये जाने की आशा करते थे। दूसरी ओर वहाँ के गोरे निवासियों में स्वार्थ का संघर्ष था। अमरीकी लोग तो अंग्रेजों के शासन को शंका की दृष्टि से देखते थे, जबकि ब्रिटिश लोग हर तरह की सुविधाओं के आकांक्षी थे; जैसे, मूल-निवासियों पर अपनी सत्ता की स्वीकृति, हड़पी हुई फ़ीजी भूमि पर अपने अधिकार का नियमित माना जाना, आदि। अंग्रेजी सरकार ने इस समस्या का योग्यतापूर्वक सामना किया। सबसे पहले उसने उस मनुष्य-कर का अन्त किया जिसके कारण थोड़े-से औपनिवेशिकों के लाभ के लिए वहाँ के मूल निवासी दासता की जंजीर में जकड़ दिये गए थे, किन्तु इस मामले में सर हरकुलीज राबिनसन को एक भीषण दुविधा का सामना करना पड़ा। जिस मनुष्य-कर से मुक्ति पाने के लिए फ़ीजी-निवासियों ने ब्रिटिश सरकार से अपील की थी जिसका अन्त करना तो आवश्यक था ही, साथ-ही-साथ अंग्रेजी औपनिवेशिक नीति के अनुसार यह भी आवश्यक था कि फ़ीजी द्वीप-समूह अपनी शासन-व्यवस्था पर किये जानेवाले व्यय का भार स्वयं सम्हाले। किन्तु मनुष्य-कर के हट जाने पर फ़ीजी को चुंगी से वर्ष भर में ६,००० पौंड से अधिक आय नहीं होती थी, जब कि शासन-प्रबंध का वार्षिक व्यय कम-से-कम ७०,००० पौंड पड़ता था। इसलिए राबिनसन ने द्रव्य-कर हटाकर श्रम-कर लगाया, अर्थात् फ़ीजी-निवासियों को राज्य के लिए अनि-

वार्य रूप से काम करने के लिए बाध्य किया। इससे भी ७०,००० पौंड की वह रकम पूरी न हो सकी जिसकी उसे अपने और अपने सहकारी कर्मचारियों के व्यय के लिए आवश्यकता थी। यह स्थिति सर ए० एम० गार्डन (बैरन स्टेनमूर) नामक नए गवर्नर की नियुक्ति तक इसी प्रकार चलती रही। उसने अपने और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के आवश्यक व्यय की पूर्ति के लिए एक नई युक्ति निकाली। उसने निश्चय किया कि जबतक द्वीप में मुद्रा का प्रचुर प्रचार नहीं हो जायगा, तबतक वह मुद्रा की माँग न कर वहाँ के निवासियों द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले पदार्थों को इकट्ठा करता रहेगा और उन्हें स्वयं बेचेगा।

फ़ीजी-निवासियों के जीवन की यह करुण कहानी हमें साफ-साफ और अच्छी तरह बता देती है कि वास्तव में रुपया क्या है और उसका प्रभाव कितना व्यापक होता है। इसमें हम सारी बातें स्पष्ट रूप से देख लेते हैं—एक ओर हमें दासता के मूल आधार—तोप, धमकी, हत्या, लूटमार इत्यादि—का परिचय मिलता है और दूसरी ओर दासता के मुख्य शस्त्र रुपए का स्वरूप दिखाई देता है—वह रुपया, जिसने अब अन्य सभी साधनों का स्थान ले लिया है। राष्ट्रों के आर्थिक विकास के इतिहास में हमें शताब्दियों तक की जिन घटनाओं का अध्ययन करना पड़ता है, वे सब, आर्थिक उत्पीड़न के विभिन्न रूपों के पूर्णतः विकसित हो जाने के कारण, यहां केवल दस वर्षों में केन्द्रीभूत हो गई हैं। नाटक इस प्रकार प्रारम्भ होता है—अमरीकी सरकार फ़ीजी-निवासियों को दास बनाने की इच्छा से प्रेरित होकर फ़ीजी द्वीप-समूह में तोपों से भरे हुए जहाज भेजती है। धमकी का बहाना आर्थिक है, किंतु फ़ीजी-निवासियों—औरतों, बच्चों, बूढ़ों और बेकसूरों—के सामने तोपें तान दी जाती हैं। यही कहानी आज अफ्रीका, चीन और मध्य एशिया में दोहराई जा रही है। सब राष्ट्रों की पराजय के इतिहास में यही कहानी दोहराई गई है। यह था नाटक का सूत्रपात जिसका मूल मंत्र था—"रुपया दो या जीवन।" पहले ४५,००० डालर, फिर ९०,००० डालर या रक्त की नदियां। किंतु ९०,००० डालर आते कहां से ? वे तो अमरीकियों की जेब में थे। और तब आरम्भ होता है नाटक का दूसरा अंक। संक्षिप्त,

रक्तपात से परिपूर्ण, भयंकर और केन्द्रित नर-संहार की योजना स्थगित करनी पड़ती है और उसके स्थान पर ऐसी यातनाएं आरम्भ की जाती हैं जो दिखाई तो कम देती हैं किंतु होती हैं अधिक चिरस्थायी। इसपर फ़ीजी द्वीपों के निवासी अपने शासक सहित नर-संहार के बदले आर्थिक दासता स्वीकार करते हैं। वे रुपया उधार लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मानवीय दासता के आर्थिक रूप प्रस्फुटित होते हैं।

यह आर्थिक दासता अपने विभिन्न रूपों में एक अनुशासित सेना के समान तुरन्त कार्य करना आरम्भ कर देती है और पांच वर्ष के भीतर सारा काम पूरा हो जाता है। फ़ीजी-निवासी न केवल अपनी भूमि और सम्पत्ति का उपभोग करने के अधिकार से वंचित कर दिये जाते हैं बल्कि उनसे उनकी स्वतंत्रता भी छीन ली जाती है। वे दास बन जाते हैं।

इसके बाद तीसरा अंक आरम्भ होता है। स्थिति असह्य हो जाती है और लोगों के कानों में भनक पड़ती हैं कि वे अपना स्वामी बदल कर दूसरे की दासता स्वीकार कर सकते हैं। ध्यान रहे कि इस समय आर्थिक दासता से मुक्ति पाने की किसीको चिंता नहीं रह जाती। फ़ीजी-निवासी दूसरा स्वामी बुलाते हैं और अपने दुःखों को कम करने की प्रार्थना करते हुए उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। अंग्रेज आते हैं और देखते हैं कि इन द्वीपों पर अधिकार करके वे यहां के असंख्य आलसियों का पेट भर सकते हैं। अतः वे इन द्वीपों को उनके मूल-निवासियों सहित अपने राज्य में मिला लेते हैं, किंतु उन्हें वे न तो अपना दास या चल-सम्पत्ति ही मानते हैं, न उनकी जमीन को हथिया-कर अपने मित्रों में बांटते हैं। अब इन पुराने हथकंडों की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब तो केवल इस बात की आवश्यकता रह जाती है कि मूल निवासियों से कर वसूल किया जाय, जो एक ओर तो इतना भारी हो कि दासों को दासता में बांधे रख सके और दूसरी ओर इतना पर्याप्त हो कि उससे अनगिनत निकम्मों का पेट पल सके।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फ़ीजी-निवासियों को अंग्रेजों को ७०,००० पौण्ड देना था। इसी आधारभूत शर्त पर इंगलैंड उन्हें

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

अमरीकी दासता से मुक्त करने के लिए उद्यत हुआ था, उन्हें दासता की शृंखला में पूरी तरह से जकड़ देने के लिए बस इसी बात की आवश्यकता भी थी। किंतु फ़ीजी-निवासियों की अवस्था ऐसी नहीं थी कि वे ७०,००० पौंड भर सकते। यह रकम उनके सामर्थ्य से बाहर थी। इसलिए कुछ समय के लिए अंग्रेजों ने अपनी मांग में संशोधन किया और अपने पावने का कुछ अंश उपज के रूप में लेना स्वीकार कर लिया, ताकि भविष्य में रुपए का प्रचलन हो जाने पर वे अपना पूरा पावना बसूल कर सकें। इंगलैंड ने पहली कम्पनी की तरह व्यवहार नहीं किया। उस कम्पनी के व्यवहार की तुलना जंगली लोंगों पर जंगली आक्रमणकारियों द्वारा की गई उस प्रथम चढ़ाई से की जा सकती है जिसमें आक्रमणकारियों का एकमात्र उद्देश्य यह होता है कि जो कुछ मिले उसे लूटपाट कर चलते बनो। किंतु इंगलैंड ने दासता के जाल में फंसानेवाले एक दूरदर्शी व्यक्ति के समान व्यवहार किया। उसने सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी को एकबारगी ही नहीं मार डाला; बल्कि उसे सोने की चिड़िया समझकर खिलाया-पिलाया। अपनी अर्थ-सिद्धि के लिए पहले उसने लगाम ढीली कर दी ताकि बाद में वह उसे कसके खींचकर फ़ीजी-निवासियों को उस आर्थिक दासता में जकड़ दे जिसमें आज यूरोप और सारा सभ्य संसार जकड़ा हुआ है और जिससे मुक्ति का कोई मार्ग दृष्टिगत नहीं होता।

रुपया विनिमय का एक निर्दोष साधन है, किन्तु तभी जब जनता की छाती पर तोपें नहीं तानी जातीं। जब वह तोप से उड़ा देने की धमकी देकर वसूल किया जाता है तब अनिवार्य रूप से वही होता है जो फ़ीजी में हुआ था। ऐसा ही हर जगह हमेशा हुआ और होता है। ऐसा ही रूस के पुराने राजाओं और डवलियनों के साथ हुआ था और ऐसा ही सब देशों के शासकों और उनकी प्रजा के साथ होता है। जो लोग दूसरों का उत्पीड़न करने में समर्थ होते हैं, वे उनसे इतने अधिक रुपए की मांग करते हैं और उसे प्राप्त करने में इतने बल का प्रयोग करते हैं कि उत्पीड़ित उनकी दासता स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है। इसके अतिरिक्त सदा वैसा ही होता है जैसा अंग्रेजों और

फ़ीजी-निवासियों के बीच हुआ था, अर्थात् उत्पीड़ित को शीघ्र-से-शीघ्र दास बनाने के उद्देश्य से उत्पीड़क सदा आवश्यकता से अधिक रुपए की मांग करता है, कम की नहीं। वह सीमा का उल्लंघन केवल उस दशा में नहीं करता जब उसके मन में नैतिक जागरूकता विद्यमान होती है। फिर भी जब उसे रुपए की आवश्यकता होती है तब वह अपनी निश्चित सीमा तक पहुँचे बिना नहीं रहता। जहांतक सरकार या शासन-संस्था का प्रश्न है, वह तो उस सीमा का सदा उल्लंघन करती है, क्योंकि एक तो उसमें नैतिक भावना नहीं होती और दूसरे, जैसाकि हम जानते हैं, युद्ध-सम्बन्धी व्ययों को पूरा करने और सहयोगियों को देने के लिए उसे सदा धन की अधिक आवश्यकता रहती है। वह ऋण से सदा इतनी अधिक लदी रहती है कि उससे मुक्त होना उसके लिए असम्भव होता है और इच्छा न होने पर भी उसे १८वीं सदी के एक रूसी राजनीतिज्ञ द्वारा प्रतिपादित इस नियम का अनुसरण करना पड़ता है..."किसान को मुंडते ही रहना चाहिए ताकि वह फूलकर मोटा न हो जाय।" सभी सरकारें ऋण के पंक में इतनी ही बुरी तरह फंसी रहती हैं और उनके ऋण में प्रति वर्ष बड़े भयंकर वेग से वृद्धि होती रहती है (इंग्लैंड और अमरीका के आकस्मिक घाटे इसमें शामिल नहीं है)। इसी प्रकार बजट के अंकों में भी वृद्धि होती है, अर्थात दूसरे आक्रमण-कारियों से झगड़ने और स्वयं अपनी आक्रमणकारी योजना में योग देने-वालों को धन और भूमि देने की आवश्यकता बढ़ जाती है। स्वभावतः भूमि-कर भी बढ़ जाते हैं। किन्तु मजदूरी नहीं बढ़ती। इसका कारण यह नहीं है कि लगान का कानून उसे बढ़ने से रोकता है बल्कि यह कि भूमि-कर और राज्य-कर को वसूल करने में हिंसा का प्रयोग किया जाता है और इन करों का एकमात्र प्रयोजन लोगों से उनकी बची हुई सारी सम्पत्ति को छीनना होता है, ताकि वे कर भरने के लिए अपना श्रम बेचने पर बाध्य हो जायं। श्रमजीवियों का शोषण ही इन करों का लक्ष्य होता है। किन्तु यह शोषण उसी दशा में सम्भव है जब लोगों से उनकी सामर्थ्य से अधिक कर मांगा जाय; अर्थात् जब लोगों में इतनी क्षमता ही न हो कि अपनी पोषण-सम्बन्धी आवश्यकताओं की

पूर्ति करने के अतिरिक्त कोई कर दे सकें। मजदूरी बढ़ा देने से इस दासत्व की सम्भावना ही समाप्त हो जायगी। अतः बल-प्रगोग के रहते हुए मजदूरी में कर-वृद्धि नहीं हो सकती। समाज के एक समूह के लोगों द्वारा दूसरे समूह के लोगों के साथ किये गए इस सरल और बोधगम्य व्यवहार को अर्थशास्त्री 'लौह नियम' कहकर पुकारते हैं और जिस साधन द्वारा यह कार्य किया जाता है उसे वे विनिमय का माध्यम कहते हैं।

विनिमय के इस निर्दोष माध्यम—रुपये—की आवश्यकता मनुष्य को पारस्परिक व्यवहार के लिए होती है। किन्तु क्या कारण है कि जहाँ कर रुपए के रूप में जबरदस्ती वसूल नहीं किये जाते वहां रुपए का आजकल-जैसा महत्व न कभी रहा है, न हो सकता ? और क्या कारण है कि वस्तु-विनिमय का अर्थात् आवश्यकतानुसार भेड़, रोएं, खाल, शंख आदि का मुद्रा के रूप में प्रयोग सदा होता रहा है और होता रहेगा, जैसा कि फीजी, अफ्रीका आदि के निवासियों और साधारणतया उन सभी लोगों में प्रचलित है जो कर नहीं देते ? लोगों में किसी विशिष्ट प्रकार के द्रव्य का प्रचलन तभी होता है जब वह सब लोगों से बलात् मांगा जाता है। रुपए की आवश्यकता लोग तभी अनुभव करते हैं जब उन्हें पता चल जाता है कि उत्पीड़कों के अत्याचार से बचने का यही एक साधन है और तभी रुपए को विनिमय की स्थायी क्षमता प्राप्त होती है। किंतु यह बात है कि जो वस्तु-विनिमय का सबसे सुविधाजनक माध्यम है उसीको विनिमय की शक्ति भी प्राप्त हो। यह शक्ति वस्तुतः उस वस्तु को मिलती है जिसकी मांग सरकार करती है। यदि सरकार सोने की मांग करती है तो सोना विनिमय का माध्यम बन जाता है। इसी प्रकार यदि सरकार अंगुलियों की हड्डियों की मांग करती तो उन हड्डियों को ही विनिमय के माध्यम का स्थान मिल जाता है। यदि ऐसी बात नहीं है तो विनिमय के माध्यम को प्रचलित करने का विशिष्ट अधिकार अबतक केवल सरकार को ही क्यों रहा है अब भी क्यों है ? जनता ने—मान लीजिए फ़ीजी-निवासियों ने—जब विनिमय का एक माध्यम बना रखा है तो फिर उसे अपनी इच्छानुसार

विनिमय क्यों न करने दिया जाय और जिन्हें बल प्रयोग करने की क्षमता है वे उसकी विनिमय-प्रणाली में हस्तक्षेप क्यों करें ? किंतु स्थिति यह है कि सरकार स्वयं सिक्के बनाती है और दूसरों को ऐसा करने से रोक देती है या (जैसा कि हमारे यहां रूस में होता है) सरकार केवल कागज के टुकड़े छाप देती है, जिसपर ज़ार की मुखाकृति छपी रहती है और किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्ताक्षर होते हैं। सरकार इस द्रव्य की नकल करने पर लोगों को दंड देती है और उसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में बांटती है। इन्हीं सिक्कों और इन्हीं कागज के टुकड़ों को वह राज्य-कर और भूमि-कर के रूप में मांगती है और इतनी अधिक संख्या में मांगती है कि इन्हें प्राप्त करने के लिए मजदूरों को अपना सारा श्रम लगा देना पड़ता है। फिर भी सरकार जनता को यही विश्वास दिलाती है कि उसे इस रुपए की आवश्यकता 'विनिमय के माध्यम' रूप में है। मानव स्वतंत्र होता है, वह एक-दूसरे पर अत्याचार नहीं करता और न एक-दूसरे को दासता की रस्सी में ही जकड़ता। किंतु समाज में रुपए का उपयोग होता है और एक-ऐसा लौह-नियम बन जाता है, जिसके फलस्वरूप लगान बढ़ जाता है और मजदूरी घटकर न्यूनतम स्तर पर पहुंच जाती है। यह तो सत्य है कि रूस के आधे या आधे से भी अधिक किसान प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष टैक्सों और भूमि-करों के कारण जमीदारों और मिल-मालिकों के यहां दासों की तरह मजदूरी करते हैं; किंतु स्पष्टतः इसका यह अर्थ नहीं है कि सरकार और उसके सहायक जमींदारों को मुद्रा के रूप में दिये जानेवाले प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष व भूमि-सम्बन्धी अनेक करों के बलात् लिये जाने के कारण मजदूर रुपया देनेवालों की दासता करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि विनिमय के माध्यम के रूप में रुपये का अस्तित्व है और उसके साथ-साथ एक लौह कानून भी है।

दासता की प्रथा का अंत होने से पहले मैं अपने नौकर बेंका को कोई भी काम करने के लिए बाध्य कर सकता था और अस्वीकार करने पर उसे गांव के पुलिस-थाने में भेज देता था, जहां उसकी इतनी मरम्मत होती थी कि उसे घुटने टेक देने पड़ते थे। किंतु साथ ही यह बात भी थी कि यदि मैं बेंका से अधिक काम लेता या उसको भूमि और भोजन न देता

तो मामला अधिकारियों के सामने जाता और मुझे उत्तर देना पड़ता। आज जबकि गुलामी उठ गई है, मैं बैंका, सिदोर्का या पेत्रूशका से कोई भी काम करा सकता हूं। साथ-ही-साथ, यदि उनमें से कोई काम करने से इन्कार कर देता है तो मैं उसे कर चुकाने के लिए रुपए नहीं देता और तब उसपर इतने कोड़े पड़ते हैं कि वह मेरी बात मानने के लिए बाध्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त मैं किसी भी जर्मन, फ्रांसीसी, चीनी या हिन्दुस्तानी को, जिसके पास भूमि और भोजन नहीं है, काम करने के लिए विवश कर सकता हूं और उसे लगान पर जमीन लेने या रोटी खरीदने के लिए उस समय तक रुपए देने से इन्कार कर सकता हूं जबतक वह मेरे सामने सिर न झुका दे। इसके अतिरिक्त यदि मैं खाना दिये बिना ही उससे उसकी सामर्थ्य से अधिक काम लूं या काम की चक्की में पीसकर उसे मार भी डालूं तब भी कोई मुझसे एक शब्द भी नहीं कहेगा। इसपर यदि मैंने अर्थशास्त्र की पुस्तकें पढ़ रखी हैं तो मैं इस बात का पक्का विश्वास कर सकता हूं कि सब लोग मुक्त हैं और रुपया दासत्व का कारण नहीं है। किसान इस बात को बहुत दिनों से जानते हैं कि रुपए की मार सिदूर की लाठी की मार से अधिक कड़ी होती है, किंतु अर्थशास्त्री उसकी ओर ध्यान देना नहीं चाहते। यह कहना कि रुपया दासत्व का कारण नहीं है ऐसा ही है जैसा कि आज से पचास वर्ष पहले कोई यह कहता कि दासता दासत्व के कानून से उत्पन्न नहीं होती। अर्थशास्त्रियों का मत है कि यद्यपि रुपए के बल पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दास बनाकर रख सकता है तथापि रुपया विनिमय का एक निर्दोष माध्यम है। क्या आज से पचास वर्ष पहले लोग यह नहीं कह सकते थे कि गुलामी के कानून के अनुसार लोग चाहे एक-दूसरे को दास भले ही बना ले; किंतु स्वयं वह कानून दासत्व का कारण न होकर पारस्परिक सेवा का एक हानि-रहित साधन है? इसी तरह क्या वे यह नहीं कह सकते थे कि कुछ लोग मोटा काम करते हैं और दूसरे लोग दासों के शारीरिक और मानसिक हितों का ध्यान रखते हैं तथा उनके काम का संगठन भी करते हैं? मैं तो समझता हूं कि शायद लोग ऐसा ही कहते भी थे।

: १९ :

रुपया मूल्य का मापदण्ड नहीं

यदि अन्य कानूनी शास्त्रों के समान इस भ्रामक शास्त्र—अर्थशास्त्र—का उद्देश्य भी बल-प्रयोग के लिए बहाने ढूंढना न होता तो उसका ध्यान इस विचित्र बात की ओर जाए बिना न रहता कि धन का वितरण—अर्थात यह स्थिति कि कुछ लोग तो भूमि और पूंजी से वंचित कर दिये जाते हैं और कुछ लोग इतने सम्पन्न हो जाते हैं कि वे दूसरों को अपना दास बना लेते हैं—रुपए पर निर्भर है और केवल रुपए के बल पर ही एक समूह के लोग दूसरे समूह के लोगों के श्रम का शोषण करते हैं अर्थात् उन्हें अपना दास बनाते हैं।

मैं एक बार फिर कहता हूं कि जिसके पास पैसा है वह सारा अनाज खरीदकर अपने अधिकार में ले सकता है और दूसरों को भूखों मारकर, उन्हें रोटी के लिए तरसाकर पूरी तरह से अपना गुलाम बना सकता है। यही बात आज हमारी आंखों के सामने बड़े व्यापक रूप में हो रही है। इसीलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि रुपए और दासता के पारस्परिक सम्बन्ध को जानने की चेष्टा की जाय। किंतु अर्थशास्त्र यह विश्वासपूर्वक घोषित करता है कि रुपए का लोगों की दासता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अर्थशास्त्र कहता है—रुपया भी अन्य पदार्थों के समान एक पदार्थ है, जिसका मूल्य-निर्धारण उसके उत्पादन-व्यय के आधार पर किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि मूल्य के मापदण्ड के रूप में और धन-संचय, विनिमय तथा भुगतान के लिए रुपया ही सबसे अधिक सुविधाजनक माना गया है। एक व्यक्ति जूते बनाता है, दूसरा अन्न पैदा करता है और तीसरा भेड़ पालता है। अपनी-अपनी पैदावार का सरलतापूर्वक विनिमय करने के लिए ये लोग रुपए का प्रचलन करते हैं। यह रुपया इस बात का द्योतक होता है कि किस उत्पादन में कितना श्रम करना पड़ा है। उसकी सहायता से लोग जूतों के तलों को भेड़ के मांस और पांच सेर आटे से बदल सकते हैं।

इस 'काल्पनिक शास्त्र' के समर्थकों को अपने सामने इस प्रकार की अवस्था के काल्पनिक चित्र खींचने का बड़ा शौक है; किंतु वास्तव में ऐसी अवस्था संसार में कभी रही नहीं। ऐसे समाज की कल्पना उस प्राचीन और निर्दोष मानव-समाज की कल्पना के समान है जिसके चित्र दार्शनिक अपने मस्तिष्क में खींचा करते थे, किंतु जिसका कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा। मानव-समाज में जहां कहीं भी रुपए का इस रूप में प्रयोग हुआ है, वहीं सशक्त और सशस्त्र लोगों ने दुर्बल और निःशस्त्र लोगों पर बल-प्रयोग किया है और जहां-कहीं भी बल प्रयोग किया गया कहीं मूल्य के मापदण्ड के रूप में प्रयुक्त होनेवाला रुपया, पशु, खाल, रोआं, धातु अथवा कोई अन्य पदार्थ विनिमय का माध्यम न रहकर बल-प्रयोग से बचने का एक साधनमात्र रह गया। इसमें सन्देह नहीं कि रुपए में वे सब निर्मल गुण हैं जिनकी गणना अर्थशास्त्र कराता है; किंतु ये गुण उसी समाज में सम्भव हैं जहां मनुष्य मनुष्य पर बल-प्रयोग न करता हो अर्थात् जो एक आदर्श समाज हो। ऐसे समाज में रुपए का रुपए के रूप में—अर्थात् मूल्य के एक सामान्य मापदण्ड के रूप में कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, ठीक उसी तरह जैसे साधारण सरकारी दण्ड-व्यवस्था से मुक्त समाज में न तो कभी रुपए का ऐसा अस्तित्व था, न हो ही सकता था। किंतु हमारे जाने हुए जिस किसी समाज में भी रुपए का प्रचलन है, वहां उसे विनिमय का माध्यम बनने का महत्त्व केवल इसलिए प्राप्त हुआ कि उसका उपयोग बल-प्रयोग के साधन के रूप में होता था। इसलिए उसका मुख्य महत्त्व विनिमय के माध्यम के रूप में नहीं बल्कि बल-प्रयोग या जोर-जबरदस्ती के शस्त्र के रूप में है। जहां जोर-जबरदस्ती होती है, वहां रुपए का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में नहीं हो सकता, क्योंकि वह मूल्य के मापदण्ड का काम नहीं कर सकता। उसके मूल्य का मापदण्ड न बन सकने का कारण यह है कि जब समाज में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को उसके गाढ़े पसीने की कमाई से वंचित कर देता है तब वहां तुरन्त इस मापदण्ड का उल्लंघन हो जाता है। यदि बाजार में ऐसी गाएं और ऐसे घोड़े लाए जायं जिनमें से कुछ को तो उनके मालिकों ने स्वयं पाला हो और कुछ अपने पोषकों से बलात छीन लिये गए हों, तो यह स्पष्ट है कि उस बाजार में

गायों और घोड़ों का मूल्य उनके पोषक-व्यय के अनुसार नहीं होगा और इस अंतर के कारण बाजार के दूसरे सभी पदार्थों के मूल्य में अंतर पड़ जायगा। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि उन पदार्थों का मूल्य रुपए द्वारा निश्चित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, यदि कोई व्यक्ति बलपूर्वक गाय, घोड़ा या घर प्राप्त कर सकता है तो उसके लिए बलपूर्वक रुपया प्राप्त करना भी सम्भव है और उस रुपए से वह सभी पदार्थ ले सकता है; किंतु जब स्वयं रुपया ही बलपूर्वक प्राप्त किया जाता है और उससे अन्य वस्तुएं खरीदी जाती हैं तो उसमें विनिमय के माध्यम का कोई लक्षण कैसे शेष रह सकता है ? जब कोई व्यक्ति किसीसे बलपूर्वक रुपया छीन-कर उसे दूसरों के परिश्रम से उत्पन्न किये गए पदार्थों के बदले में देता है तब उसका यह व्यापार विनिमय नहीं कहलायगा। वह मनुष्य तो जो-कुछ चाहता है रुपए के बल पर ले लेता है।

किंतु यदि कभी इस प्रकार का कल्पित और असम्भव समाज रहा भी हो जहां जनता पर सरकारी दंड-व्यवस्था का अंकुश न रहते हुए भी रुपए (सोने या चांदी) से मूल्य के मापदंड और विनिमय के माध्यम का काम लिया जाता रहा हो, तो भी वहां बल का प्रयोग होते ही रुपए का उक्त गुण नष्ट हो गया होगा। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि ऐसे समाज में कोई अत्याचारी विजेता के रूप में प्रवेश करता है। वह आत-तायी जनता की गाएं, उनके घोड़े, कपड़े और घर-बार सब छीन लेता है; किंतु चूंकि इन सबका प्रबन्ध करने में उसको असुविधा होती है इसलिए स्वभावतः उसके मन में जनता से समस्त रुपया-पैसा छीन लेने का विचार उठता है, जो सब प्रकार के मूल्यों का मापदंड समझा जाता है और जिससे विनिमय करके सब वस्तुएं प्राप्त की जा सकती हैं। किंतु उस समाज में रुपए का मूल्य के मापदण्ड में प्रयोग होना तत्काल बंद हो जाता है, क्योंकि सब वस्तुओं के मूल्य अत्याचारी की इच्छा पर आश्रित हो जाते हैं। जिस वस्तु की आततायी को सबसे अधिक आवश्यकता होगी और जिसके लिए वह सबसे अधिक रुपया दे सकेगा, वही वस्तु सबसे अधिक बहुमूल्य हो जायगी। इसी प्रकार जिस वस्तु की उसे कम-से-कम आवश्यकता होगी और जिसके लिए वह कम-से-कम पैसे देना चाहेगा वह

वस्तु सबसे सस्ती हो जायगी। अतः जिस समाज में बल-प्रयोग का बोल-बाला होता है उस समाज में तत्काल रुपए में वे गुण प्रवेश कर जाते हैं जिनकी सहायता से आततायी जनता पर हिंसा का प्रयोग करता है। पीड़ितों के लिए रुपया विनिमय का माध्यम अवश्य बना रहता है, किंतु उसी सीमा तक जिस सीमा तक उसका इसमें प्रयोग किया जाना आततायी को सुविधाजनक होती है।

जरा ऐसे समाज की स्थिति पर विचार कीजिए। दास लोग अपने स्वामी को कपड़ा, मुर्गा-मुर्गी, और भेड़-बकरी लाकर देते हैं तथा उनके लिए दिनभर चक्की पीसते हैं। स्वामी इन पदार्थों के बदले रुपया लेने को तत्पर हो जाता है और इनमें से प्रत्येक का मूल्य निर्धारित कर देता है। जो लोग अन्न, वस्त्र पशु और नहीं दे सकते या चाकरी नहीं बजा सकते उन्हें इस बात की छूट मिल जाती है कि वे इनके बदले एक निश्चित रकम दे दें। स्पष्ट है कि इस स्वामी के दास-समुदाय में विविध वस्तुओं का मूल्य स्वामी की इच्छा पर ही निर्भर होगा। जो वस्तुएं उसे मिलती हैं, उनका वह उपभोग करता है। किसी वस्तु की उसे अधिक आवश्यकता होती है और किसीकी कम और उसीके अनुसार वह उन वस्तुओं का अधिक या कम मूल्य निर्धारित करता है। स्पष्टतः उसकी ही स्वेच्छा और आवश्यकताओं के अनुसार इन पदार्थों का मूल्य उन व्यक्तियों के मध्य भी निर्धारित होता है जो उसे रुपए अदा किया करते हैं। यदि उसे नाज की आवश्यकता होती है तो निश्चित परिमाण में नाज न मिलने पर वह उसके लिए अधिक रुपए की मांग करता है और निश्चित परिमाण में वस्त्र, पशु तथा श्रम न मिलने पर उनकी कीमत सस्ती रख देता है। परिणाम यह होता है कि जिनके पास अन्न नहीं होता वे अपने स्वामी की संतुष्टि के लिए अन्न खरीदने के अभिप्राय से अपनी पैदावार, श्रम, कपड़ा या पशु दूसरों के हाथ बेच देते हैं। यदि जमींदार इन सब पदार्थों के बदले रुपया लेना स्वीकार भी कर ले तब भी इनका मूल्य उत्पादन-श्रम के आधार पर निश्चित नहीं होगा, बल्कि वह दो बातों पर निर्भर होगा—एक तो यह कि जमींदार कितने रुपए की मांग करता है और दूसरे यह कि किसानों द्वारा उत्पन्न किये गए किन पदार्थों की उसे सबसे

अधिक आवश्यकता है और किन वस्तुओं के लिए वह अधिक मूल्य देगा और किनके लिए कम। जमींदार किसानों से जो अपना रुपया वसूल करता है उसका—जहांतक किसानों का प्रश्न है—चीजों की कीमत पर केवल दो परिस्थितियों में असर नहीं पड़ता—एक तो तब जबकि ये किसान या ये दास संसार के अन्य व्यक्तियों से बिलकुल पृथक होकर रहें और उनका आपस में और अपने स्वामी के अतिरिक्त किसी दूसरे से सम्पर्क न रहे; दूसरे तब जब जमींदार उस रुपए से अपने गांव में नहीं बल्कि कहीं बाहर चीजें खरीदे। केवल इन्हीं अवस्थाओं में मूल्य नाममात्र के लिए परिवर्तित होने पर भी अपेक्षाकृत ठीक रह सकता है और तभी मूल्य-निर्धारण का मापदण्ड और विनिमय का माध्यम बनने का महत्व प्राप्त हो सकता है। किंतु यदि इन किसानों का पास-पड़ौस के लोगों से आर्थिक सम्बन्ध हो तो, जहांतक इन पड़ौसियों का सम्बन्ध है, स्वामी की अधिक या कम मांग के अनुसार मूल्य बढ़ जायंगे। यदि उनकी अपेक्षा उनके पड़ोसियों को अपने जमीदार को कम रुपया देना पड़ता है तो पड़ोसियों की तुलना में उनकी अपनी चीजें सस्ती बिकेंगी और इसी तरह यदि दूसरे गांववालों को अधिक रुपए देने पड़ते हैं तो उनकी पैदावार महंगी बिकेगी।

दूसरी अवस्था, जब जमींदार की रुपए की मांग का चीजों की कीमत पर किसानों के लिए कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, वह है जब जमींदार अपने एकत्र किये हुए रुपए से अपने ही किसानों की चीजें न खरीदे। किंतु यदि वह इस रुपए का प्रयोग अपने ही किसानों द्वारा उत्पादित पदार्थों के खरीदने में करेगा तो यह स्पष्ट है कि उन पदार्थों का मूल्य निरन्तर परिवर्तित होता रहेगा और इस बात पर निर्भर होगा कि जमींदार किस वस्तु विशेष को खरीदता है। मान लीजिए कि कोई स्वामी अपने दासों को स्वेच्छानुसार काम या व्यापार करने की अनुमति देने के लिए उनसे कसकर रुपए मांगता है और कोई पड़ोसी जमींदार इसी अनुमति के लिए कम रुपए मांगता है। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में पहले जमींदार की जमींदारी में दूसरे जमींदार की जमींदारी की अपेक्षा सब वस्तुएं सस्ती होंगी और इन दोनों जमींदारियों में चीजों की कीमत प्रत्यक्ष रूप से इस

बात पर निर्भर होगी कि दासों द्वारा भरी जानेवाली रकम घटाई जाती है या बढ़ाई।

मूल्यों पर बलप्रयोग के जो अनेक प्रभाव पड़ते हैं उनमें से एक यह है। दूसरा प्रभाव, जो पहले से ही उद्भूत होता है, विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पर पड़ता है। मान लीजिए कि एक जमींदार को घोड़ों का शौक है और उनके लिए वह अच्छे दाम देता है; दूसरे को तौलियों का शौक है और वह उनके लिए अच्छे पैसे देता है। स्पष्टतः इन दोनों जमींदारों की रियासतों में क्रमशः घोड़ों और तौलियों की कीमतें ऊंची होंगी और इन कीमतों तथा गाय और नाज की कीमतों में बड़ा अन्तर होगा। यदि कल तौलियों के शौकीन जमींदार की मृत्यु हो जाय और उसके उत्तराधिकारी को मुर्गे-मुर्गियों का चाव हो तो स्पष्ट है कि तौलियों का मूल्य गिर जायगा और मुर्गे-मुर्गियों का बढ़ जायगा। जिस समाज में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को बलपूर्वक दबाव में रख सकता है, उस समाज में रुपये की मूल्य-निर्धारण-शक्ति तत्काल आततायी की स्वेच्छा पर आश्रित हो जाती है और रुपया गाढ़े पसीने से उत्पन्न किये हुए पदार्थों के विनिमय का माध्यम न रहकर दूसरे के श्रम-शोषण का सबसे सुविधाजनक साधन बन जाता है। अत्याचारी को रुपए की आवश्यकता विनिमय के साधन के रूप में नहीं होती। उसको इसकी आवश्यकता मूल्य के मापदण्ड निर्धारित करने के लिए भी नहीं होती, क्योंकि मूल्य तो वह स्वयं निर्धारित करता है। उसे रुपए की आवश्यकता केवल इसलिए होती है कि वह अत्याचार आसानी से कर सके; कारण रुपया संचित किया जा सकता है और वह अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को दासता के बंधन में बांधकर रखने का सबसे सरल साधन है। जिस समय जितने घोड़ों, गायों और भेड़ों की आवश्यकता पड़े उस समय उतने ही घोड़े, गाय और भेड़ें मिल जायं, इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर यदि सारे जानवर एक साथ ही छीनकर रख लिये जायं तो ऐसा करना सुविधाजनक नहीं हो सकता, क्योंकि आखिर इन सबका पेट भी तो भरना पड़ता है। यही बात नाज की भी है, क्योंकि उसके सड़-गल जाने की सम्भावना रहती है। यही बात मजदूरों तथा गुलामों के विषय में भी कही जा

सकती है। आज एक हजार मजदूरों की आवश्यकता पड़ सकती है, कल एक की भी नहीं। जिनके पास रुपया नहीं है उनसे रुपया मांगने से ये सारी असुविधाएं दूर हो सकती हैं और आवश्यकतानुसार सदा प्रत्येक वस्तु मिल सकती है। यही मुख्य उद्देश्य है जिसके लिए अत्याचारी को रुपए की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त उसे रुपए की आवश्यकता इसलिए भी होती है कि वह चाहता है कि उसकी श्रम-शोषण-शक्ति थोड़े-से-लोगों तक ही सीमित न रहे बल्कि रुपए की आवश्यकता अनुभव करनेवाले सब व्यक्तियों तक व्याप्त हो जाय। यदि रुपया न हो तो किसी भी जमींदार में अपने किसान-दासों के अतिरिक्त और किसीके शोषण की सामर्थ्य नहीं आ सकती, किन्तु जब दो जमींदार एक साथ मिलकर अपने किसान-दासों से रुपये मांगने का निश्चय करते हैं तो दासों के पास रुपया न होते हुए भी वे दोनों जमींदारियों के समस्त साधनों का समान रूप से शोषण करने में समर्थ बन जाते हैं।

इस प्रकार रुपए की सहायता से अत्याचारी को दूसरों के श्रम से लाभ उठाने में अधिक सुविधा मिलती है और वह रुपया केवल इसी कार्य के लिए चाहता है। जिस व्यक्ति के साथ बल-प्रयोग किया जाता है—अर्थात् जिस व्यक्ति के श्रम का प्रतिफल उससे छीन लिया जाता है उसे रुपए की आवश्यकता न तो विनिमय-माध्यम के रूप में पड़ती है, न मूल्य के मापदण्ड के रूप में; क्योंकि पहली दशा में तो वह रुपए के बिना ही वस्तु-विनिमय कर लेता है, जैसा कि सभी सरकार विहीन देश करते हैं और दूसरी दशा में मूल्य का निर्धारण उससे पूछे बिना ही कर लिया जाता है। इसी प्रकार उसे बचाने या भुगतान करने के लिए भी रुपए की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि जहां तक बचत का प्रश्न है जिस मनुष्य से उसके श्रम का प्रतिफल ले लिया जाता है वह बचा ही क्या सकता है और जहाँ तक भुगतान की बात है पीड़ित व्यक्ति को लेने की अपेक्षा देना ही अधिक रहता है और यदि उसको कुछ मिलता भी है तो रुपए के रूप में नहीं बल्कि पदार्थ के रूप में। यह बात उस व्यवित के साथ लागू होती है जिसे अपने काम के बदले सीधे मालिक की दुकान से सामान मिल जाता है। प्रायः यही दशा उस व्यक्ति की होती है जिसकी

सारी कमाई जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहरी दुकानों से सामान खरीदने में चट हो जाती है। उससे रुपया मांगा जाता है और साथ-ही-साथ उसे यह धमकी दी जाती है कि यदि वह रुपए नहीं देगा तो उसको भूमि और अन्न कुछ नहीं मिलेगा या उसकी गाय या उसका मकान उससे ले लिया जायगा और उसको या तो मेहनत-मजदूरी करनी पड़ेगी या कारागार में सड़ना होगा। इस स्थिति से वह तभी मुक्त हो सकता है जब वह अपने परिश्रम से पैदा की हुई चीजों और स्वयं अपने परिश्रम को ऐसे मूल्य पर बेच दे जो न्याययुक्त विनिमय द्वारा नहीं बल्कि पैसा मांगनेवाली सत्ता की शक्ति द्वारा निश्चित किया गया हो।

अतः ऐसी स्थिति में जब कि मूल्य पर कर और लगान का प्रभाव हर समय और हर जगह—जमींदारियों में छोटे पैमाने पर और राज्यों में बड़े पैमाने पर—पड़ता है; जब कि मूल्यों के चढ़ाव-उतार का कारण उतना ही स्पष्ट होता है जितना कि पर्दे के पीछे देखनेवाले को पुतलियों के चलने-फिरने का कारण; यह कहना कि रुपया विनिमय का माध्यम और मूल्य का मापदण्ड है यदि और कुछ नहीं तो कम-से-कम आश्चर्य-जनक तो है ही।

: २० :

दासता के तीन रूप

दासता चाहे कैसी भी हो, उसका एकमात्र आधार यही है कि एक मनुष्य में दूसरे मनुष्य को जीवन के सुखों से वंचित करने की क्षमता होती है और अपने इस भयावह अधिकार को अक्षुण्ण रखकर वह उसे अपने इच्छानुसार काम करने के लिए बाध्य कर सकता है।

यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि यदि कहीं दासवृत्ति है अर्थात यदि कहीं कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छानुसार और स्वयं अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने लिए अवांछनीय कार्य करता है तो इसका एकमात्र कारण यही है कि उसके साथ हिंसात्मक व्यवहार किया जा सकता है और उस अभागे के जीवन को संकट में डालने की धमकी

दी जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति अपने सारे श्रम का लाभ दूसरों को दे देता है, यदि उसे स्वयं अपर्याप्त पोषण प्राप्त होता है, यदि वह अपने छोटे-छोटे बच्चों से कठोर परिश्रम करवाता है और यदि खेती छोड़कर वह अपना सारा जीवन उन पदार्थों के लिए घृणित परिश्रम करने में लगा देता है जिनकी उसको स्वयं आवश्यकता नहीं है, तो यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि वह इन कामों को केवल इसलिए करता है कि इन्हें न करने पर उसे अपने प्राणों के लाले पड़ जाने का भय रहता है। ध्यान रहे कि ऐसी घटनाएं इस संसार में हमारी आँखों के सामने घटती रहती हैं और फिर भी हम इस संसार को सभ्य कहते हैं क्योंकि हम इसमें रहते हैं। हमारे इस सभ्य संसार के अधिकांश निवासी ऐसे हैं जो भीषण अभावों से पीड़ित होकर घृणास्पद और अनावश्यक कामों में संलग्न रहते हैं और मार डाले जाने की धमकी से आतंकित होकर दासता का जीवन बिताते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस दासता का रूप क्या है और किस वस्तु से लोगों के जीवन संकट में पड़ते हैं।

प्राचीन काल में दास बनाने और जान से मार डालने की धमकी देने की रीति बिलकुल प्रत्यक्ष थी। लोगों को दास बनाने के लिए एक जंगली युक्ति काम में लाई जाती थी; उन्हें तलवार से उड़ा देने की सीधी धमकी दी जाती थी। सशस्त्र मनुष्य निःशस्त्र मनुष्य से कहता था—"तूने देखा है कि मैंने अभी-अभी तेरे भाई को मार डाला है; इसी तरह मैं तुझे भी मार सकता हूँ। किन्तु मैं ऐसा करना नहीं चाहता। मैं तुझे छोड़ देता हूं क्योंकि यदि मारे जाने की अपेक्षा तू मेरी नौकरी करने लगे तो यह बात तेरे और मेरे दोनों के लिए अधिक लाभदायक होगी। इस-लिए मैं जो कुछ कहूँ उसे कर, नहीं तो मैं तेरे प्राण ले लूंगा।" भयभीत होकर निःशस्त्र ने सशस्त्र के सामने घुटने टेक दिये और वह उसके सारे आदेश बजा लाने लगा। इस तरह निःशस्त्र व्यक्ति काम करता था और सशस्त्र धमकी देता था। यही वह रूप था जिसमें व्यक्तिगत दासता सर्व-प्रथम प्रकट हुई और जिसमें आज भी वह आदिम जातियों में दिखाई देती है। आरम्भ में दासता ऐसी ही थी, किन्तु जैसे-जैसे जीवन जटिल

बनता गया वैसे-वैसे दासता का रूप भी बदल गया। जीवन की जटिलता के बढ़ने के साथ-ही-साथ दासता का रूप आततायी के लिए अधिक असुविधाजनक होता गया। दुर्बलों के श्रम का शोषण करने के लिए दुर्बलों को भोजन-वस्त्र देने की आवश्यकता की अनुभूति हुई अर्थात् दुर्बलों को कार्य करने योग्य बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके कारण दासों की संख्या स्वभावत: परिमित हो गई। इसके अतिरिक्त, आतताइयों को सदा अपने दासों की गर्दन पर सवार रहने और उन्हें मृत्यु की धमकी देते रहने के लिए भी विवश होना पड़ा। अत: दास बनाने की एक दूसरी रीति निकालनी पड़ी।

जैसा कि बाइबिल में लिखा है, लोगों को दास बनाने की यह नई, अधिक सुविधाजनक और व्यापक रीति मिस्र देश में यूसुफ ने आज से पांच हजार वर्ष पहले निकाली थी। यह वैसी ही रीति है जैसी आज-कल पशुशालाओं में हठी घोड़ों और जंगली जानवरों को वश में करने के लिए काम में लाई जाती है; अर्थात्, भूखों मारने की रीति।

बाइबिल के उत्पत्ति-प्रकरण मे इस नई विधि का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अध्याय—४१ पद ४८—"और उसने (यूसुफ ने) मिस्र देश के सातों (अच्छी फसलवाले) वर्षों का सारा नाज इकट्ठा कर लिया और उसको नगरों में संचित कर दिया। प्रत्येक नगर के निकटवर्ती खेतों का नाज भी उसने वहीं जमा कर लिया।"

पद ४६—"यूसुफ ने नाज समुद्र के रेत के समान इकट्ठा किया। वह इतना अधिक था कि उसने उसकी नापजोख करनी छोड़ दी, वह अपरिमित था।"

पद ५३—"और मिस्र देश के सुकाल के सातों वर्ष समाप्त हो गए।"

पद ५४—"और, जैसी कि यूसुफ ने भविष्यवाणी की थी, दुष्काल के सात वर्ष आने लगे। सब देशों में अकाल था; किन्तु मिस्र की भूमि में खाने को मिलता था।"

पद ५५—"और जब सारा मिस्र देश भी दुर्भिक्ष से ग्रस्त हो गया तो लोगों ने फ़राऊन के पास जाकर रोटी के लिए चिल्लाना शुरू किया

और फ़राऊन ने मिस्रियों से कहा—"यूसुफ के पास जाओ और वह जो कुछ तुमसे कहे, करो।"

पद ५६—"और अकाल सारी दुनिया में फैल गया। यूसुफ ने अपने सारे कोठार खोल दिये और उनका नाज मिस्रियों को बेच दिया; और मिस्र में अकाल खूब जोरों पर था।"

पद ५७—"और सभी देशों के लोग यूसुफ के पास नाज खरीदने के लिए आने लगे, क्योंकि सारी दुनिया में अकाल जोरों पर था।"

तलवार की धमकी देकर लोगों को दास बनाने की असभ्यकालीन विधि का प्रयोग करके यूसुफ ने सुकाल में ही अन्न संचित कर लिया। उसे पता था कि सुकाल के पश्चात दुष्काल आयगा, जैसा कि बहुधा होता है और जिसे फ़राऊन के स्वप्न के बिना ही प्रत्येक व्यक्ति जानता है। इस युक्ति से, अर्थात लोगों को भूखा मारकर यूसुफ ने न केवल मिस्रियों को बल्कि पास-पड़ोस के देशों के निवासियों को भी फ़राऊन की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ और सुविधाजनक ढंग से दास बना लिया और जब लोग भूखों मरने लगे तो उसने ऐसी व्यवस्था की जिससे लोग स्थायी रूप से उसके अधिकार में आ जायं। यह व्यवस्था थी लोगों को भूखा रखने की, जिसका वर्णन ४७वें अध्याय में है।

पद १३—"और सारे देश में कहीं भी रोटी का पता नहीं था, क्योंकि अकाल बहुत भयंकर था। मिस्र और कनान दोनों देशों में मुर्दनी छा गई।"

पद १४—"और लोगों ने नाज खरीदकर जो रुपया दिया था वह मिस्र और कनान में जितना भी मिल सका यूसुफ ने सब इकट्ठा कर लिया और उसको फ़राऊन के घर में लाकर रख दिया।"

पद १५—"और जब मिस्र और कनान में सब रुपया चुक लिया तो मिस्र के सारे निवासियों ने यूसुफ के पास आकर कहा—"हमें खाने को दीजिए, हमारे पास रुपया नहीं है। क्या हम आपके होते हुए भूखों मरेंगे' ?"

पद १६—"और यूसुफ ने उत्तर दिया "तुम अपने पशु लाओ। यदि तुम्हारे पास रुपया नहीं रहा तो मैं तुम्हारे पशु लेकर तुम्हें अनाज दूंगा'।"

पद १७—"और तब लोग यूसुफ के पास अपने पशु ले गए और यूसुफ ने उनके घोड़े, गाय, बैल, भेड़, बकरियाँ और गधे लेकर उनके बदले लोगों को अनाज दिया। और उस साल उसने उनके सारे पशु ले लिये और उनके बदले लोगों को रोटी दी।"

पद १८—"और जब वह साल खतम हो गया तो अगले वर्ष वे फिर उसके पास आए और बोले—हम आपसे कुछ छिपायंगे नहीं। हमारा सारा रुपया खर्च हो चुका है और हमारे पशु भी आपके पास हैं, आप जानते हैं कि अब हमारे पास शरीर और भूमि के सिवाय और कुछ नहीं बचा है।"

पद १९—"तो क्या आपके अक्षत रहते हम और हमारी भूमि नष्ट हो जायं ? हमको और हमारी जमीन दोनों को अन्न के बदले खरीद लीजिए, हम अपनी जमीन के साथ फ़राऊन के गुलाम होकर रहेंगे। हमको बीज दीजिए जिससे हम जीवित रहें, मरें नहीं और हमारी भूमि उजाड़ न हो जाय।"

पद २०—"तब यूसुफ ने फ़राऊन के लिए मिस्र की सारी जमीन खरीद ली। प्रत्येक मिस्रवासी ने अपना खेत बेच डाला, क्योंकि अकाल से वह बुरी तरह पीड़ित था; और जमीन फ़राऊन की हो गई।"

पद २१—"और जहाँ तक लोगों का सम्बन्ध था उसने उन्हें मिस्र के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक नगरों में ला बसाया।"

पद २२—"उसने केवल पुरोहितों की भूमि नहीं खरीदी, क्योंकि वह फ़राऊन की ओर से दक्षिणा के रूप में दी गई थी और उसीसे वे अपना पेट पालते थे। इसलिए उन्होंने अपनी जमीन नहीं बेची।"

पद २३—"तब यूसुफ ने लोगों से कहा—देखो ! आज मैंने तुम्हें और तुम्हारी जमीन को फ़राऊन के लिए खरीद लिया है। लो, यह तुम्हारे लिए बीज है, इससे जमीन को जोतो-बोओ।"

पद २४—"और यह नियम होगा कि फसल कटने पर तुम लोग उसका पांचवां हिस्सा फ़राऊन को दोगे और शेष चार भाग तुम्हारे रहेंगे। इनमें से तुम बीज के लिए रख छोड़ना और अपने कुटुम्ब और बाल-बच्चों का भरन-पोषण करना।"

पद २५—"और उन्होंने कहा—आपने हमारी जान बचाई है। आप हमपर कृपा-दृष्टि रखिए और हम फ़राऊन के नौकर होकर रहेंगे।"

पद २६—"और यूसुफ ने मिस्र की भूमि के सम्बन्ध में यह नियम बना दिया कि पैदावार का पाँचवां भाग फ़राऊन को मिला करेगा। यह नियम वहां आज भी प्रचलित है। केवल पुजारियों की भूमि पर फ़राऊन का अधिकार नहीं हुआ।"

इससे पहले फ़राऊन को लोगों के श्रम का शोषण करने के लिए डर और धमकी से काम लेना पड़ता था, किन्तु अब जबकि अन्न-भंडार और जमीन सब उसके अधिकार में आ गए तब उसे केवल उनकी बल-पूर्वक पहरेदारी करने की आवश्यकता रह गई। लोगों की भूख ने उसे इस बात में सहायता दी कि वह उन्हें अपने लिए काम करने को बाध्य कर सके।

सारी जमीन फ़राऊन की हो गई और लोगों से लिये जानेवाले अन्न का पंचमांश भी उसीका हो गया। इस प्रकार लोगों से काम कराने के लिए अब उसे अलग-अलग व्यक्ति को अलग-अलग तलवार दिखाने की आवश्यकता नहीं रह गई। अब तो केवल इस बात की आवश्यकता थी कि भंडारों की रक्षा के लिए बल का प्रयोग किया जाय, अर्थात सशस्त्र पहरेदार रख दिये जायं। फलतः लोग तलवार की नोंक पर नहीं, बल्कि भूख के कारण दास बन गए।

अब यह फ़राऊन की सामर्थ्य में था कि किसी भी वर्ष अकाल पड़ने पर वह चाहे तो सब लोगों को भूखा मार दे और यदि दुर्भाग्यवश किसीके पास सुकाल में भी अन्न न रहे तो उसे भी भूख का शिकार बनने दे।

इस प्रकार दास बनाने की इस दूसरी विधि का आविर्भाव तलवार के बल पर नहीं हुआ, अर्थात किसी सशक्त व्यक्ति ने दुर्बल व्यक्ति को मारने की धमकी देकर अपने लिए काम करने के लिए बाध्य नहीं किया, बल्कि आततायी ने जनता का अन्न हड़पकर उसपर तलवार का पहरा लगा दिया और इस प्रकार पेट की खातिर दुर्बलों को विवश होकर मज-दूरी स्वीकार करनी पड़ी।

यूसुफ ने भूखों से कहा था—"अन्न मेरे अधिकार में है, इसलिए मैं

तुम्हें भूखों मार सकता हूं; किन्तु मैं तुम्हें इस शर्त पर छोड़े देता हूं कि जो अनाज मैं तुम्हें दूंगा उसके बदले तुम मेरा हुक्म बजा लाओगे।"

दासत्व की पहली विधि के लिए सत्ताधारी मनुष्य को केवल ऐसे सिपाहियों की आवश्यकता होती है जो घोड़ों पर चढ़कर सर्वदा लोगों में चक्कर लगाते रहें और उन्हें मौत की धमकी देकर स्वामी की आज्ञा का पालन कराते रहें। इस विधि में आततायी को केवल अपने सैनिकों को ही लूट का हिस्सा देना पड़ता है। किन्तु दूसरी पद्धति में आततायी को सिपाहियों के अतिरिक्त ऐसे सहायकों की आवश्यकता होती है जो भूखों से अन्न-भंडारों और भूमि की रक्षा कर सकें। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि उसे छोटे और बड़े यूसुफ़ों, अन्न-वितरकों और प्रबन्धकों की आवश्यकता होती है। इसलिए सत्ताधारी को अपनी हथियाई हुई सम्पदा को इन सब लोगों में बांटना पड़ता है और न केवल यूसुफ़ को सुन्दर वस्त्र, सोने की अंगूठी, नौकर-चाकर और अन्न देना पड़ता है बल्कि उसके भाइयों और सम्बन्धियों के लिए भी चांदी देनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त इस दूसरी पद्धति में यह स्वाभाविक है कि डर-धमकी के प्रयोग से प्राप्त किये जाने वाले लाभ में न केवल प्रबन्धकों और उनके सगे-सम्बन्धियों को बल्कि उन सब लोगों को भी, जिनके पास अन्न के भंडार हैं, हिस्सा मिले। जिस प्रकार पहली पद्धति में जो केवल बल-प्रयोग पर अवलम्बम्बित थी, जनता पर किये जानेवाले बलप्रयोग में शस्त्रधारी भागीदार होता था; उसी प्रकार भूख के आधार पर संस्थापित दूसरी पद्धति में उन सब लोगों को, जिनके पास खाने-पीने की सामग्री होती है, डर-धमकी का लाभांश मिलता है और वे उन लोगों पर शासन करते हैं जिनके पास अन्न नहीं होता।

पहली पद्धति की अपेक्षा दूसरी पद्धति से आततायी को दो लाभ होते हैं—पहला और प्रधानतः यह कि मजदूरों से इच्छानुसार काम कराने के लिए उसे डर-धमकी का प्रयोग करने को बाध्य नहीं होना पड़ता, क्योंकि मजदूर स्वयं उसके पास आकर अपनेको उसके हाथों बेच जाते हैं। दूसरा यह कि उसके अत्याचार-पाश से बहुत थोड़े लोग बच पाते हैं। इस पद्धति से उसे केवल एक हानि है; वह यह कि उसे अपना लाभ अधिक

व्यक्तियों में बांटना पड़ता है। जहांतक पीड़ितों का प्रश्न है, उनके लिए इस पद्धति में अच्छाई यह होती है कि उन्हें बल-प्रयोग के आतंक में नहीं रहना पड़ता। वे स्वन्तत्र हो जाते हैं और दिन फिरने पर पीड़ितों की श्रेणी से निकलकर पीड़िकों की श्रेणी में जाने की आशा कर सकते हैं। इस पद्धति से उन्हें हानि यह होती है कि वे किसी भी अवस्था में डर-धमकी से बच नहीं पाते—चाहे उसकी मात्रा कम हो या अधिक।

दास बनाने की यह नई विधि प्रायः पहली विधि के साथ-ही-साथ प्रयोग में आती है और सत्ताधारी व्यक्ति आवश्यकतानुसार एक को संकुचित और दूसरी को व्यापक बनाता जाता है; किन्तु इस पद्धति से भी सत्ताधारी को पूरा-पूरा सन्तोष नहीं हो पाता, क्योंकि वह तो चाहता है कि यथासाध्य अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के श्रम का अधिक-से-अधिक प्रतिफल हड़पा जाय और व्यक्तियों को दास बनाया जाय। इसके अतिरिक्त यह विधि जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं का साथ भी नहीं दे पाती। अतः दास बनाने की एक और नई विधि निकाली जाती है। यह नई और तीसरी विधि कर लगाने की है। दूसरी विधि के समान यह विधि भी लोगों को क्षुधित रखकर ही चलाई जाती है, किन्तु इसमें एक नई बात यह जुड़ जाती है कि लोगों को रोटी से वंचित करने के साथ-ही-साथ जीवन-सम्बन्धी अन्य आवश्यकताओं से भी वंचित कर दिया जाता है। जो रुपया स्वयं आततायी के पास होता है उसे ही वह अपने दासों से इतनी अधिक संख्या में मांगता है कि उसका प्रबन्ध करने के लिए उन दासों को न केवल यूसुफ़ द्वारा निश्चित पंचमांश से अधिक अन्न बेचना पड़ता है; बल्कि मांस, खाल, ऊन, कपड़ा, ईंधन और घर-जैसी नितांत आवश्यक वस्तुएं तक बेच डालनी पड़ती हैं। इस प्रकार आततायी न केवल भूख बल्कि प्यास, शीत, अभाव, आदि अन्य विपदाओं का भी त्रास दिखाकर दासों को सदा अपने अधिकार में रखता है।

इस रीति से दासत्व के तीसरे रूप—पैसे की दासता—का प्रादुर्भाव होता है। इसमें सबल मनुष्य निर्बल से कहता है—"मैं तुममें से प्रत्येक से जो चाहूं करा सकता हूं। चाहूँ तो मैं तुम्हें अपनी बन्दूक की गोली का निशान बना दूं और चाहूँ तो तुमसे रोटी देनेवाली भूमि छीनकर

तुम्हें नष्ट कर दूं । जो रुपए तुम मुझे लाकर दोगे उससे मैं तुम्हारा उदर भरण करनेवाला सारा नाज खरीद सकता हूँ और उस नाज को दूसरों के हाथों बेचकर तुम सबको किसी समय भी भूखों मार सकता हूँ। यही नहीं मैं तुम्हारे पशु, तुम्हारे मकान, तुम्हारे वस्त्र—तुम्हारा सब कुछ हड़प सकता हूं। किन्तु ऐसा करना मेरे लिए सुविधाजनक नहीं है और मुझे अच्छा भी नहीं लगता; यही कारण है कि मैं तुम सबको इस बात की स्वतन्त्रता देता हूँ कि तुम जिस प्रकार चाहो अपने काम और पैदावार की व्यवस्था करो—मुझे तो केवल मेरी मांग के अनुसार गिने-गिनाए रुपए दे दो, जो मैं तुमसे या तो प्रति व्यक्ति के हिसाब से या तुम्हारी भूमि, तुम्हारे खाद्य पदार्थों, वस्त्रों या घरों के हिसाब से लूंगा। बस तुम मुझे ये रुपए लाकर दे दो और फिर जैसे चाहो आपस में रहो। पर इस बात को समझ लो कि रक्षा न तो मैं विधवाओं और अनाथों की करूँगा, न बीमारों और बूढ़ों की और न ऐसे लोगों की जिनका घर-बार आग में जल गया है। मैं तो केवल इस बात की व्यवस्था करूंगा कि रुपए का लेन-देन नियमित रूप से चलता रहे। जो लोग मुझे निश्चित समय पर अपेक्षित राशि देते रहेंगे, उन्हींके व्यवहार को मैं न्यायसंगत ठहराऊंगा और उन्हींकी मैं रक्षा भी करूँगा। किंतु मुझे इससे कोई सम्बन्ध नहीं कि उस रुपए को लोग अर्जित किस प्रकार करते हैं।

अपनी मांग की पूर्ति के रसीद-स्वरूप सत्ताधारी इन्हीं रुपयों को चलाता है।

दासता की दूसरी विधि वह है जिसके अनुसार फराऊन ने फसल का पंचमांश इकट्ठा कर अपने कोठों में भर लिया था और तलवार के बल पर भी लोगों को व्यक्तिगत दासत्व में जकड़ लिया था। इसके अतिरिक्त इसी विधि की सहायता से उसके लिए यह भी सम्भव हो सकता था कि अपने सहयोगियों से मिलकर वह अकाल के समय समस्त श्रमजीवियों पर और विपत्ति पड़ने पर उनमें से कुछ पर शासन करे।

तीसरी विधि वह है जिसके अनुसार फराऊन ने जनता से फसल के पंचमांश के मूल्य से अधिक रुपया मांगा और अपने सहायकों की सहा-

यता से मजदूरों पर केवल अकाल और आकस्मिक घटना के समय ही नहीं बल्कि सर्वदा राज्य करने का एक नया साधन निकाला। दूसरी पद्धति में लोग थोड़ा-सा अनाज बचाकर रख लेते थे और उसीके सहारे वे अपनेको दासत्व से मुक्त रखकर छोटे-छोटे अकालों और आकस्मिक दुर्घटनाओं का सामना कर लेते थे। किन्तु तीसरी पद्धति में कर में वृद्धि हो जाने कारण उनसे उनका सारा नाज ही नहीं बल्कि जीवन-सम्बन्धी अन्य सभी आवश्यक पदार्थ भी ले लिये गए और छोटे-से-छोटा संकट पड़ने पर ही मजदूरों को पैसेवाले की दासता स्वीकार करनी पड़ी, क्योंकि उनके पास न तो नाज ही रह गया और न कोई अन्य पदार्थ ही जिसके बदले में वे अन्न प्राप्त कर सकते। पहली पद्धति की सहायता के लिए आततायी को केवल सिपाहियों की आवश्यकता थी और उसे केवल उन्हींको लाभाँश देना पड़ता था; दूसरी पद्धति में भूमि और अन्न-भंडारों के रक्षकों के अतिरिक्त आततायी को अन्न एकत्र करनेवालों और वितरक मुंशियों की भी आवश्यकता पड़ी। तीसरी पद्धति वह अकेला ही सारी भूमि का स्वामी नहीं बना रह सकता; उसे भूमि और सम्पत्ति की रक्षा के लिए पहरेदारों के अतिरिक्त जमींदारों, टैक्स-कलक्टरों, व्यक्ति अथवा उपभोग्य पदार्थ के हिसाब से टैक्स निश्चित करनेवाले अफसरों, इन्सपेक्टरों, चुंगी व माल-अफसरों और पंचों की आवश्यकता हुई।

तीसरी पद्धति का संगठन दूसरी की अपेक्षा अधिक जटिल है। दूसरी पद्धति के अनुसार नाज इकट्ठा करने का काम ठेके पर दिया जा सकता है, जैसाकि पुराने जमाने में होता था और आजकल भी तुर्की में होता है। किन्तु जब दासों पर कर लगाया जाता है तब इस बात की देखभाल करने के लिए कि कोई व्यक्ति या उसका कर लगाने योग्य कोई कार्य कर से वंचित न रह जाय, एक जटिल शासन-व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसलिए तीसरी पद्धति में आततायी को अपना लाभ दूसरी पद्धति की अपेक्षा और भी अधिक लोगों में बांटना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह विधि कुछ है ही ऐसी कि पैसेवाले सभी लोग—चाहे वे उसी देश के हों जिसमें यह विधि प्रचलित है चाहे किसी और देश के—लूट में भागीदार बन जाते हैं। इस विधि का प्रयोग करनेवाले

आततायी को पहली और दूसरी विधियों के आतातायियों की अपेक्षा निम्नलिखित लाभ अधिक होते हैं—

पहला लाभ तो यह है कि इस विधि के अनुसार लोगों से अपेक्षाकृत अधिक काम लिया जा सकता है और वह भी अधिक सुविधाजनक रूप में, क्योंकि रुपए की शकल में लिया जानेवाला कर एक पेच के समान होता है जिसको सरलतापूर्वक उस अंतिम सीमा तक कसा जा सकता है जिससे सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी मरने न पाय। इसमें यूसुफ-काल की भाँति अकाल की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, क्योंकि इस व्यवस्था के अनुसार अकाल जब चाहे तभी पैदा किया जा सकता है।

दूसरा लाभ यह है कि इस पद्धति में उन समस्त भूमिरहित व्यक्तियों को डराया-धमकाया जा सकता है जो पहले बच निकलते थे और उदर-पूर्ति के लिए थोड़ी-बहुत मजदूरी कर लेते थे, किंतु जिनको अब आततायी को कर देने के लिए भी अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। इस विधि में आततायी को हानि यह है कि इसे अपना लाभ अपेक्षाकृत अधिक लोगों में बांटना पड़ता है। इन भागीदारों में केवल उससे सहायक ही नहीं होते, बल्कि एक ओर वे प्राइवेट जमींदार होते हैं जिनका ऐसी व्यवस्था में साधारणतः आविर्भाव हो ही जाता है और दूसरी ओर अपने ही देश के नहीं बल्कि विदेशों के भी वे व्यक्ति होते हैं जिनके पास उस तरह के सिक्के होते हैं जिस तरह के सिक्कों की दासों से मांग की जाती है। जहां-तक पीड़ितों का प्रश्न है, उन्हें इस पद्धति में दूसरी पद्धति की अपेक्षा केवल इतना लाभ है कि वे आततायियों के चंगुल से और भी अधिक स्वतंत्र हो जाते हैं। वे जहां चाहें रह सकते हैं और जो चाहें कर सकते हैं। खेत बोना या न बोना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर है। उन्हें अपने काम का हिसाब किसीको नहीं देना पड़ता और यदि उनके पास रुपया है तो वे अपनेको पूर्णतः स्वतंत्र समझ सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब उनके पास फालतू रुपया होता है या उस फालतू रुपए से कोई जमीन खरीद लेते हैं तो वे केवल स्वतंत्रता प्राप्त करने की नहीं बल्कि आततायी तक बन सकने की आशा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, वे इस स्थिति को प्राप्त तक कर सकते हैं चाहे थोड़े ही समय के लिए सही। इस पद्धति

से उन्हें हानि यह है कि साधारणत: उनकी स्थिति और भी बिगड़ जाती है और वे अपनी अधिकांश पैदावार से वंचित कर दिये जाते हैं, क्योंकि इस पद्धति में दूसरों के श्रम का सुख-भोग करनेवाले व्यक्तियों की संख्या और भी अधिक होती है जिसके फलस्वरूप उनके जीवन-निर्वाह का भार अपेक्षाकृत कम लोगों पर पड़ता है।

दास बनाने की यह तीसरी पद्धति भी बहुत पुरानी है और इसका प्रयोग भी पहली दो पद्धतियों के साथ-ही-साथ होता है; वे इससे बिलकुल व्यतिरिक्त नहीं हो जातीं। सच पूछिए तो तीनों में से एक पद्धति भी कभी बंद नहीं हुई। तीनों पद्धतियों की तुलना पेचों से की जा सकती है जो श्रमजीवियों के मस्तक पर रखे हुए एक तख्ते में कसे जाते हैं और उनको दबाते हैं। इनमें से मुख्य, आधारभूत और बीच का पेच—जिसके बिना दूसरे पेच नहीं ठहर सकते और जो सबसे पहले कसा जाता है तथा कभी ढीला नहीं किया जाता—शारीरिक दासता का पेच है—यह दासता जिसमें मानवों का एक समूह मानवों के दूसरे समूह को तलवार से उड़ा देने की धमकी देकर बांधता है। दूसरा पेच, जो पहले के बाद कसा जाता है, लोगों को भूमि और भोजन से वंचित करके दास बनाने का पेच है; इसमें व्यक्तिगत मृत्यु की भी धमकी दी जाती है। तीसरा पेच उस दासता का पेच है जिसमें निरीह जनता से रुपया मांगा जाता है (जो उनके पास नहीं होता) और साथ-ही-साथ मौत की धमकी भी दी जाती है। तीनों पेचों से एक साथ काम लिया जाता है और जब एक कस दिया जाता है तभी दूसरे ढीले किये जाते हैं। श्रमजीवियों को दासत्व की श्रृंखला में पूर्ण रूप से कसने के लिए तीनों पेंचों—दास बनाने की तीनों पद्धतियों—की आवश्यकता होती है। हमारे समाज में इन तीनों पद्धतियों से बराबर काम लिया जाता है—तीनों पेंच बराबर कसे रहते हैं।

व्यक्तिगत बल-प्रयोग और तलवार से धड़ उड़ा देने की धमकी देकर लोगों को दास बनाने की पहली पद्धति का कभी परित्याग नहीं हुआ है और जबतक मानव मानव को दास बनाता रहेगा तबतक इस पद्धति का परित्याग नहीं होगा, क्योंकि इसीपर दासता की भित्ति खड़ी है। हमलोग

बड़े ही सहज भाव से यह विश्वास प्रकट करते हैं कि हमारे सभ्य संसार में व्यक्तिगत दासता का अन्त हो चुका है, उसके अंतिम अवशेष तो अमरीका और रूस में दफना दिये गए। हम लोग यह भी कहते हैं कि अब दासता केवल जंगलियों में रह गई है। ऐसा कहते समय हम एक छोटी-सी बात भूल जाते हैं, वह यह कि स्थायी सेनाओं में करोड़ों व्यक्ति कार्य करते हैं, जिनके बिना कोई शासन-प्रबंध अक्षुण्ण नहीं रह सकता और जिनको हटा देने से किसी भी राज्य की आर्थिक व्यवस्था का नष्ट-विनष्ट हो जाना अनिवार्य है। किंतु ये करोड़ों सिपाही अपने शासकों के व्यक्तिगत दास नहीं तो और क्या हैं ? क्या यातना और मृत्यु की धमकी देकर—जो प्रायः कार्यान्वित भी की जाती है—सिपाहियों को अपने स्वामी के इच्छानुसार कार्य करने के लिए विवश नहीं किया जाता ? भेद केवल इतना है कि इनकी दासता को दासता का नाम नहीं दिया जाता। इसको अनुशासन के नाम से पुकारा जाता है और जबकि दूसरे लोग आजीवन दास बने रहते हैं, इनकी दासता, जिसे हमलोग 'नौकरी' कहते हैं, एक संक्षिप्त काल तक ही सीमित रहती है। हमारे सभ्य समाज में व्यक्तिगत दासता का न केवल अन्त नहीं हुआ है बल्कि अनिवार्य सैनिक भरती के कारण पिछले कुछ वर्षों से वह और भी अधिक पुष्ट हो गई है। यह तो सत्य है कि उसके रूप में थोड़ा-सा परिवर्तन हो गया है, किंतु सारतः वह अब भी वही है जो पहले थी। उसका अस्तित्व मिट नहीं सकता, क्योंकि जबतक मनुष्य मनुष्य का दास रहेगा तबतक इस इस प्रकार की व्यक्तिगत दासता भी अक्षुण्ण रहेगी, जो तलवार की नोक पर मनुष्य की भूमि और कर-सम्बन्धी दासता को भी जीवन-दान करती रहती है। हो सकता है कि सेना की यह दासता हमारे देश की रक्षा और गौरव के लिए आवश्यक हो, जैसा कि कहा जाता है; किंतु यह आवश्यकता अत्यंत संदिग्ध है, क्योंकि हम देखते हैं कि युद्ध में असफल होने पर यही सेना देश की पराधीनता और अवनति का कारण बन जाती है। फिर भी एक बात स्पष्ट है, वह यह कि इस प्रकार की दासता भूमि और कर-सम्बन्धी दासता को जीवन-दान देने के लिए उपयोगी है। उदाहरणतः, यदि रूस या आयरलैंड के किसान जमींदारों से जमीन छीन लें तो उसी समय सेनाएं

आकर किसानों से जमीन वापस ले लेंगी। इसी प्रकार यदि कोई शराब खींचने का कारखाना बनाले और आबकारी का कर अदा न करे तो सैनिक आकर उस कारखाने को तत्काल बंद कर देंगे। या जरा टैक्स बंद करके देखिए, आपको वही परिणाम भोगना पड़ेगा।

दूसरी पद्धति है लोगों की भूमि और भोजन-सामग्री छीनकर दास बनाने की पद्धति। जहां-कहीं भी लोग दास बनाए जाते हैं वहां पहले भी इस पद्धति से काम लिया गया होगा और अब भी लिया जाता है। इस पद्धति का रूप चाहे कितना ही परिवर्तित क्यों न हो जाय वह प्रचलित सब जगह होती है। कहीं-कहीं—जैसा कि तुर्की में है—सारी भूमि पर राजा का स्वामित्व माना जाता है और सरकार फसल का दसवां भाग कर के रूप में वसूल करती है। कहीं-कहीं भूमि के कुछ भाग पर ही राजा का अधिकार माना जाता है और उस भूमि से कर इकट्ठा किया जाता है। कहीं-कहीं—जैसा कि इंगलैंड में है—सारी भूमि कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के अधिकार में होती है और उसके लिए लोगों से कुछ मजदूरी कराई जाती है। या कहीं-कहीं—जैसा कि रूस, जर्मनी और फ्रांस में है—भूमि का न्यूनाधिक भाग जमींदारों के अधिकार में होता है। सारांश यह कि जहाँ-कहीं भी दासता है वहां सत्ताधारी व्यक्ति दासता द्वारा जमीन पर अपना अधिकार अवश्य जमा लेता है।

लोगों को दास बनानेवाला यह पेच दूसरे पेचों पर पड़नेवाले बोझ को दृष्टि में रखकर ही कसा या ढीला किया जाता है। उदाहरणार्थ, रूस में जब अधिकांश श्रमजीवी व्यक्तिगत दासता में जकड़ दिये गए तो वहां भूमि की दासता निरर्थक हो गई, किंतु व्यक्तिगत दासता का पेच उस समय तक ढीला नहीं किया गया जबतक भूमि और कर-सम्बन्धी दासता के पेच खूब कस नहीं दिये गए। लोगों को विभिन्न समुदायों में बांट दिया गया, उनके स्थान-परिवर्तन के मार्ग में बाधाएं उपस्थित कर दी गईं, भूमि या तो सरकार ने हथिया ली या व्यक्तिगत जमींदारों को दे दी गई और तब कहीं जाकर किसानों को स्वतन्त्र किया गया। इसी तरह इंगलैंड में भूमि-दासता का दौर-दौरा है और वहाँ भूमि के राष्ट्रीयकरण का जो प्रश्न उठ रहा है उसका अर्थ केवल यह है कि कर-सम्बन्धी पेच को कस

दिया जाय ताकि भूमि-दासता का पेच ढीला किया जा सके।

कर द्वारा दास बनाने की तीसरी पद्धति भी पहले प्रचलित थी और आजकल विभिन्न राज्यों में समान मुद्रा का प्रचलन होने के कारण तथा शासक-संस्थाओं के आन्तरिक अधिकारों में वृद्धि होने से इस पद्धति का प्रभाव विशेष रूप से बढ़ गया है। वर्तमान काल में इस पद्धति का इतना विस्तार हो गया है कि इस बात की आशा की जाने लगी है कि धीरे-धीरे यह पद्धति भूमि-दासत्व की दूसरी पद्धति का स्थान ग्रहण कर लेगी। यह वह पेच है जिसके कस देने पर भूमि-सम्बन्धी दासता का पेच ढीला हो जाता है, जैसाकि सारे यूरोप की आर्थिक अवस्था से प्रकट है। अपनी याद में हम रूस में दासता को दो बार एक रूप से दूसरा रूप ग्रहण करते देख चुके हैं। जब दास मुक्त किये गए और अधिकांश भूमि जमींदारों के अधिकार में छोड़ दी गई तब भू-स्वामियों को चिन्ता हुई कि दासों पर से उनका अधिकार जाता रहेगा। किन्तु अनुभव ने सिद्ध किया कि वे एक शृंखला को छोड़कर दूसरी शृंखला पकड़ रहे हैं, अर्थात दास-स्वामित्व के बदले भू-स्वामित्व की प्रणाली अपना रहे हैं। किसान के पास खाने को कुछ नहीं था। किन्तु जमींदार के पास जमीन और अन्न-भंडार थे; इसलिए किसान ग़ुलाम-का-ग़ुलाम बना रहा। इस स्थिति में नया परिवर्तन तब हुआ जबकि सरकार की मांगों ने कर-सम्बन्धी दूसरे पेच को खूब कस दिया और अधिकांश श्रमजीवी अपने आपको जमींदारों या मिल-मालिकों के हाथ बेचने को बाध्य हो गए। दासता की इस नई पद्धति ने लोगों को और भी जकड़ लिया। परिणाम यह हुआ कि रूस के ९० प्रतिशत मजदूर आज जमींदारों और मिल-मालिकों के यहां केवल इसलिए काम करते हैं कि भूमि-कर और राज्य की मांगें उन्हें ऐसा करने के लिए विवश करती हैं। यह बात इतनी स्पष्ट है कि यदि सरकार एक साल के लिए प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष और भूमि-सम्बन्धी करों की उगाही बन्द करने का प्रयोग करे तो कारखानों में और उन जमीनों पर जो किसानों या मजदूरों की अपनी नहीं है, काम बिलकुल पट पड़ जाय। जब कर उगाहे जाते हैं तब उन्हें अदा करने के लिए रूस के ९० प्रतिशत लोगों को मज़दूरी करनी पड़ती है।

दासत्वीकरण की ये तीनों विधियाँ पुरातन काल से निरन्तर चली आई हैं और आज भी विद्यमान हैं, किन्तु मनुष्य का यह स्वभाव है कि इन विधियों की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए नए बहानों के मिलते ही वह इनकी ओर ध्यान देना छोड़ देता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यही पद्धति जिसपर आजकल सब कुछ टिका हुआ है, यही पेच जिसने सब चीजों को एक साथ जकड़ रखा है, लोगों को दिखलाई नहीं देता।

प्राचीन काल में, जबकि संसार की सारी आर्थिक व्यवस्था व्यक्तिगत दासता के आधार पर खड़ी थी, महान्-से-महान् मनीषियों की भी दृष्टि इधर नहीं गई। जोनोफन, अफ़लातून, अरस्तु और रोमनों की तो यह धारणा थी कि इसके विपरीत कुछ हो ही नहीं सकता। दासता युद्ध का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है और इसके बिना मानव-समाज का अस्तित्व ही कल्पनातीत है। इसी प्रकार मध्यकाल में और अभी कुछ ही दिनों पीछे तक—लोग भू-स्वामित्व के महत्व को नहीं समझते थे और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली उस दासता को भी नहीं देख पाते थे जिसपर मध्यकाल का सम्पूर्ण आर्थिक यन्त्र अवलम्बित था। ठीक इसी तरह आजकल भी न तो कोई इस बात को समझता है, न समझने की चेष्टा ही करता है कि अधिकांश लोगों की दासता का कारण रुपए के रूप में लिये जानेवाले वे राज्य-कर और भूमि-कर हैं जिनकी मांग सरकार और उसके आश्रित करते हैं और जिन्हें वसूल करने की व्यवस्था कर्मचारियों तथा सैनिकों के हाथों में होती है—वे ही कर्मचारी और वे ही सैनिक जिन्हें इन करों की आय से वेतन दिया जाता है।

: २१ :

अव्यवहारिक अर्थशास्त्र

आश्चर्य की बात यह नहीं कि पुरातन काल से दासता के पाश में जकड़े हुए प्राणी स्वयं अपनी स्थिति से परिचित नहीं हैं और जिस दशा में वे सदा से रहते आए हैं उसे वे मानव-जीवन की स्वाभाविक अवस्था

मानते हैं और दासता के रूपमात्र में परिवर्तन को सुधार समझ बैठते हैं; आश्चर्य की बात यह भी नहीं हैं कि इन दासों के स्वामी भी कभी-कभी सच्चे हृदय से यही समझते हैं कि एक पेच ढीला करके वे अपने दासों को स्वतन्त्र कर रहे हैं जब कि वास्तविकता यह होती है कि दूसरा पेच पहले ही से खूब कस दिया जाता है। दास और स्वामी दोनों अपनी-अपनी स्थिति के अभ्यस्त हो जाते हैं और स्वतन्त्रता से अनभिज्ञ होने के कारण दासों की केवल इतनी आकांक्षा होती है कि किसी तरह उनकी स्थिति में सुधार हो जाय या उनकी दासता का रूप बदल जाय। इसके विपरीत स्वामी-वर्ग के लोग अपने अन्याय पर परदा डालने के लिए इस बात की चेष्टा करते हैं कि लोगों को पुराने ढंग की दासता से निकालकर वे जिस नए ढंग की दासता में जकड़ने जा रहे हैं उसका खूब ढोल पीटें। आश्चर्य की बात तो यह है कि उदार कहलानेवाला अर्थशास्त्र भी मानव-जीवन की आर्थिक स्थिति की जांच करते समय उस वास्तविकता को देखने से चूक जाता है जो उस स्थिति के मूल में छिपी रहती है। मैं समझता हूं कि अर्थशास्त्र का काम यह पता लगाना है कि किसी एक घटना का अनेक श्रृंखलाबद्ध घटनाओं के सामान्य कारण से क्या सम्बन्ध है ? किन्तु अर्थशास्त्र इसका बिलकुल उलटा करता है। वह घटनाओं तथा उनके महत्व को एक सूत्र में बांधनेवाले सम्बन्ध को सावधानी के साथ छिपाता है और साधारण-से-साधारण तथा अनिवार्य-से-अनिवार्य प्रश्नों का भी उत्तर देने से बचता है। वह एक सुस्त और हठी घोड़े के समान है जो ढलाव पर, जहां बोझ नहीं खींचना पड़ता, खूब मजे से चलता है; किन्तु जैसे ही बोझ खींचने का अवसर आता है वैसे ही वह किसी दूसरी दिशा में मुड़ जाता है, मानों उस दिशा में उसे कोई काम हो। अर्थशास्त्र के सामने जैसे ही कोई गम्भीर और आवश्यक प्रश्न आता है वैसे ही असम्बन्धित बातों पर पांडित्यपूर्ण वादविवाद आरम्भ हो जाता है, ताकि लोगों का ध्यान मुख्य प्रश्न से हट जाय।

आप पूछते हैं : इस अस्वाभाविक, विलक्षण, विवेकरहित और केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि हानिकारक व्यवस्था का क्या कारण है कि मानव-समाज के कुछ प्राणी दूसरों की इच्छा के बिना न खा सकते हैं, न काम

कर सकते हैं ? और अर्थशास्त्र गम्भीर-से-गम्भीर मुद्रा बनाकर उत्तर देता है : इसका कारण यह है कि कुछ लोग दूसरों के काम और पोषण पर नियंत्रण रखते हैं—उत्पादन का नियम ही ऐसा है।

आप पूछते हैं : स्वामित्व का यह कैसा विलक्षण अधिकार है जिसके बल पर कुछ लोग दूसरों की भूमि, भोजन तथा काम करने के औजारों का अपहरण कर लेते हैं ? अत्यन्त गम्भीर मुद्रा बनाकर अर्थशास्त्र उत्तर देता है : इस अधिकार की रचना परिश्रम के संरक्षण के तत्व पर की गई है, अर्थात् एक वर्ग के लोगों के परिश्रम का संरक्षण दूसरे वर्ग के लोगों के परिश्रम का अपहरण करके किया जाता है।

आप पूछते हैं : यह कैसा रुपया है जिसकी छपाई और ढलाई सब जगह सरकार अथवा उसके अधिकारी ही करते हैं, जो मजदूरों से इतनी अधिक संख्या में बलपूर्वक वसूल किया जाता है और जो राष्ट्रीय ऋण के रूप में मजदूरों की भावी संतान के सिर पर भी मढ़ दिया जाता है ? आप पूछते हैं कि कर लेनेवालों से कर देनेवालों का जो आर्थिक सम्बन्ध होता है, उसपर इस रुपए का, जो करों के रूप में लोगों से यथासम्भव अधिक-से-अधिक परिणाम में हड़पा जाता है, क्या असर पड़ता है ? अर्थशास्त्र वही गम्भीर मुद्रा बनाकर उत्तर देता है : चीनी या छींट की तरह रुपया भी एक पदार्थ है। अंतर केवल इतना है कि यह विनिमय का सबसे अधिक सुविधाजनक माध्यम है। करों का लोगों की आर्थिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उत्पादन, विनिमय और वितरण के नियम एक वस्तु हैं, कर दूसरी वस्तु।

आप पूछेंगे : सरकार को अपनी इच्छानुसार मूल्य घटाने-बढ़ाने और कर बढ़ाकर भूमि-हीनों को दासता की शृंखला में जकड़ने का जो अधिकार प्राप्त है, क्या उसका लोगों की आर्थिक अवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? अर्थशास्त्र बड़ा ही गम्भीर मुँह बनाकर उत्तर देता है : बिलकुल नहीं; उत्पादन, वितरण और विनिमय का शास्त्र अलग है और कर तथा राज्य-कार्य अर्थात अर्थ-व्यवस्था का शास्त्र अलग है।

आप अंतिम प्रश्न करते हैं : सारी-की-सारी जनता सरकार की दासता में आबद्ध है, सरकार को यह सामर्थ्य प्राप्त है कि जिसे चाहे वह

नष्ट करदे, जिससे चाहे उससे उसके श्रम का समस्त प्रतिफल ले ले और श्रमजीवियों को उनके काम से हटाकर सैनिक दासत्व में जकड़ दे—क्या इन सब बातों का आर्थिक परिस्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? अर्थ-शास्त्र इस प्रश्न का उत्तर देने तक का कष्ट नहीं करता। यह तो एक बिलकुल पृथक विषय है--राज्य-नियम या राजनीतिक कानून। जिस जनता का प्रत्येक कार्य और प्रत्येक कर्त्तव्य आततायी की स्वेच्छा पर निर्भर होता है उसके आर्थिक जीवन के नियमों का अर्थशास्त्र बड़ी गम्भीरता के साथ परीक्षण करता है और आततायी के इस अधिकार को सार्वजनिक जीवन का स्वाभाविक रूप समझता है। दासों के जीवन पर स्वामी की स्वेच्छा का क्या प्रभाव पड़ता है, अपने लाभार्थ स्वामी जो कुछ चाहता है उसे करने के लिए वह दासों को किस प्रकार बाध्य करता है, किस प्रकार उन्हें वह अपने मन की मौज के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर खदेड़ता फिरता है और इच्छा होती है तो भोजन देता है, नहीं तो भूखा रखकर मार डालता है या योंही जीने के लिए छोड़ देता है—इन बातों की जांच किये बिना जिस प्रकार कोई भी प्रेक्षक दासों की आर्थिक स्थिति का अनुमान नहीं लगा सकता उसी प्रकार अर्थ-शास्त्र भी ऐसा करने में असमर्थ रहता है। हम लोग सोचेंगे कि शायद अर्थशास्त्र मूर्खतावश ऐसा करता है, किंतु उससे प्रस्तावों की परीक्षा करने से यह विश्वास हो जाता है कि इसका कारण मूर्खता नहीं बल्कि चातुर्य है।

अर्थशास्त्र का एक निश्चत उद्देश्य है जिसको वह प्राप्त करता है। वह उद्देश्य है जनता में अंध-विश्वास और भ्रम की भावना बनाए रखना और उसके द्वारा मानव-जाति को सत्य तथा कल्याण की ओर अग्रसर होने से रोकना। लोगों में बहुत दिनों से एक भयंकर अंधविश्वास फैला हुआ है, जिसने समाज को भयंकरतम धार्मिक अंध-विश्वास से भी अधिक क्षति पहुँचाई है। अर्थशास्त्र इसी अंध-विश्वास को अपनी पूरी शक्ति लगाकर अक्षुण्ण रखता है। यह अंध-विश्वास धार्मिक अंध-विश्वासों के ही समान होता है। कहा जाता है कि मनुष्य के प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य है, उससे भी बढ़कर हमारा कर्तव्य एक काल्पनिक व्यक्ति के प्रति

है। धर्मशास्त्र में उस काल्पनिक व्यक्ति का नाम 'ईश्वर' है और अर्थशास्त्र में उसे 'राज्य' कहते हैं। धार्मिक अंध-विश्वास यह मानने में है कि ईश्वर के लिए बलि—कभी-कभी नर-बलि तक—की आवश्यकता होती है, और यह बलि प्रत्येक दशा में होनी ही चाहिए, चाहे उसके लिए हिंसा का ही क्यों न प्रयोग करना पड़े। राजनीतिक अंध-विश्वास यह मानने में है कि मनुष्य का जो कर्त्तव्य मनुष्य के प्रति है उससे भी बढ़कर उसका कर्तव्य राज्य के प्रति है। इस राज्य के लिए भी बलि—अकसर नर-बलि—की आवश्यकता होती है और इस बलि के निमित्त मनुष्य को हर तरह से, यहांतक की हिंसा का प्रयोग करके भी, तैयार करना चाहिए। पहले इस अंध-विश्वास के स्तम्भ विभिन्न धर्मों के पुरोहित थे, किंतु अब उसका समर्थक अर्थशास्त्र है। मानव-समाज पहले से भी अधिक भयंकर दासता के गह्वर में ढकेल दिया गया है; किंतु अर्थशास्त्र हमें विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता है कि यह स्थिति आवश्यक है और इससे भिन्न नहीं हो सकती।

राज्य का अस्तित्व लोक-कल्याण के लिए होना चाहिए और उसे अपना कर्त्तव्य-पालन करते रहना चाहिए; अर्थात् उसे जनता का शासन करना चाहिए और साथ-ही-साथ शत्रुओं से उसकी रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इसके लिए राज्य को रुपए और सिपाहियों की आवश्यकता होती है। यह रुपया राज्य के सब नागरिकों को मिलाकर देना चाहिए और इसलिए राज्य के अस्तित्व को ध्यान में रखकर ही लोगों के परस्पर सम्बन्धों पर विचार करना उचित है।

एक साधारण अनपढ़ आदमी कहता है—मैं खेत पर अपने पिता की सहायता करना चाहता हूं। मेरी इच्छा ब्याह करने की है, किंतु सरकार मुझे पकड़कर सिपाही का काम करने के लिए ६ वर्ष को कहीं दूर भेज देती है। सेना को छोड़ने के बाद मैं खेती करना और अपने परिवार की सहायता करना चाहता हूं, किंतु रुपया दिये बिना मुझे अपने इर्द-गिर्द कहीं खेती करने की अनुमति नहीं मिलेगी और रुपया मेरे पास है नहीं। मुझसे रुपया वे लोग मांगते हैं जिन्हें हल तक जोतना नहीं आता और वे इतना रुपया मांगते हैं कि उसके लिए मुझे अपनी सारी मेहनत

बेचनी पड़ती है। इतने पर भी मैं कुछ कमा लेता हूं और उसमें से जितना बचा सकता हूं उतना अपने बच्चों को देना चाहता हूं; किंतु सरकारी कर्मचारी आकर मेरे पास से वह रकम कर के रूप में वसूल कर ले जाता है। इसके बाद मैं फिर कुछ कमाता हूं और फिर मेरी सारी कमाई मुझसे छीन ली जाती है। मेरी सारी आर्थिक क्रिया राज्य की इच्छा पर निर्भर है और मुझे ऐसा लगता है कि मेरी तथा मेरे भाइयों की दशा तभी सुधर सकती है जब हमको राज्य की मांगों से छुटकारा मिल जाय।

किंतु अर्थशास्त्र कहता है—तुम ऐसी बातें अज्ञानवश सोचते हो। धन के उत्पादन, वितरण और विनिमय के नियमों का अध्ययन करो और आर्थिक प्रश्नों को राजनीतिक प्रश्नों के साथ न मिलाओ। जो बातें तुमने कहीं हैं उनसे तुम्हारी स्वतन्त्रता का उल्लंघन नहीं होता। वे तो अनिवार्य बलिदान हैं जो तुम्हें अन्य व्यक्तियों की भांति स्वयं अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के हेतु करना होगा।

इसपर वह सीधा-सादा आदमी कहता है—देखो तो, उन्होंने मेरे लड़के को मुझसे ले लिया है और कह गए हैं कि मेरे दूसरे लड़कों को भी बड़ा होते ही ले जायंगे। वे उसको बलपूर्वक ले गए हैं और वह किसी ऐसे विचित्र देश में शत्रुओं की गोलियों का सामना करने के लिए भेज दिया गया है जिसका हमने पहले कभी नाम भी नहीं सुना था। हमें तो यह भी नहीं पता कि यह युद्ध लड़ा क्यों जा रहा है और, यह तो देखिए, जिस खेत को हमें जोतने की अनुमति नहीं है और जिसके बिना हम भूखों मरते हैं वह एक ऐसे आदमी के अधिकार में है जिसको न तो हमने कभी देखा है, न जिसकी उपयोगिता हमारी समझ में आती है। जहांतक करों का सवाल है, मैं समझता हूँ कि जिन करों के लिए सरकारी सिपाही मेरे लड़के के पास से बलपूर्वक गाय छीन ले गया था, उनका रुपया उसी सिपाही के पास और विभिन्न कमीशनों तथा मन्त्रिमण्डलों के उन सदस्यों के पेट में जायगा जिनको मैं नहीं जानता और जिनकी उपयोगिता में मुझे विश्वास नहीं। भला बताइए कि इस अत्याचार से मेरी स्वतन्त्रता की किस प्रकार रक्षा होगी और इतनी सारी बुराई से मेरा कैसे कल्याण होगा !

यह तो सम्भव है कि किसी व्यक्ति को दास बना लिया जाय और उसे कोई ऐसा कार्य करने के लिए बाध्य किया जाय जिसे वह बुरा समझता है; किन्तु उसे यह सोचने के लिए प्रेरित करना असम्भव है कि डर-धमकी की यंत्रणा भोगते हुए भी वह स्वतन्त्र है और जिस प्रत्यक्ष बुराई को वह सहन कर रहा है वह उसके लिए कल्याणप्रद है। देखने में यह बात असम्भव प्रतीत होती है; किन्तु अर्थशास्त्र की सहायता से हमारे समय में यही हुआ।

सरकार—अर्थात् बल-प्रयोग करनेवाले सशस्त्र व्यक्तियों की सत्ता यह निश्चित करती है कि जिन लोगों को वह डराती-धमकाती है उनसे वह कितना रुपया वसूल करे। जैसा कि अंग्रेजों ने फ़िजी-निवासियों के साथ किया था, वैसे ही सरकार यह निश्चय करती है कि गुलामों से कितनी मेहनत कराई जाय, श्रमजीवियों को संगठित करने के लिए कितने सहायकों की आवश्यकता है और इन सहायकों को सिपाहियों, जमींदारों तथा टैक्स-कलक्टरों के रूप में संगठित करने के लिए क्या किया जाय। दास अपनी सेवाएं समर्पित करते हैं, फिर भी वे समझते हैं कि वे ऐसा अपने स्वामी की इच्छा के कारण नहीं कर रहे हैं बल्कि इसलिए कर रहे हैं कि स्वयं अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए उन्हें 'राज्य' नामक देवता के सामने सेवाएं समर्पित करना और लहू की बलि चढ़ाना आवश्यक है। इतना त्याग करते हुए भी वे अपनेको स्वतन्त्र मानते हैं। उनके इस विश्वास का कारण यह है कि पहले धर्म और पुजारी ऐसा ही कहते थे और अब अर्थशास्त्र और विद्वज्जन भी यही कहते हैं। किन्तु यदि हम उन लोगों की बातों का, जो अपनेको पुरोहित और विद्वान् कहते हैं, आंखें बन्द करके विश्वास करना छोड़ दें तो उनके कथनों की अनर्गलता बिलकुल स्पष्ट हो जाय। जो लोग दूसरों के प्रति बलप्रयोग करते हैं वे उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यह बलप्रयोग राज्य के लिए आवश्यक है और राज्य जनता की स्वतन्त्रता तथा कल्याण के लिए आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ कि पीड़ितों की स्वतन्त्रता में वृद्धि करने के लिए ही पीड़क उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं, उनकी भलाई के लिए उन्हें नुकसान पहुँचाते हैं। किन्तु मनुष्य तर्कशील प्राणी है, वह समझ सकता है कि उसकी किस बात में भलाई है और वह अपने हित की

स्वतन्त्रतापूर्वक अभिवृद्धि कर सकता है। जिन कामों की अच्छाइयाँ लोगों की समझ में नहीं आतीं और जिन कामों को उन्हें विवशतावश करना पड़ता है, वे उनके लिए कदापि कल्याणप्रद नहीं हो सकते। तर्कशील प्राणी केवल उस वस्तु को कल्याणप्रद मान सकता है, जो उसकी बुद्धि को ऐसी प्रतीत हो। यदि कुछ व्यक्ति बुराई की ओर राग या तर्कहीनता के कारण आकर्षित होते हैं तो शेष लोग—जो ऐसी भूल नहीं करते—केवल इतना कर सकते हैं कि इन पथभ्रष्टों को वास्तविक कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करें। लोगों को यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि यदि वे सबके सब सिपाही बन जायं, यदि उन सबकी जमीनें उनसे छीन ली जायं और यदि वे अपना सारा श्रम कर के रूप में अर्पित करदें तो उनका अधिक कल्याण होगा। किन्तु जब तक सब लोग इसे अपना कल्याण न समझने लगें और इसे स्वेच्छा से न करने लगें तबतक यह सार्वजनिक कल्याण की बात नहीं कही जा सकती। किसी भी काम के कल्याणप्रद होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि जनता उसे स्वेच्छा से मनुष्य का जीवन ऐसी बातों से भरा हुआ है।

मान लीजिए, दस मजदूर साथ काम करने के लिए औजार लेते हैं। उनका यह कार्य निस्संदेह उनके सामान्य हित के लिए है। किन्तु यदि ये लोग किसी ग्यारहवें व्यक्ति को अपनी टोली में मिलाकर काम करने के लिए बलपूर्वक बाध्य करें तो वे यह नहीं कह सकते कि जिस वस्तु में उनका सामान्य हित है उसीमें उस ग्यारहवें व्यक्ति का भी है।

यही बात उन भद्र पुरुषों के विषय में भी चरितार्थ होती है जो एक साथ मिलकर अपने किसी सामान्य मित्र को प्रीति-भोज के लिए निमंत्रित करते हैं। यह कहना असम्भव है कि यह भोज उस व्यक्ति को भी अच्छा लगेगा जिससे भोज के लिए बलात् दस रूबल वसूल किये गये हैं। यही बात उन किसानों पर भी लागू होती है जो अपनी सामान्य सुविधा के लिए तालाब खोदने का निश्चय करते हैं। जो लोग तालाब को उसपर की गई मेहनत से अधिक लाभदायक समझते हैं उसका निर्माण निस्संदेह एक सामान्य हित का प्रश्न होगा; किन्तु जो व्यक्ति फसल की कटाई में पिछड़ गया है और तालाब को उससे कम महत्त्वपूर्ण समझता है, उसे

भला उसकी खुदाई कैसे लाभदायक प्रतीत हो सकती है ? यही बात सड़कों, गिरजाघरों, अजायबघरों और बहुत-सी सामाजिक तथा राजनीतिक बातों में भी चरितार्थ होती है। ये चीजें उन्हीं लोगों के लिए लाभदायक हो सकती हैं जो उनको लाभदायक समझते हैं और उनके निर्माण में वे स्वेच्छा तथा स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेते हैं। यही बात संघ के लिए खरीदे गए हथियारों, भद्र पुरुषों द्वारा दिये गए सहभोज और किसानों द्वारा खोदे गए तालाब के सम्बन्ध में भी थी। जो काम लोगों से बलपूर्वक कराए जाते हैं वे केवल बल-प्रयोग के कारण सामान्य हित के काम नहीं रह जाते।

यह बात इतनी स्पष्ट और सरल है कि यदि इतने दिनों तक लोग धोखे में न रहे होते तो इसे समझाने की कोई आवश्यकता ही न होती। मान लीजिए कि हम सब गांव में रहते हैं और वहाँ के एक ऐसे दलदल पर पुल बांधने का निश्चय करते हैं जिसमें लोग अक्सर फंस जाते हैं। हमलोग सहमत होकर वचन देते हैं कि प्रत्येक परिवार से इतना रुपया, इतनी लकड़ी और इतने दिनों की मेहनत ली जायगी। इस काम को करने के लिए हम इसलिए राजी होते हैं क्योंकि हम समझते हैं कि यह पुल हमारे लिए इसके निर्माण-मूल्य से अधिक लाभदायक होगा। किन्तु हममें कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जिनके लिए खर्च न करना पुल के निर्माण से अधिक लाभदायक हो या जो कम-से-कम ऐसा समझते हों।

क्या इन लोगों से पुल के निर्माण में भाग लेने के लिए जबर्दस्ती करना उनके लिए लाभप्रद हो सकता है ? स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि जो लोग पुल के निर्माण में स्वेच्छापूर्वक कार्य करने को ही हानिकारक समझते थे वे अनिवार्य रूप से कार्य करना तो और भी अधिक हानिकारक समझेंगे। यदि हम यह भी मान लें कि हम सबने बिलकुल एकमत होकर पुल बनाने का निर्णय किया था और उसके लिए प्रत्येक परिवार ने एक निश्चित परिमाण में रुपया और श्रम देने का वचन दिया था, तब भी यह सम्भव है कि स्थिति में परिवर्तन हो जाने के कारण कुछ लोग अपना योगदान देने में असमर्थ हो जायं और उसके फलस्वरूप यह सोचने लगें कि रुपया खर्च करने की अपेक्षा पुल का न

होना ही अच्छा है। यह भी सम्भव है कि उनका केवल मत बदल गया हो, या वे यह सोचने लगे हों कि पुल तो हमारी सहायता के बिना भी बन ही जायगा और उसका उपयोग भी हम कर ही सकेंगे। ऐसी दशा में क्या इन लोगों को पुल के निर्माण में भाग लेने के लिए बाध्य करना अर्थात् उनसे अनिवार्य बलिदान कराना उनके लिए लाभदायक हो सकेगा? कदापि नहीं; क्योंकि यदि अपने वचन का पालन किसी ऐसी परिवर्तित स्थिति के कारण नहीं कर पाये हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें पुल के निर्माण में योग देना कठिन हो गया, तो उनसे बलात् सहायता लेना उनका और भी अहित करना होगा। इसके विपरीत, यदि वचन भंग करनेवाले व्यक्ति का उद्देश्य दूसरों के श्रम से लाभ उठाना था तब भी उसको सहायता देने के लिए विवश करना उसे केवल एक इरादे के लिए दण्डभर देना होगा और इरादा भी ऐसा जो सिद्ध नहीं हुआ है और कार्य रूप में परिणत होने से पूर्व ही दण्ड पा चुका है; किन्तु किसी व्यक्ति को अवांछित कार्य में भाग लेने के लिए विवश करना किसी भी दशा में लाभदायक नहीं हो सकता।

यह बात तो तब है जब दलदल पर पुल बांधने-जैसा असंदिग्ध उपयोगिता का और सबकी समझ में आनेवाला कार्य किया जाता है। जिस उद्देश्य को लोग समझते नहीं, जो उद्देश्य अग्राह्य होते हैं और बहुधा निश्चयात्मक रूप से हानिकर होते हैं, उनके लिए लाखों व्यक्तियों को उत्सर्ग करने के लिए विवश करना और भी अधिक अन्याय और मूर्खता की बात होगी, जैसा कि सैनिक भरती और करों की वसूली में होता है। किंतु अर्थशास्त्र का कहना है कि जो बात सबको बुरी दिखाई देती है वह वस्तुतः सार्वजनिक हित की बात है। ऐसा मालूम होता है कि कुछ थोड़े-से इने-गिने लोगों को ही इस बात का ज्ञान होता है कि सार्वजनिक हित किस बात में है और यद्यपि शेष सब लोग उस सार्वजनिक कल्याण को अहितकर समझते हैं, तथापि इन थोड़े-से व्यक्तियों को अधिकार होता है कि शेष लोगों को यह अहितकर कार्य करने के लिए विवश करें और उसको सार्वजनिक हित का कार्य समझें।

यही वह सबसे बड़ा अंधविश्वास और धोखा है जो मानव-समाज को

सत्य और कल्याण के पथ पर अग्रसर होने से रोकता है। इसी अंध-विश्वास और इसी धोखे को अक्षुण्ण रखना राजनीति-शास्त्र का साधारण और अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। उसका लक्ष्य मानव-समाज से अत्याचार और दासता की उस स्थिति को छिपाए रखना है जिसमें वह पड़ा हुआ है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह जो युक्ति काम में लाता है वह इस प्रकार है—जिस बल-प्रयोग द्वारा दासों का समस्त आर्थिक जीवन संचालित होता है उसे वह जानबूझ-कर स्वाभाविक और अनिवार्य बतलाता है और इस प्रकार लोगों को धोखे में डालकर उनकी आंखें उनकी दुर्दशा के वास्तविक कारणों की ओर से हटा देता है।

दास-प्रथा का अंत हुए बहुत दिन हो चुके हैं। रोम, अमरीका तथा रूस तीनों ही देशों में यह प्रथा नहीं रही है, किंतु जिस वस्तु का यथार्थतः अंत हुआ है वह है दासता शब्द, स्वयं दासता नहीं।

दासता इस बात में है कि कुछ लोग अपनेको उस श्रम से मुक्त कर लेते हैं जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोजनीय होता है और वही श्रम दूसरों पर बलात् लाद दिया जाता है। जहां-कहीं भी ऐसे लोग हैं जिनके निष्क्रिय रहने का कारण यह नहीं है कि दूसरे लोग उनका काम प्रेमवश कर देते हैं बल्कि यह कि वे अपने लिए स्वयं काम न करके दूसरों को अपने लिए कार्य करने को बाध्य कर सकते हैं, वहीं दासता है। इसी प्रकार यूरोपीय देशों की भांति जहां-कहीं भी ऐसे लोग हैं जो हिंसात्मक युक्तियों द्वारा सहस्रों दूसरे व्यक्तियों के श्रम का उपयोग करते हुए यह विश्वास करते हैं कि उन्हें ऐसा करने का अधिकार है और साथ-ही-साथ जहां दूसरे लोग इन हिंसात्मक युक्तियों के सामने सिर झुका-कर काम करने ही नहीं लग जाते बल्कि उसको अपना कर्त्तव्य भी समझ लेते हैं, वहां निस्संदेह भयंकर दासता का राज होता है।

तो, दासता विद्यमान है। किंतु उसका तथ्य क्या है? उसका तथ्य वही है जो सदा रहा है और जिसके बिना वह टिक नहीं सकती—अर्थात् सशक्तों तथा सशस्त्रों का दुर्बलों और निःशस्त्रों पर बल-प्रयोग।

दासता का रूप अब भी व्यक्तिगत बल-प्रयोग की उन्हीं तीन मूल

प्रणालियों में दिखाई देता है, जिनमें पहले दिखाई देता था; अर्थात् (१) सैनिक भरती, (२) सैनिकों द्वारा प्रचारित भूमि-कर और (३) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर के रूप में जनता पर लादे हुए सम्मान-कर, जिन्हें ये ही सिपाही अक्षुण्ण रखते हैं। हम इन्हें देख इसलिए नहीं पाते कि इनमें से प्रत्येक का नए ढंग से समर्थन किया जाने लगा है, जिसके कारण इनका अर्थ हमसे छिप गया है।

सशस्त्र व्यक्तियों द्वारा निःशस्त्रों पर किये जानेवाले बल-प्रयोग का समर्थन यह कहकर किया जाता है कि उससे देश की कल्पित शत्रुओं से रक्षा होती है। यथार्थ में उसका वही पुराना अर्थ है— पराजितों पर विजेताओं का शासन ! इसी प्रकार जिस हिंसा का प्रयोग श्रमजीवियों से उनके खेतों को छीनने में किया जाता है उसे सार्वजनिक हित के लिए किये गए कार्य का पारितोषिक कहकर उचित ठहराया जाता है। इसका समर्थन उत्तराधिकार की प्रथा से भी हुआ है। वस्तुतः यह वही पुरानी विधि है जिसके अनुसार सेना या अधिकारीगण खेतों को हथियाकर जनता को दास बनाते थे।

अंतिम विधि का, जो आजकल की सबसे शक्तिशाली और प्रमुख विधि है और जिसके अनुसार डरा-धमकाकर कर वसूल किये जाते हैं एक बड़े ही आश्चर्यजनक ढग से समर्थन किया जाता है। लोगों को उनकी सम्पत्ति, स्वतत्रता और सारी भलाई से वंचित कर दिया जाता है और उसके समर्थन में कहा यह जाता है कि काम स्वतंत्रता और सार्वजनिक कल्याण के लिए किया गया है। वस्तुतः यह कुछ नहीं, वही पुरानी दासता है सिवा इसके कि अब इसका रूप व्यक्तिगत नहीं रह गया है।

जहां बलप्रयोग को कानून का रूप दे दिया जाता है, वहां दासता का वास होता है। बलप्रयोग का प्रदर्शन चाहे किसी भी रूप में होता हो— चाहे राजा और उसके सैनिक स्त्रियों और बच्चों को मारते हुए तथा गांवों को जलाने-फूंकते हुए चढ़ाई करते हों, चाहे स्वामीगण अपने खेत के लिए दासों से रुपया वसूल करते या मजदूरी कराते हों और उनके अस्वीकार करने पर सेना बुला लेते हों, चाहे कुछ लोग शस्त्र लेकर दूसरों पर गांव-गांव कर लगाते फिरते हों, चाहे प्रान्तीय गवर्नरों और देहाती पुलिस

की सहायता से गृहमंत्री का विभाग रुपया इकट्ठा करता हो और लोगों के आना-कानी करने पर फौज तैनात कर देता हो संक्षेप में यह कि जब-तक कि संगीन की नोक पर लोगों को डराया-धमकाया जायगा, उनके साथ जोर-जबर्दस्ती की जायगी, तबतक धन जनता में वितरित न होकर अत्याचारियों की मुट्ठी में जाता रहेगा।

हेनरी जार्ज[1] की भूमि के राष्ट्रीयकरण की योजना इस निष्कर्ष की यथार्थता का एक प्रबल प्रमाण है। जार्ज का प्रस्ताव है कि सारी भूमि राज्य की मान ली जाय और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों के स्थान पर केवल जमीन का किराया या लगान लिया जाय।

इसका परिणाम क्या होगा? राज्य की सीमा में कृषि-दासता नहीं रह जायगी, अर्थात् भूमि पर राज्य का स्वत्व हो जायगा। इंगलैण्ड की अपनी भूमि होगी और अमरीका की अपनी और किस व्यक्ति को कितना कर देना पड़ेगा यह इस बात पर निर्भर होगा कि वह कितनी भूमि का उपयोग करता है।

इससे कदाचित कुछ ग्रामीण श्रमजीवियों की स्थिति सुधर जायगी, किंतु जबतक लगान की वसूली बलपूर्वक होती रहेगी तबतक दासता बनी रहेगी। फसल नष्ट हो जाने पर बेचारा किसान बलपूर्वक मांगे गए लगान को अदा करने में असमर्थ हो जायगा और तब उसे अपनी भूमि की रक्षा करने और सर्वनाश से बचने के लिए किसी धनी व्यक्ति की दासता करने पर बाध्य होना पड़ेगा।

यदि बालटी चूती है, तो निस्संदेह उसमें कहीं-न-कहीं छेद है। बालटी

---

[1] प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री (१८३९–१८९७) जिसे १८७९ में प्रकाशित अपनी 'उन्नति और निर्धनता' पुस्तक के कारण बड़ी ख्याति मिली। वह भूमि के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में था, यद्यपि वर्तमान जमींदारी प्रणाली को भी अक्षुण्ण रखने का समर्थक था। उसका कहना था कि भूमि के लगान पर कर लगाना चाहिए जिससे कि अन्ततः सभी अन्य प्रकार के कर हटाये जा सकें। उसके मतानुसार मनुष्य द्वारा निर्मित किसी वस्तु पर कर नहीं लगाना चाहिए था।

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE

की तली पर दृष्टि डालने से दिखाई दे सकता है कि पानी कई छेदों से निकल रहा है। इन काल्पनिक छेदों को बाहर से रोकने की चाहे कितनी ही चेष्टा की जाय, पानी टपकता ही रहेगा। पानी को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि हम बालटी के उस सूराख को ढूंढ निकालें जिसमें से पानी निकलता है और उसे अन्दर से बन्द कर दें। यही यत्न धन के दोषपूर्ण वितरण को रोकने के लिए करना चाहिए, अर्थात् उन छेदों को बंद करना चाहिए जिनमें से लोगों का धन टपक जाता है। लोग अनेक प्रकार के प्रस्ताव करते हैं—मजदूर-सभाएं बनाओ और पूंजी तथा भूमि दोनों की सार्वजनिक सम्पत्ति घोषित कर दो। ये सब युक्तियां सूराखों को केवल बाहर से बन्द करने की युक्तियां हैं। श्रमजीवियों के धन को टपककर काहिल-वर्गों के हाथों में जाने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सूराख का अन्दर से पता लगाया जाय। यह सूराख है सशस्त्र मनुष्यों का निःशस्त्रों को डराना, धमकाना और सेना का बलप्रयोग करना जिसके फलस्वरूप स्वयं मजदूर अपने कामों से अलग कर दिये जाते हैं और उनसे उनकी जमीन तथा उनकी मेहनत के फल छीन लिये जाते हैं। जबतक इस संसार में एक भी ऐसा प्राणी रहेगा जो अपनेको किसी भी दूसरे जीव को मार डालने का अधिकारी समझता है तबतक धन का अनियमित वितरण अर्थात दासत्व कायम रहेगा।[१]

: २२ :

अब मैं समझा

"हां, सिद्धांत की दृष्टि से तो यह ठीक है, किंतु पता नहीं व्यवहार की दृष्टि से यह कैसा होगा ?" लोगों को बार-बार ऐसा कहते सुनकर

---

[१] इस पुस्तक के पूर्व संस्करणों में यहां कुछ पृष्ठ और थे जो इस परिच्छेद के साथ-ही-साथ निष्कर्ष-रूप में छापे गए थे। किंतु बाद में टॉल्स्टॉय ने इन पृष्ठों को निकालकर रुपए की समस्या पर चार नए परिच्छेद लिख डाले जो इस संस्करण में परिच्छेद १७, १८, १९ और २० के रूप में प्रकाशित हैं।

मुझे सदा आश्चर्य होता है। मानो सिद्धांत बातें करने के लिए सुन्दर शब्दमात्र हो, अनिवार्य रूप से व्यवहार में लाए जाने अर्थात् हमारे समस्त कार्य-कलाप का आधार बनने योग्य नहीं! निस्सन्देह इस संसार में मूर्खतापूर्ण सिद्धान्तों की भरमार होने के कारण ही यह विचित्र मत व्यापक रूप से स्वीकार किया गया होगा। सिद्धान्त वह है जो मनुष्य सोचता है और व्यवहार वह है जो मनुष्य करता है। तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मनुष्य सोचे एक बात और करे ठीक उसका उलटा? यदि रोटी बनाने का सिद्धान्त यह है कि पहले आटा गूँधा जाय और फिर खमीर उठाने के लिए छोड़ दिया जाय, तो सिवा किसी पागल के ऐसा कौन-सा व्यक्ति इस सिद्धान्त को जाननेवाला होगा जो इसके विपरीत करेगा? किन्तु हम लोगों में तो यह कहने का फैशन-सा चल गया है कि सिद्धान्ततः तो यह ठीक है, किन्तु पता नहीं व्यवहार की कसौटी पर कैसा उतरे?

जिस काम में मैं लगा हुआ हूं उसमें अनुभव ने उसी बात की पुष्टि की जो मैं सदा उसके सम्बन्ध में सोचा करता था, अर्थात् यह कि सारी बातें सिद्धान्त के अनुसार ही कार्य के रूप में परिणत होती हैं। मैं यह नहीं कहता कि कार्य से सिद्धान्त का औचित्य सिद्ध होता है, किन्तु वह उससे भिन्न नहीं हो सकता। यदि मैंने किसी विषय पर विचार करने के बाद उसे अच्छी तरह से समझ लिया है तो उसे मैं अपनी समझ के विपरीत नहीं कर सकता।

मैं निर्धनों की सहायता करना चाहता था। इसका एकमात्र कारण यह था कि मेरे पास रुपया था और दूसरे लोगों की भाँति मैं भी इस अंधविश्वास को ठीक समझता था कि रुपया काम का प्रतीक है या साधारणतः एक उचित और अच्छी वस्तु है। किन्तु जब मैं रुपया देने लगा तो मुझे मालूम हुआ कि मैं तो उन्हीं हुंडियों को बांट रहा हूं जो निर्धनों के नाम लिखी गई थीं और जिन्हें मैंने इकट्ठा कर रखा था। मैं वही कर रहा था जो बहुत-से जमींदार किया करते थे, अर्थात् मैं कुछ अनुचरों से दूसरे अनुचरों की सेवा करा रहा था। मैंने अनुभव किया कि रुपए-पैसे का चाहे कैसा भी उपयोग किया जाय, उससे चाहे कोई

वस्तु खरीदी जाय, चाहे वह किसीको दानस्वरूप दे दिया जाय, उसका एक ही अर्थ है—या तो हम गरीबों के नाम हुंडियाँ लिखकर जारी करते हैं या इन हुंडियों को औरों को दे देते हैं, ताकि वे उनका रुपया गरीबों से वसूल करलें। अतः मुझे अपने काम की मूर्खता समझ में आ गई। मैंने देख लिया कि मैं निर्धनों से ही रुपया हड़पकर निर्धनों की सहायता करना चाहता हूं। मैंने यह भी देख लिया कि स्वयं रुपया न केवल एक वरदान नहीं है, बल्कि निश्चय ही एक अभिशाप है। वह मनुष्य को सबसे बड़े सुख—परिश्रम करने और अपने परिश्रम के मीठे फल का रसास्वादन करने—से वंचित कर देता है। मैंने अनुभव किया कि यह सुख में किसी दूसरे को हस्तांतरित नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं मुझे प्राप्त नहीं है। मैं श्रम नहीं करता और मुझे अपने श्रम का उपभोग करने का सुख प्राप्त नहीं है।

रुपया क्या है ? ऐसे निराकार प्रश्न का विवेचन करना कुछ अर्थ-हीन-सा प्रतीत हो सकता है। किन्तु इस विवेचन ने, जिसे मैंने केवल विवेचन के अभिप्राय से नहीं बल्कि अपने दुःखों और जीवन के एक प्रश्न को हल करने के लिए आरम्भ किया था, मुझे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया कि 'हम क्या करें ?'

जैसे ही मेरी समझ में आया कि धन और रुपया क्या है, वैसे ही मुझे स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से केवल अपना ही नहीं बल्कि दूसरों का भी कर्त्तव्य समझ में आ गया और यह भी मालूम हो गया कि सब लोग अनिवार्यतः क्या करेंगे। सच तो यह है कि वही बात, जो मुझे बहुत पहले से मालूम थी, अब ठीक तरह से समझ में आ गई। यह वही सत्य था जिसका प्रकाश प्राचीनकाल में बुद्ध, इसैया,[1] लाओट्ज़े[2] और सुक-

---

[1] हज़रत मूसा ने यहूदी लोगों में जिस धर्म का प्रचार किया था उसमें जब शिथिलता आई तो उसे दूर करने के लिए कई सन्तों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी प्रभावोत्पादक वक्तृत्व शक्ति तथा धर्मप्रियता द्वारा यहूदियों में फिर से धर्मभाव जागृत किया। इन सन्तों में इसैया का विशेष स्थान था। उन्हें लोग बहुत मानते थे। जनता में तो उनकी

रात[3] ने साधारणतः समस्त मानव-जाति को दिया था और बाद में ईसा तथा उनके पूर्ववर्ती संत जॉन-बैपटिस्ट[4] ने अत्यन्त स्पष्ट और असंदिग्ध तौर पर विशेष रूप से हम ईसाइयों को दिखाया था। जनता के इस प्रश्न का कि 'हम क्या करें' जॉन बैपटिस्ट ने मुसकराते हुए सरल भाव से यह संक्षिप्त उत्तर दिया था—"जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उस आदमी को दे दे जिसके पास एक भी नहीं है, और जिसके पास

प्रतिष्ठा थी ही, राजा लोग भी उनका बड़ा सम्मान करते थे।

[2] ईसा से ५०० वर्ष पूर्व इस महान् ज्ञानी तथा योगी का चीन देश में जन्म हुआ। उनका उपदेश तोओ के सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। तोओ का अर्थ है ब्रह्म अर्थात प्रकृति में समाया हुआ गूढ़ तत्व। इसका एक अर्थ मार्ग भी है।

लाओट्ज़े का कहना था कि जिसने तोओ का साक्षात्कार किया है वह सब प्रकार के विधि-निषेधों को पार करके सदा आत्मतुष्ट की भाँति निर्द्वन्द्व और निर्लेप होकर रहता है। यह वेदान्त के निवृत्ति मार्गी सिद्धान्त से मिलता-जुलता है।

[3] यूनान का विश्ववंदित दार्शनिक तथा तार्किक (४६९–३९९ ईसा पूर्व)। सुकरात की तर्कशैली बड़ी प्रभावशाली थी, प्रश्न पर प्रश्न करके वह प्रतिपक्षी से अपने मन की बात कहला लेते थे। इसीलिए लोग कहते थे कि यह तो जादू कर देता है।

सुकरात पर नवयुवकों को बहकाने और देवी-देवताओं को गाली देने का आरोप लगाकर एक बड़ा लम्बा मुकदमा चलाया गया था और उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया गया था। किन्तु फांसी पर लटकाए जाने से पूर्व ही सुकरात ने विष-पान करके अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी थी।

[4] ईसा मसीह से कुछ समय पहले इस आचार्य का कार्य-काल था। जिन यहूदियों ने उनके उपदेश को ग्रहण किया उन्हें जॉन ने जोर्डन नदी में स्नान कराके दीक्षा दी, इसीलिए इस दीक्षा (बपतिस्मा) के कारण उनका नाम जान दी बेपटिस्ट प्रसिद्ध हुआ। ईसा के जन्म से २८ वर्ष पूर्व वह फांसी पर लटकाकर मार डाले गए।

भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।" (ल्यूक, अध्याय तीन, पद १०-११)। यही बात ईसा ने अनेक बार और भी स्पष्ट रूप से कही थी। उनका कहना था—"गरीब धन्य हैं और उन्हें धिक्कार है जो अमीर हैं। उन्होंने यह भी कहा था —"तुम ब्रह्म और माया दोनों की उपासना नहीं कर सकते।" ईसा ने अपने शिष्यों को केवल पैसा न लेने के लिए ही नहीं कहा था बल्कि दो कोट तक न रखने का आदेश दिया था। "उन्होंने धनी युवकों से कहा था कि क्योंकि तुम अमीर हो, तुम खुदा के दरबार में नहीं पहुँच सकते। सूई के नकुए में से होकर ऊँट का निकल जाना उतना कठिन नहीं जितना धनवान का ईश्वर के दरबार में पहुँचना। ईसा ने तो घोषणा कर दी थी कि जो लोग उनका अनुसरण करने के लिए, घर-बार, बाल-बच्चे, खेती-बारी, सब कुछ त्यागने के लिए तैयार नहीं होंगे उन्हें वह अपना शिष्य नहीं मानेंगे। उन्होंने उस धनी का उदाहरण सुनाया जिसने अन्य धनियों के समान शान से खाने-पीने और पहनने के अलावा और कोई पाप नहीं किया था; किन्तु जिसने इन्हीं बातों के कारण अपनी आत्मा कलुषित कर ली थी। साथ-ही-साथ ईसा ने लैज़े-रस[1] नामक कंगाल की भी कथा सुनाई थी जिसने कोई अच्छा काम तो नहीं किया था किन्तु जिसका त्राण केवल इसलिए हो गया कि वह कंगाल था।

---

[1] लैज़ेरस एक गरीब फकीर था, जिसके शरीर में कुष्ठ के घाव थे। वह एक अमीर आदमी के द्वार पर खड़ा रहता था। कुत्ते आकर उसके घाव को चाटते। वह अमीर बड़ी शान से रहता, खूब खाता-पीता और मौज करता। लैज़ेरस उसके जूठे टुकड़े खाकर ही किसी तरह गुज़ारा करता था। किन्तु जब वह मरा तो हज़रत इब्राहीम ने प्रेमपूर्वक उसे अपनी गोद में लिटा लिया। वह धनी मरने पर कब्र में दफना दिया गया और उसे नरक मिला। जब उसकी आँख खुली तब वह असह्य नारकीय पीड़ा से व्यथित हो उठा और देखा कि वह नाचीज गरीब लैज़ेरस—जो उसके द्वार पर पड़ा रहता और उसकी जूठन खाकर जीता था—आनन्द से इब्राहीम की गोद में लेटा हुआ है। उसने चिल्लाकर कहा—

इस सत्य से मैं पहले से ही भली-भाँति परिचित था; किन्तु संसार की झूठी शिक्षा ने उसे इतना आच्छादित कर दिया था कि वह एक सिद्धान्त मात्र रह गया था या, जैसाकि लोग सिद्धान्त का अर्थ लगाते हैं, वह कोरा शब्दाडम्बर मात्र रह गया था। किन्तु जैसे ही मैंने अपने मन पर से सांसारिक शिक्षा के आडम्बरों का अवगुंठन हठाया, वैसे ही सिद्धान्त व्यावहारिकता में में घुल-मिल गया और उसके फलस्वरूप मेरे तथा सभी मानवों के जीवन की यथार्थता मेरी आँखों के सामने नाच उठी।

मेरी समझ में आ गया कि मनुष्य को केवल अपने ही कल्याण के लिए नहीं, बल्कि दूसरों के कल्याण के लिए भी उद्योगशील होना चाहिए और यदि हमें पशु-जीवन से ही दृष्टान्त लेना हो, जैसा कि बहुत-से लोगों को हिंसा और संघर्ष की सफाई देते समय पशु-समाज के जीवन-संघर्ष का उदाहरण देने का शौक है, तो हमें मधुमक्खी-जैसे सामाजिक जंतुओं के जीवन से आदर्श ग्रहण करना चाहिए। मेरी समझ में यह भी आ गया कि विवेक और जन्मजात बंधुत्व की बात तो अलग रही, मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह दूसरों की सेवा करे और मानव-जाति के सामुदायिक हित के लिए उद्योग करे। यही मनुष्य का प्राकृतिक नियम है और इसका पालन करके ही वह अपने जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर

"पिता! दया करके ज़रा लैंज़ेरस को भेज दो, ताकि वह मेरे मुंह में पानी की दो बूंदें डाल जाय। मैं तो इस आग में झुलसा जाता हूं।" पर इब्राहीम ने कहा—"पुत्र! यह नहीं हो सकता। तूने अपने जीवन में आनन्द किया और यह यहां आनन्द कर रहा है। दूसरे, हमारे बीच में एक बड़ा खड्डा है, जिसे पार करके कोई आ-जा नहीं सकता।" उस धनिक ने तब प्रार्थना की कि लैंज़ेरस को दुनिया में उसके बाप के घर भेज दिया जाय, ताकि उसके जो चार भाई हैं वे सबक सीखें और इस यातना से बचें। इब्राहीम ने उत्तर दिया कि दुनिया में हजरत मूसा और अन्य पैग़म्बर हैं। जो लोग उनकी बातें नहीं सुनेंगे, वे मरकर फिर जिन्दा हो जाने वाले लैंज़ेरस की बात की भी पर्वाह न करेंगे।

सुखी हो सकता है। मेरी यह भी समझ में आ गया कि इस नियम का उल्लंघन हुआ है और अब भी होता है। लुटेरी मधु-मक्खियों की भांति कुछ लोग अपने बल का दुरुपयोग करके स्वयं तो काम से बचकर दूसरों के श्रम का शोषण करते हैं और अपनी चेष्टा सामूहिक हित-साधन में न लगाकर अपनी निरन्तर बढ़ती हुई वासनाओं को तृप्त करने में लगाते हैं और फिर लुटेरी मधुमक्खियों के समान ही उन वासनाओं के फल-स्वरूप मर मिटते हैं। मैं समझ गया कि मनुष्य के दुर्भाग्य का कारण वह दासता है जिसमें कुछ लोग दूसरों को बांधे रहते हैं। मैं यह भी समझ गया कि हमारे युग की दासता के तीन कारण हैं—सैनिक हिंसा, भूमि की जब्ती और रुपए का हड़पा जाना। नवीन दासता के इन तीनों शस्त्रों का अर्थ समझ जाने के बाद यह अनिवार्य था कि मैं उससे मुक्त रहने की इच्छा करता।

मेरी अधीनता में बहुत-से दास थे। किन्तु जब मुझे इस स्थिति की अनैतिकता का ज्ञान हुआ तब मैंने प्रकाश में आये हुए अन्य व्यक्तियों की तरह उसमें से निकलने की चेष्टा की। स्वामित्व के अपने अधिकार को अनैतिक समझकर मैंने यह निर्णय किया कि जबतक मैं इन अधिकारों का पूर्णरूप से त्याग न कर लूंगा, तबतक इन अधिकारों का कम-से-कम उपभोग करूंगा और दूसरों को इस प्रकार जीवन व्यतीत करने दूंगा मानों मुझे ये अधिकार प्राप्त ही नहीं हैं। साथ-ही-साथ मैंने दूसरे स्वामियों के मन में भी यह धारणा बैठाने की सब तरह से चेष्टा की कि हमारे ये काल्पनिक अधिकार पाप और अमानुषिकता से भरे हुए हैं। स्वभावतः आजकल की दासता के सम्बन्ध में भी मैं यही कह सकता हूं। जबतक मैं उन समस्त अधिकारों का पूर्णरूप से परित्याग न कर दूं, जो मुझे रुपया और भूमि का स्वत्वाधिकारी होने के नाते मिले हैं और जो सैनिक बल-प्रयोग के सहारे टिके हुए हैं, तबतक मेरे लिए एक यही रास्ता है कि मैं अपने अधिकारों का कम-से-कम उपभोग करूं और साथ-ही-साथ इन कृत्रिम अधिकारों की अवैधता और अमानुषिकता को यथासम्भव दूसरों को समझाने की चेष्टा करूं। दासों की दासता में स्वामी के भागीदार होने का क्या अर्थ है ? यही कि वह दूसरों के श्रम

का उपभोग करता है, चाहे ऐसा करने का आधार उसके दासता-सम्बन्धी अधिकार हों चाहे उसके जमीन और रुपए-सम्बन्धी अधिकार।

इसलिए यदि कोई व्यक्ति वस्तुतः दासता को नापसन्द करता है और उसमें भागीदार होना नहीं चाहता, तो सबसे पहले उसे यह करना चाहिए कि वह दूसरों के श्रम का किसी प्रकार भी उपभोग न करे—न तो जमीन पर अधिकार करके, न सरकारी नौकरी के द्वारा और न रुपयों के द्वारा। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति दूसरों के श्रम-शोषण की प्रचलित युक्तियों का परित्याग कर दे तो उसके लिए यह अनिवार्य हो जायगा कि एक ओर तो वह अपनी आवश्यकताएं कम करे और दूसरी ओर स्वयं उन कामों को करने लगे जो पहले दूसरे लोग उसके लिए किया करते थे।

यह सरल और अनिवार्य निष्कर्ष मेरे जीवन के एक-एक कार्य में व्याप्त हो गया और उसने मेरे जीवन में तत्काल परिवर्तन करके मुझे उन नैतिक यातनाओं से मुक्त कर दिया जिनका अनुभव मुझे लोगों का दुःख और दुराचार देखकर हुआ था। इसके अतिरिक्त उसने तीनों कारणों को, जिन्होंने मेरे लिए निर्धनों की सहायता करना असम्भव कर दिया था और जिनका ज्ञान मुझे अपनी असफलता का हेतु ढूंढते समय हुआ था, निर्मूल कर दिया।

पहला कारण यह था कि लोग शहरों में ही खचाखच भर गए थे और गांवों का धन नगरों में खप रहा था। यदि हममें सरकारी नौकरी, जमींदारी या रुपए द्वारा दूसरे के श्रम का शोषण न करने की इच्छा भर उत्पन्न हो जाय और उसके फलस्वरूप यदि हममें अपनी आवश्यकता को अपनी ही पूरी शक्ति और योग्यता से पूर्ण करने की अभिलाषा भर जाग उठे तो कभी हमारे मस्तिष्क में गांवों को छोड़कर—जहां हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति सबसे सरलतापूर्वक हो सकती है—उन शहरों में जाने का विचार ही न उठे जहां प्रत्येक वस्तु किसी दूसरे के श्रम का प्रतिफल होती है और जहां सारे पदार्थ खरीदने पड़ते हैं। यदि ऐसा हो तो हम गावों में जरूरतमन्दों की सहायता करने में समर्थ हो सकते हैं और वहां हमें उस बेबसी की भावना का अनुभव नहीं करना पड़ेगा जिसका मुझे शहर में अपने नहीं बल्कि दूसरों के श्रम से निर्धनों की

सहायता करते समय अनुभव हुआ था।

दूसरा कारण था धनवानों का कंगालों से अलग होना। यदि हम सरकारी नौकरी, जमींदारी या रुपए द्वारा दूसरों के श्रम का शोषण करने की इच्छा न करें तो इतने से ही हम अपनी आवश्यकताएं आप पूर्ण करने के लिए विवश हो जायंगे और हमको श्रमजीवियों से विलग करनेवाली दीवाल आप-से-आप हट जायगी। तब हम मजदूरों के साथ घुल-मिलकर उनके कंधे-से-कंधा मिलाकर चलेंगे, जिसके फलस्वरूप उनकी सहायता करना हमारे लिए सम्भव हो जायगा।

तीसरा कारण था वह लज्जा-भाव जिसका प्रादुर्भाव मेरी इस चेतना के फलस्वरूप हुआ था कि जिस पैसे से मैं दूसरों की सहायता करना चाहता हूं उसका अधिपति बनना मेरे लिए पाप है। सरकारी नौकरी, जमींदारी या रुपए द्वारा दूसरों के श्रम-शोषण की इच्छा को त्यागने भर की देर है, फिर देखिएगा कि हमारे पास अलंकार उत्पन्न करनेवाला वह फालतू धन रहेगा ही नहीं जिसको मेरे पास देखकर बे-पैसेवाले लोग मेरे सामने ऐसी मांगें उपस्थित करने लगे थे जिनको पूर्ण करने में मैं असमर्थ था और जिनके फलस्वरूप मुझमें अपनी भूल की अनुभूति जागृत हुई थी।

: २३ :

दूसरों के श्रम का शोषण क्यों ?

मैंने देखा कि मनुष्य के दुःख और पतन का कारण यही है कि कुछ लोग दूसरों के दासता-पाश में बंधे हुए हैं। स्वभावतः मैं इस सरल निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि दूसरों की सहायता करना मुझे अभीष्ट है तो सबसे पहले मुझे चाहिए कि जिन दुःखों को मैं दूर करना चाहता हूं, भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति का कारण न बनूं, अर्थात् मानव को दास बनाने की क्रिया में भाग न लूं। किंतु इस क्रिया की ओर मेरे आकर्षित होने का कारण यह था कि बचपन से ही मुझे स्वयं अपने हाथों से काम न कर दूसरों के श्रम का उपयोग करने का अभ्यास पड़ गया था और मैं ऐसे समाज में रहता आया था और अब भी रहता हूं जो इस क्रिया का

केवल अभ्यस्त ही नहीं हो गया है बल्कि जो उसको हर प्रकार के धूर्तता-पूर्ण और भद्दे मिथ्याडम्बरों द्वारा उचित ठहराता है। अतः मैं इस सीधे-सादे नतीजे पर पहुंचा कि लोगों का दुःख और पतन से त्राण करने को मेरे लिए आवश्यक है कि मैं दूसरों के श्रम का कम-से-कम उपभोग करूं और स्वयं यथाशक्ति अधिक-से-अधिक कार्य करूं। लम्बा चक्कर काटने के बाद मैं अन्ततः उसी अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुंचा जिसको हजारों वर्ष पहले चीनियों ने इस कहावत में व्यक्त किया था—"यदि इस संसार में कोई एक व्यक्ति आलसी है तो निश्चय ही उसके परिणाम-स्वरूप कोई दूसरा आदमी भूखा मरता होगा।" मैं इस सरल और स्वभाविक परिणाम पर पहुंचा कि जिस थके हुए घोड़े की पीठ पर मैं सवार हूं उसके प्रति यदि मुझे सहनुभूति है और उसकी इस दशा के लिए मुझे वस्तुतः खेद है तो मेरा सबसे पहला कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि मैं उसकी पीठ पर से उतर पड़ूं और स्वयं अपने पैरों से चलने लगूं।

यह उत्तर—जिससे हमारी नैतिक भावनाओं को पूर्ण संतुष्टि मिलती है—मेरी आंखों के सामने स्पष्ट रूप से खड़ा था। वस्तुतः वह प्रत्येक व्यक्ति को बिलकुल साफ दिखाई देता रहता है, किंतु हम उसे देखकर भी नहीं देखते और इधर-उधर भटकते-फिरते हैं।

अपनी सामाजिक व्याधियों के उपचार के लिए हम चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं, सरकारी, सरकार-विरोधी, वैज्ञानिक और परोपकारी अंध-विश्वासों की दिशाओं में देखते हैं; किंतु जो वस्तु सबकी आंखों के सामने है उसे नहीं देखते।

हम लोग बंद कमरों में मल-त्याग करते हैं और चाहते हैं कि दूसरे लोग उन्हें साफ करें। फिर भी हम यह ढोंग रचते हैं कि हमें उनके लिए दुःख है और हम उनका काम आसान बनाना चाहते हैं। इतना ही नहीं इसके लिए हम नाना प्रकार की युक्तियां भी निकालते हैं; किंतु जो सबसे सरल उपाय है उसे नहीं करते; अर्थात् हम यह नहीं करते कि यदि हमें घर के भीतर ही मल-त्याग करना है तो हम उसे साफ करके स्वयं बाहर पहुंचा दें या निवृत्त ही बाहर जाकर हो।

जिसे अपने आस-पास के लोगों को देखकर सचमुच दुःख होता है,

उसके लिए एक बड़ी स्पष्ट, सरल और सीधी युक्ति है, और यही एकमात्र युक्ति है जिसकी सहायता से वह संसार में फैले हुए दुःख-दारिद्रय् को दूर कर सकता है और मन-ही-मन यह संतुष्टि अनुभव कर सकता है कि वह नैतिक रूप से जीवनयापन कर रहा है। यह वही युक्ति है जो जॉन बैपटिस्ट ने 'हमें हम क्या करें' प्रश्न के उत्तर में बतलाई थी और बाद को ईसा ने भी जिसका समर्थन किया था—एक से अधिक कोट अपने पास मत रखो और रुपए-पैसे को तो अपने निकट फटकने तक न दो; अर्थात् दूसरों के परिश्रम से लाभ न उठाओ और इसलिए सबसे पहले जितना भी हो सके अपने-आप काम करो।

कितनी सरल और स्पष्ट बात है यह ! किंतु यह सरल और स्पष्ट तभी है जब हमारी आवश्यकताएं भी सरल और स्पष्ट हों, जब हम स्वस्थ हों और सुस्ती तथा काहिली ने भीतर-ही-भीतर हमें बिलकुल चाट न लिया हो। मैं गांव में रहता हूं, भाड़ की छत[1] पर पड़ा रहता हूं और अपने पड़ोसी को, जिसपर मेरा कुछ कर्ज है, आदेश देता हूं—"लकड़ी काटकर लाओ और भाड़ में आग जलाओ।" यह स्पष्ट है कि मैं काहिल हूं और अपने पड़ोसी को उसके अपने काम से हटा रहा हूं। इसलिए अंततः मुझे लज्जा आयगी और इस प्रकार निरंतर पड़े-पड़े मैं उकता जाऊंगा और यदि मेरे पुट्ठों में दम होगा तथा मुझे काम करने की आदत होगी तो मैं स्वयं जाऊंगा और लकड़ी काट लाऊंगा।

किंतु विविध प्रकार की दासता का प्रलोभन बहुत दिनों से चला आ रहा है और उसके कारण अनेक कृत्रिम आवश्यकताएं उठ खड़ी हुई हैं। जो लोग न्यूनाधिक मात्रा में इन आवश्यकताओं के अभ्यस्त हैं उनका परस्पर सम्बन्ध घनिष्ठ हो गया है और पीढ़ियों से बिगड़ते-बिगड़ते लोग कुंठित हो गए हैं। इसके अतिरिक्त लोगों के सामने बड़े जटिल प्रलोभन हैं और विलासिता तथा आलस्य के पक्ष-समर्थन में बड़ी-बड़ी बातें ढूंढ

---

[1] रूसी किसानों के झोंपड़ों में ईंट की भाड़ इस तरह बनाई जाती है कि उससे झोंपड़ा भी गरम रहे और वह खाना बनाने का भी काम दे। उसकी चौरस छत पर सोने में बड़ा आराम मिलता है।

निकाली गई हैं । इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है कि जो मनुष्य आलसी व्यक्तियों से लदी हुई सीढ़ी के सबसे ऊपरवाले डंडे पर है उसके लिए अपने पाप को समझना उतना सरल नहीं जितना कि अपने पड़ोसी को भाड़ गरम करने की आज्ञा देनेवाले किसान के लिए है ।

जो लोग सबसे ऊपरवाली सीढ़ी पर होते हैं उनके लिए यह समझना बड़ा कठिन होता है कि उनका कर्त्तव्य क्या है । आलस्य की इस सीढ़ी पर ऊंचे खड़े होकर जब वे नीचे उस स्थान की ओर देखते हैं जहां जीवन-यापन के लिए उन्हें उतरना अनिवार्य है--यह जीवन पूर्णत: अच्छा भले ही न हो, फिर भी वह बिलकुल अमानुषिक नहीं होता--तो ऊंचाई के कारण उनका मस्तिष्क चकरा जाता है और इसीलिए यह साधारण तथा स्पष्ट सत्य उनको विचित्र प्रतीत होता है ।

जिस आदमी के पास दस नौकर, वर्दीदार चपरासी, साईस, रसोइया, चित्र तथा पियानो हैं उसे यह बात सचमुच विचित्र ही नहीं हास्यास्पद भी मालूम होगी कि प्रत्येक मनुष्य का यह सरलतम और सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वह अपना भोजन बनाने और अपनेको गरम रखने के लिए लकड़ी खुद काटे; अपने जूते और पैताबे, जिन्हें पहने-पहने ही वह लापरवाही के कारण धूल में चला गया है, स्वयं साफ करे; अपनी शारीरिक सफाई के लिए पानी स्वयं लाए और सफाई कर चुकने के बाद गंदे पानी को स्वयं ही फेंक भी आए । यहां मनुष्य से मेरा अभिप्राय किसी विशेष सत्पुरुष से नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्ति से है जो मनुष्य भर है और जानवर नहीं है ।

सत्य से दूर रहने के अतिरिक्त एक और भी कारण है जो मनुष्य को यह नहीं समझने देता कि जो कार्य मानवमात्र का सबसे सरल और सबसे अधिक स्वाभाविक कार्य है, उसे करना उसके लिए अनिवार्य है। वह कारण है धनी मनुष्य के जीवन की जटिलता और उसके चारों तरफ रहनेवाले लोगों के परस्पर सम्बन्धित स्वार्थ ।

आज सवेरे मैं उस दालान में गया जहां अंगीठियां जलाई जाती हैं । एक किसान उस अंगीठी को जला रहा था जिससे मेरे लड़के का कमरा गरम रहता है । मैं लड़के के कमरे में गया; वह तब भी सो रहा था ।

ग्यारह बज चुके थे और छुट्टी का दिन था। इसलिए बहाना बनाया जा सकता था कि पढ़ाई तो करनी नहीं है।

अट्ठारह साल का एक मोटे शरीरवाला छोकरा, जिसके डाढ़ी निकल आई थी और जिसने पिछली रात खूब डटकर खाना खाया था, ग्यारह बजे तक पड़ा सो रहा था। किंतु उसीकी उम्र का एक किसान सवेरे ही उठ बैठा था। अबतक वह बहुत-सा काम निबटा चुका था और इस समय दसवीं अंगीठी सुलगा रहा था, जबकि मेरा लड़का पड़ा सो रहा था। मेरे मन में विचार आया—"कितना अच्छा हो यदि इस किसान से उस हट्टे-कट्टे काहिल शरीर को गरमी पहुँचने के लिए अंगीठी न जलवाई जाय। किंतु तत्काल मुझे याद आया कि इस अंगीठी से रसोई बनानेवाली स्त्री का कमरा भी तो गरम होता है। उसकी आयु चालीस वर्ष की थी और रात को मेरे लड़के ने जो खाना खाया था उसे तैयार करने और फिर तश्तरियों को हटाने आदि में वह सवेरे तीन बजे तक लगी रही थी। फिर भी वह सवेरे सात बजे उठ बैठी थी। वह अपने लिए अंगीठी नहीं जला सकी थी, क्योंकि उसके पास समय ही नहीं था। किसान उसके लिए भी अंगीठी जला रहा था और उसके कारण उस काहिल लड़के को भी गरमी मिल रही थी।

यह सच है कि सब लोगों के हित एक दूसरे से बंधे होते हैं, किंतु थोड़े-से प्रयत्न से ही प्रत्येक व्यक्ति का अन्तःकरण यह बता देता है कि कौन मेहनत करता है और कौन आलसी है। यह बात केवल अन्तःकरण ही नहीं बतलाता, इसका सबसे स्पष्ट ज्ञान हमारी बहियों से होता है। मनुष्य जितना अधिक व्यय करता है, उतना ही अधिक वह दूसरों को अपने लिए कार्य करने को विवश करता है। इसके विपरीत, वह जितना कम खर्च करता है उतना ही अधिक वह स्वयं अपने हाथ-पैर चलाता है।

तो फिर उद्योग, सार्वजनिक हित के कार्यों और इन सबसे भयंकर वस्तु संस्कृति—कला तथा विज्ञान—के विकास का क्या होगा ?

: २४ :

दूसरों के रक्त से सनी हमारी रंगरलियां

पिछले साल[1] मार्च के महीने में मैं एक दिन संध्या समय कुछ देर से लौट रहा था। ज़ूबोव-सड़क से खामोवनी की गली में मुड़ते हुए मुझे वर्जिन्स मैदान के बर्फ पर कुछ चलती-फिरती काली-काली परछाइयां दिखलाई दीं। उस ओर मेरा ध्यान जाता भी नहीं, यदि गली के किनारे खड़े हुए सिपाही ने उन परछाइयों की ओर देखते हुए चिल्लाकर न कहा होता--

"वासिली ! तू उसे लाता क्यों नहीं ?"

"वह नहीं आती", उस ओर से एक आवाज आई और इसके बाद काली परछाइयां पुलिसवाले की ओर आने लगीं।

मैंने रुककर पुलिसवाले से पूछा कि क्या बात है ? उसने उत्तर दिया, "रज़हानोफ़ भवन से बदमाश लड़कियां पकड़कर लाए हैं और उन्हें थाने लिये जा रहे हैं। यह लड़की पीछे रह गई है, देखिए चलने का नाम ही नहीं लेती।"

भेड़ की खाल का कोट पहने एक चौकीदार उस लड़की को ला रहा था। वह आगे-आगे चल रही थी और चौकीदार उसे पीछे से ढकेल रहा था। हम सब—चौकीदार, पुलिसमैन और मैं--गरम कपड़े पहने हुए थे, किंतु उस लड़की के शरीर पर एक लम्बा फ्रॉक भर था। अंधेरे में मैं इतना ही मालूम कर सका कि उसका फ्रॉक बादामी रंग का था और उसने अपने सिर तथा गर्दन पर एक रूमाल लपेट रखा था। वह नाटी थी, जैसेकि भुक्खड़ लोग होते हैं। उसकी टांगें छोटी थीं और उसका शरीर बेडौल तरीके पर चौड़ा और भद्दा था।

पुलिसमैन ने चिल्लाकर कहा, "अरी, ओ शैतान की बच्ची ! तेरे लिए क्या हम यहां रात भर खड़े रहेंगे ? बढ़ती है आगे, या बताऊं तुझे ?"

उसकी बात से साफ मालूम पड़ रहा था कि वह थका हुआ है और उस स्त्री के मट्ठड़पन के कारण अधीर हो उठा है। स्त्री कुछ कदम आगे

---

[1] अर्थात् सन् १८८४।

चली और फिर रुक गई। बूढ़ा चौकीदार, जो एक अच्छा आदमी है और जिसे मैं जानता हूं, उसकी बांह पकड़कर खींचता हुआ बोला, "फिर रुकी तू ! अभी बताता हूं कि रुकना किसे कहते हैं। बढ़ आगे !"

उसने क्रोध का-सा भाव दिखलाया, जिसपर वह स्त्री लड़खड़ाई और कर्कश स्वर में बड़बड़ाने लगी। उसका स्वर बनावटी और फटे बांस-जैसा था।

वह बोली, "धक्के क्यों देते हो ? चल तो रही हूं।"

"सर्दी से ठिठुरकर मर जायगी," चौकीदार ने कहा।

"हम-जैसों को ठंड नहीं सताती। मेरे अंदर बहुत-सा गरम-गरम खून है।"

उसने यह बात हँसी में कही थी; किंतु लगी गाली-सी। हमारे घर के फाटक से थोड़ी ही दूर लैम्प के खम्भे के पास वह फिर रुकी और आंगन की लकड़ीवाली चहारदीवारी का सहारा लेकर झुकी—झुकी ही क्यों, लगभग गिर पड़ी—और अपनी गंदी ठंडी अंगुलियों से जेबों में कुछ टटोलने लगी। चौकीदार उसपर फिर गुर्राए; किंतु वह थोड़ी-सी बड़-बड़ाई भर और जेबें टटोलती रही। एक हाथ से उसने एक सिगरेट निकाली, जो मेहराब की तरह झुक गई थी और दूसरे हाथ से दियासलाई। मुझे उसके पास जाने में लज्जा मालूम हुई, इसलिए मैं रुक गया। किंतु खड़े होकर तमाशा देखते रहने में भी लज्जा मालूम देती थी। अंत में दृढ़ निश्चय करके मैं उसके पास गया। वह लकड़ी की चहारदीवारी से कंधा टेके झुकी खड़ी थी और उसपर रगड़-रगड़कर दियासलाई की तीलियों को जलाने की चेष्टा कर रही थी और जब वे नहीं जलती थीं तो उन्हें उठाकर फेंक देती थी। मैंने उसके चेहरे पर दृष्टि डाली। उसे निस्सन्देह पेटभर खाना मयस्सर नहीं होता था; किन्तु ऐसा लगता था कि वह जवानी पार कर चुकी है। मेरी आँखों में वह तीस साल की जंची। उसका चेहरा मटमैले रंग का था और उसकी आंखें छोटी, धुंधली और शराबियों-जैसी थीं। उसकी नाक गाँठदार और होठ टेढ़े थे, जिनके कोने से लार बह रही थी। उसके रूमाल से सूखे बालों का एक छोटा गुच्छा लटक रहा था। उसका शरीर लम्बा और

चपटा था और उसके हाथ-पैर छोटे थे। मैं उसके सामने खड़ा हो गया। मेरी ओर देखकर वह इस प्रकार मुसकराई मानों कहना चाहती थी— "मुझे पता है कि तुम क्या सोच रहे हो।"

मुझे ऐसा लगा कि मुझे उससे कुछ कहना है और मैंने यह दिखलाना चाहा कि मुझे उसपर दया आती है।

"क्या तुम्हारे मा-बाप जिन्दा है ?" मैंने पूछा।

वह एक कर्कश हँसी हँसी, फिर एकाएक रुक गई और अपनी भौहें तानकर मेरी ओर देखने लगी।

"तुम्हारे मा-बाप जिन्दा हैं ?" मैंने फिर पूछा।

वह कुछ ऐसे भाव से मुसकराई मानो कहना चाहती हो—"आपको भी क्या अजीब सवाल पूछने को मिला है !"

"मेरी मा है, लेकिन तुम्हें इससे क्या ?" वह बोली।

"तुम्हारी उम्र कितनी होगी ?"

"पन्द्रह से कुछ ऊपर," उसने तत्परता से कहा। स्पष्टतः वह इस प्रश्न का उत्तर देने की अभ्यस्त हो गई थी।

"चल, चल, तेरे साथ हम यहाँ ठंड में अकड़ जायंगे, तेरा नाश हो," पुलिसवाले ने चिल्लाकर कहा और स्त्री चहारदीवारी को छोड़कर लड़खड़ाती हुई आगे बढ़ी और झूमती-झामती खामोवनी की सड़क के रास्ते थाने की ओर चल दी। मैं फाटक पर से लौट आया और अन्दर पहुँचकर मैंने पूछा कि मेरी लड़कियाँ बाहर से लौट आईं या नहीं। पता चला कि वे एक पार्टी में गई थीं और वहाँ उन्होंने छककर मौज उड़ाई थी। वे वापस आ गई थीं और सो रही थीं।

दूसरे दिन सवेरे मैं कोतवाली जाना चाहता था, ताकि वहाँ जाकर मालूम करूँ कि पुलिसवालों ने उस बेचारी औरत के साथ क्या किया। मैं तड़के ही तैयार हो गया और जानेवाला ही था कि एक आदमी[1] मिलने आ गया। वह उच्च वर्ग के उन अभागों में से था जो अपनी

---

[1] **यह आदमी ए. पी. इवानोफ था, जो बीच-बीच में कई वर्ष तक टॉल्सटॉय के यहाँ नकलनवीस का काम कर चुका था।**

दुर्बलताओं के कारण अच्छी अवस्था से गिरकर गरीबी में फँस जाते है और जिनकी अवस्था कभी सुधरती और कभी बिगड़ती रहती है । उसे मैं तीन वर्ष से जानता था। इस बीच में वह कई बार अपना सब कुछ, यहाँतक कि तन के कपड़े भी, गिरवी रख चुका था। अभी कुछ ही दिन पहले भी उसको ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ा था और उन दिनों वह रात रज्हानोफ़-भवन की किसी कोठरी में काटता था और दिन में मेरे यहाँ काम करता था। मैं बाहर निकला ही था कि वह आ धमका और मेरी बात सुने बिना ही बताने लगा कि पिछली रात रज्हानोफ़-भवन में उसके साथ क्या बीती थी । अभी बात आधी भी नहीं हो पाई थी कि वह बूढ़ा, जो अपने जीवन के सब उतार-चढ़ाव देख चुका था, फूट-फूटकर रोने लगा और दीवाल की ओर मुंह करके खड़ा हो गया । उसने जो बात कही वह बिलकुल सत्य थी। बाद में मैंने स्वयं रज्हानोफ़-भवन जाकर इसकी जांच-पड़ताल की और वहां मुझे कई नई बातें मालूम हुईं, जिनको में उसकी बताई हुई गाथा के ही साथ जोड़ दूँगा। उसने जो कहानी सुनाई वह इस प्रकार थी—

"उस सराय के निचले हिस्से के ३२ नम्बर के कमरे में, जहाँ मेरा मित्र सोया करता था, बहुत-से स्त्री-पुरुष अस्थायी रूप से रहा करते थे। वे पांच कोपेक पर एक-दूसरे के साथ सो जाया करते थे। उनमें एक धोबिन भी थी जिसकी आयु लगभग ३० वर्ष की थी। उसके बाल हलके भूरे रंग के थे और वह शांत तथा अच्छे आचार-व्यवहार की थी; किन्तु बीमार मालूम पड़ती थी। उस कमरे की मालकिन एक मल्लाह की रखैल थी। गरमियों में उसका प्रेमी नाव चलाया करता था और सर्दियों में वे यात्रियों को रातभर के लिए एक खाट ३ कोपेक में बिना तकिए के और ५ कोपेक में मय तकिए के किराये पर उठाकर अपनी जीविका चलाते थे। धोबिन को वहाँ रहते कई महीने हो गए थे और वह शांत स्वभाव की थी। किन्तु पिछले कुछ दिनों से लोग उसे नफरत करने लगे थे; क्योंकि उसकी खांसी के कारण लोग सो नहीं पाते थे। विशेष रूप से अस्सी वर्ष की एक सनकी-सी बुढ़िया को, जो वहाँ स्थायी रूप से रहा करती थी,उस धोबिन के प्रति बड़ी अश्रद्धा हो गई थी और वह उससे नींद

में विघ्न डालने तथा रातभर भेड़ की तरह खांसते रहने लिए बराबर लड़ती-झगड़ती रहती थी। धोबिन चुप रहती थी। उसपर मकान का किराया चढ़ गया था और वह अपनेको दोषी समझती थी; इसलिए बेचारी को चुप रहना पड़ता था। वह दिन-पर-दिन कमजोर होती जा रही थी और काम पर कम जा पाती थी, इसीलिए वह मकान-मालकिन का किराया नहीं दे सकी थी। पिछले सप्ताह वह काम पर बिलकुल नहीं जा पाई थी और उसकी खांसी से सब लोग तंग आ गए थे, विशेष रूप से वह बुढ़िया जो स्वयं काम पर नहीं जाती थी। चार दिन हुए मालकिन ने उससे मकान खाली करने को कह दिया था। ६० कोपेक[1] उसपर पहले से ही उधार थे, जो उसने अभी नहीं दिये थे और जिनके मिलने की आशा भी नहीं रह गई थी। सोने के सारे तख्ते घिरे हुए थे और दूसरे किरायेदार धोबिन की खांसी की शिकायत करते थे।

मालकिन ने जब धोबिन से कहा कि या तो बाकी किराया दे दे या यहाँ से चलती बन, तो बुढ़िया बड़ी प्रसन्न हुई और उसने धोबिन को आंगन में ला खड़ा किया। धोबिन चली गई, किन्तु घण्टेभर बाद वापस आ गई और मालकिन उसे फिर से निकाल बाहर करने की निर्दयता न दिखा सकी। दो दिन तो धोबिन वहीं रही और बराबर गिड़गिड़ाती रही—"मैं कहां जाऊँ ?" लेकिन तीसरे दिन मालकिन का प्रेमी, जो मास्को का रहनेवाला था और शहरों के कायदे-कानून जानता था, पुलिस को बुला लाया। तलवार और लाल डोरी में बंधी पिस्तौल से एक पुलिस-वाला सराय में आया और उसने शांति और सभ्यता के साथ धोबिन को निकाल बाहर किया।

वह मार्च का महीना था। दिन साफ था और सूर्य चमक रहा था, किन्तु पाला पड़ रहा था। बर्फ गल-गलकर नालियों में बह रहा था और चौकीदार सड़कों पर जमे हुए बर्फ को तोड़ रहे थे। बर्फ पर चलने-वाली बिना पहियों की गाड़ियां कड़े बर्फ से टकराकर झटके खाती थीं और कभी-कभी नंगे पत्थरों से लग जाने के कारण उनमें से उल्लू के बोलने

---

[1] लगभग १३ आने।

की-सी आवाज होती थी। धोबिन ढाल के उस ओर गई जहाँ धूप फैली हुई थी और गिरजाघर पहुँचकर उसके बरामदे में धूप में बैठ गई। किंतु जब सूर्य मकान के पीछे डूबने लगा और गड़हियों में फिर बर्फ जमने लगा तो वह ठंड के मारे घबराई। वह उठी और मानों अपने शरीर के बोझ को खींचती हुई आगे बढ़ी। परन्तु किस ओर? घर, उसी एकमात्र घर की ओर जहाँ वह अभी तक रहा करती थी थी। ठहर-ठहरकर दम लेती हुई जब वह यहां पहुंची तो अंधेरा होने लगा था। फाटक में घुसकर वह अन्दर की ओर मुड़ी ही थी कि उसका पैर फिसल गया और वह चीख मारकर गिर पड़ी।

पहले एक आदमी उधर से निकला और फिर दूसरा। उन्होंने सोचा, पिये हुए है। एक और आदमी निकला और उससे टकरा गया। तब वह दरवान से बोला, "कोई औरत शराब पिये फाटक में पड़ी है। मैं तो उससे टकरा गया था और मेरा सिर फूटते-फूटते बचा। उसे यहाँ से हट-वाते क्यों नहीं ?"

दरबान उसको देखने गया, लेकिन धोबिन मर चुकी थी।

यही वह कहानी है जो मित्र ने मुझे सुनाई। आप सोचेंगे कि शायद मैं उस पन्द्रह वर्षीय वेश्या से अपनी मुलाकात की बात और धोबिन की कहानी छांटकर एक साथ रख रहा हूं; किन्तु आप ऐसा न सोचें। ये दोनों घटनाएं बिलकुल इसी तरह एक ही रात में घटीं। तारीख तो मुझे ठीक याद नहीं, लेकिन महीना मार्च सन् १८८४ का था।

अपने मित्र का वृत्तान्त सुनकर मैं कोतवाली गया। मेरा विचार वहाँ से रज़हानोफ़-भवन जाकर धोबिन के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने का था। मौसम अच्छा था, धूप खिली हुई थी, साए में रात को पड़े हुए बर्फ के नीचे पानी फिर से बहता हुआ दिखलाई देने लगा था और ख़ामो-वनी के चौक में कड़ी धूप के कारण बर्फ पिघल-पिघलकर बह रहा था। नदी भी शोर करती हुई बह रही थी। दूसरे पार बाग के वृक्ष नीले-नीले दिखलाई दे रहे थे, भूरी चिड़ियां जो सर्दियों में दिखलाई भी नहीं पड़तीं, अपने कलरव से सबका ध्यान आकर्षित कर रही थीं और ऐसा मालूम पड़ता था कि मनुष्य भी इस समय आनन्द लूटना चाहता है, किंतु

दुर्भाग्यवश उसके सिर पर अनेक चिंताएं सवार हैं। गिरजाघर में घंटे बज रहे थे और इन मिश्रित ध्वनियों की पृष्ठ-भूमि में बैरकों से तोपों की आवाज, गोलियों की सरसराहट और उनका निशानों पर पड़ने का धमाका सुनाई दे रहा था।

मैं कोतवाली पहुंचा। वहां कई सशस्त्र व्यक्ति थे, जो मुझे अपने मुखिया के पास ले गए। वह भी तलवार तथा पिस्तौल से लैस था और अपने सामने खड़े हुए एक फटे-हाल थरथर कांपते हुए बूढ़े के विषय में कुछ आदेश दे रहा था। वह बूढ़ा इतना दुर्बल था कि अपने से पूछे गए प्रश्नों का ठीक से उत्तर भी नहीं दे पा रहा था। उधर का काम निबटा-कर मुखिया ने मेरी ओर ध्यान दिया। मैंने उससे कलवाली लड़की के बारे में पूछा। पहले तो वह मेरी बातें ध्यानपूर्वक सुनता रहा, बाद में यह सोचकर मुसकराया कि मुझे नियमों का कुछ ज्ञान नहीं और यह तक पता नहीं कि ऐसी स्त्रियां कोतवाली क्यों ले जाई[1] जाती हैं। उसकी मुसकराहट का एक विशेष कारण मेरा उस लड़की की अल्पवयस्कता पर आश्चर्यचकित होना था। "इसमें आश्चर्य की क्या बात है? यहां तो बारह-बारह साल तक की छोकरियां आती हैं और तेरह तथा चौदह साल की छोकरियों की तो गिनती ही नहीं है," उसने आह्लादपूर्वक कहा।

कलवाली लड़की के बारे में मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने बत-लाया कि शायद वह कमेटी में भेज दी गई है (जहांतक मुझे याद पड़ता है उसने यही कहा था)। जब मैंने उससे पूछा कि लड़की रात को कहां रही तो उसने कुछ ऐसा ही अनिश्चित-सा उत्तर दे दिया। मैं जिस लड़की के सम्बन्ध में पूछ रहा था उसकी उसे कुछ विशेष याद नहीं थी। वहां तो प्रतिदिन ऐसी अनेक लड़कियां आया करती थीं।

रज़हानोफ़-भवन के ३२ नम्बर के कमरे में पहुँचने पर मैंने देखा कि उस मरी हुई धोबिन की आत्मा की शांति के लिए एक पादरी मृत शरीर के पास बैठा हुआ बाइबिल के भजन पढ़ रहा है। वह उठाकर उस तख्ते

---

[1] **वेश्याएं वहां डाक्टरी परीक्षा के लिए ले जाई जाती हैं।**

पर लिटा दी गई थी, जिसपर वह सोया करती थी और वहां के किरायेदारों ने, जो सबके सब बिलकुल गरीब थे, आपस में चंदा करके पूजा-पाठ और क्रिया-कर्म के व्यय के लिए काफी रुपया इकट्ठा कर लिया था और बूढ़ी स्त्रियों ने उसे कपड़े पहनाकर कफन के बक्स में लिटा दिया था। धुंधले प्रकाश में पादरी कुछ पढ़ रहा था और लबादा ओढ़े हुए एक स्त्री मोमबत्ती लिये खड़ी थी। इसी प्रकार की दूसरी मोमबत्ती लिये एक आदमी (मुझे कहना चाहिए शरीफ आदमी) खड़ा था। वह अच्छे कालरवाला एक ओवरकोट, चमकीले जूते और कलफ़दार कमीज पहने था। वह उस धोबिन का भाई था। सरायवालों ने उसका पता लगाकर उसे बुला लिया था।

मृत स्त्री के पास से होता हुआ मैं मकान की मालकिन के पास गया और उसके विषय में पूछने लगा। मेरे प्रश्नों से वह डर गई। उसको भय हुआ कि कहीं उसपर कोई अभियोग न लगा दिया जाय; किंतु थोड़ी देर बाद वह खुलकर बोलने लगी और उसने मुझे सब कुछ बता दिया। लौटते समय मैंने मृत स्त्री की ओर देखा। वैसे तो सभी मृत शरीरों में एक सुन्दरता होती है, परन्तु कफन में लिपटी हुई धोबिन तो विशेष रूप से सुन्दर और आकर्षक जान पड़ती थी। उसका चेहरा स्वच्छ और पीला था, उसकी बड़ी-बड़ी आंखें बंद थीं, गाल बैठे हुए थे और उसके उन्नत ललाट पर सन के समान मुलायम बाल पड़े थे; चेहरा थका हुआ किंतु सदय था और उसपर दुःख नहीं बल्कि आश्चर्य की रेखा खिंची हुई थी। निश्चय ही जब जीवित प्राणी देखकर भी नहीं देखते, तो मृतकों को आश्चर्य नहीं तो और क्या हो।

जिस दिन मैंने यह घटना लिखी उसी दिन मास्को में एक बड़ा नाच था।

उस दिन शाम को मैं घर से ८ बजे के बाद निकला। मेरे घर के चारों ओर कारखाने हैं और जब मैं घर से निकला तो कारखाने की सीटी बज चुकी थी और एक सप्ताह के सतत कार्य के पश्चात् लोगों को एक दिन की छुट्टी मिली थी।

मैं मजदूरों में से होकर गुजरा और मेरे पास से होकर बहुत-से ऐसे

मजदूर निकले जो शराब की भट्टियों और सरायों की तरफ जा रहे थे। बहुत-से तो पहले ही से पीकर धुत्त हो रहे थे और बहुतों ने अपने साथ औरतों ले रखी थीं।

मैं कारखानों के बीच रहता हूं। प्रतिदिन सवेरे पांच बजे पहले एक, फिर दूसरी, फिर तीसरी और इस तरह दसियों सीटियों की दूर-दूर से आवाज आती है, जो इस बात की द्योतक होती है कि स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों का काम शुरू हो गया है। ८ बजे सीटियां फिर बजती हैं और आध घंटे का विश्राम होता है। १२ बजे तीसरी सीटी होती है, जबकि खाने के लिए एक घंटे की छुट्टी होती है। चौथी सीटी शाम को ८ बजे बजती है और काम बन्द हो जाता है।

यह एक विचित्र बात है कि मेरे पास के तीनों कारखानों में विशेष रूप से नाच का सामान ही बनता है। सबसे पासवाले कारखानों में मोज़े तैयार होते हैं, दूसरे में रेशमी सामान और तीसरे में इत्र तथा पोमेड।

सम्भव है कि इन सीटियों को सुनकर अधिकांश लोगों के मन में समय के अतिरिक्त और किसी दूसरी बात का ध्यान न आए और वे कह उठें—"अरे देखो, सीटी बज गई, मेरे टहलने का समय हो गया।" किन्तु यह भी सम्भव है कि कुछ व्यक्तियों को ये सीटियां अपने पीछे छिपी हुई वास्तविकता की अनुभूति कराएं और बताएं कि सवेरे ५ बजे-वाली सीटी का अर्थ यह है कि रातभर नीचे की सीली हुई कोठरियों से प्रायः एक साथ सोनेवाले स्त्री-पुरुष झुटपुटे ही आकर उन कारखानों की ओर भागे जा रहे हैं, जहां मशीनें आलसियों की तरह पड़ी हुई हैं और वहां वे अपने-अपने काम की जगह पर बैठ रहे हैं। उन्हें इन कामों का कोई अन्त दिखलाई नहीं पड़ता, न इनमें उन्हें अपने लिए कोई उपयोगिता ही दृष्टिगत होती। इसी तरह वे काम करते हैं—अक्सर गरमी, उमस और गन्दगी से भरे हुए कमरों में वे प्रतिदिन बारह-बारह घंटे और इससे भी अधिक देर तक काम करते हैं। इस बीच उन्हें विश्राम का बहुत ही कम अवकाश मिलता है। रात में वे सोते हैं और सवेरा होते ही उठ पड़ते हैं और फिर बार-बार वही काम करते हैं जिसका

उनके लिए कोई अर्थ नहीं होता और जो उन्हें केवल पेट की ज्वाला बुझाने के लिए करना पड़ता है।

इस तरह सप्ताह-पर-सप्ताह बीत जाते हैं और बीच में एकाध दिन की छुट्टी के अलावा मजदूरों का जीवन ऐसे ही चलता रहता है। आज यहां मैंने इसी तरह की एक छुट्टी मनाने के लिए मजदूरों को बाहर निकलते देखा। वे लोग सड़कों पर चक्कर लगा रहे हैं। चारों ओर सराय, शराबघर और स्त्रियां हैं। नशे में चूर होकर वे एक दूसरे के साथ धक्का-मुक्की करते-फिरते हैं और अपने साथ वैसी लड़कियां लिये रहते हैं जैसी कि कल पुलिस थाने में भेजी गई थी। वे बर्फ पर चलने-वाली गाड़ियां किराए पर लेकर या पैदल ही एक-दूसरे को गालियां देते हुए और न जाने क्या-क्या बकते हुए लड़खड़ाते पैरों से सराय-सराय घूमते हैं। पहले ऐसे मजदूरों को आते-जाते देखकर मैं उनसे जानबूझकर बचता था और उन्हें बुरा भी समझता था। किन्तु जब से मैं कारखानों के भोंपू के प्रतिदिन बजने का अर्थ समझ गया हूं तब से उलटा मुझे यह आश्चर्य होने लगा है कि कारखानों में काम करनेवाले ये मर्द वैसे ही मक्कार क्यों नहीं बन जाते जैसे कि मास्को में भरे पड़े हैं और ये स्त्रियां उसी छोकरी जैसी क्यों नहीं हो जातीं जिसे मैंने अपने घर के पास देखा था।

इस तरह मैं घूम-फिरकर इन मजदूरों को लगभग ११ बजे तक सड़कों पर गुल-गपाड़ा करते देखता रहा। इसके बाद उनका ऊधम धीमा पड़ने लगा। सड़कों पर थोड़े-से शराबी-ही रह गए और इधर-उधर कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष भी दिखाई दिए जो पकड़कर कोतवाली ले जाए जा रहे थे। उसके बाद चारों तरफ से गाड़ियां आती दिखलाई देने लगीं।

सबकी-सब गाड़ियां एक ही दिशा में जा रही थीं। कोचबक्स पर सुन्दर कपड़े पहने हुए और टोपों में एक विशेष प्रकार का फूल लगाए हुए कोचवान और दरबान बैठे हुए थे। साजबाज से सजे हृष्टपुष्ट घोड़े बर्फ पर १४ मील प्रति घंटे की गति से दौड़े जा रहे थे और गाड़ियों में गरम लबादा पहने हुए महिलाएं अपने बालों में लगे हुए फूलों और दूसरी शृंगार-सामग्रियों को सावधानी के साथ सम्हाले बैठी थीं। सभी

पदार्थ—घोड़ों की जोतों, गाड़ियों, रबड़-टायरों और कोचवानों के गरम कोटों के कपड़े से लेकर मोजों, जूतों, फूलों, मखमल, दस्तानों और इत्र तक—उन्हीं लोगों के बनाए हुए थे जिनमें से कुछ शराब पीकर अपनी गन्दी कोठरियों में तख्तों पर औंधे पड़े थे, कुछ सरायों में वेश्याओं के साथ लेटे थे और कुछ पुलिस चौकियों में बन्द थे। उनके पास से घोड़ों और गाड़ियों में चढ़कर—जो वस्तुतः उन मजदूरों के ही हैं—नाच में जानेवाले लोग गुजर रहे थे। फिर भी उनकी खोपड़ी में यह बात नहीं घुसती थी कि जिस नाच में वे जा रहे थे उसका उन शराबियों से भी कोई सम्बन्ध है जिनको उनके कोचवान डांटते चलते थे।

ये लोग नाच में जाकर खूब आनन्द लूटते हैं। उनका अंतःकरण शांत होता है और उन्हें पूर्ण विश्वास होता है कि वे जो कुछ कर रहे हैं उसमें कोई बुराई नहीं बल्कि कुछ अच्छाई ही है।

आनन्द लूटते हैं! हां, रात के ११ बजे से सवेरे ६ बजे तक आनन्द लूटते हैं, जबकि सरायों में लोग भूखे पेट करवटें बदलते हैं और कुछ लोग उस धोबिन की तरह अपनी अंतिम घड़ियां गिनते हैं।

और यह आनन्द होता कैसा है? विवाहित और कुमारी लड़कियां अपनी छातियां खोले और कृत्रिम रूप से नितम्बों को ऊंचा किये अपने शरीर का ऐसा भद्दा प्रदर्शन करती हैं जैसा सुशील कन्याएं या स्त्रियां सारे संसार के राज्य के बदले में भी पुरुषों के सामने करना पसंद नहीं करेंगी। उस अर्द्धनग्न अवस्था में, खुली व उभरी हुई छातियों और कंधों तक नंगी बाहों के साथ, ये कन्याएं और स्त्रियां, जिनकी शोभा सदा से ही लज्जा रही है, पीछे से फूली हुई ऐसी पोशाक पहने जिससे नितम्ब खूब कस जाते हैं, तीव्रतम प्रकाश में अपरिचित पुरुषों के सामने आती हैं। ये पुरुष भी ऐसे ही अनुचित ढंग से कसे हुए कपड़े पहने होते हैं और स्त्रियां उनका संगीत की तान के साथ आलिंगन करती हैं और घूम-घूमकर नाचती हैं। बूढ़ी स्त्रियां भी प्रायः युवतियों की ही भांति शरीर खोले बैठी-बैठी तमाशा देखती हैं और बड़े आनन्द से स्वादिष्ट पदार्थ खाती पीती हैं। बूढ़े आदमी भी ऐसा ही करते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यह सब लीला रात को ही होती है, जब साधारण जनता सोती रहती

है और इस कांड को नहीं देखती। किंतु ऐसा आमोम-प्रमोद छिपाने के अभिप्राय से नहीं किया जाता; आनन्द लूटनेवाले तो समझते हैं कि ऐसी कोई बात ही नहीं है जिसे छिपाने की आवश्यकता हो। वे सोचते हैं कि जो कुछ वे करते हैं वह बड़ा अच्छा है और उनके आमोद-प्रमोद से, जिसमें सहस्रों व्यक्तियों के यंत्रणापूर्ण श्रम का खून किया जाता है, न केवल किसीको हानि नहीं पहुँचती, बल्कि उलटे गरीबों को रोटी मिलती है।

मान लिया कि नाच में बड़ा आनन्द आता है, किंतु यह आनन्द आता कहां से है ? जब हम आपस में किसी व्यक्ति को क्षुधा-पीड़ित या ठंड से ठिठुरते देखते हैं तो हमें आनन्द मनाने में लज्जा आती है और जबतक उसकी ये दोनों पीड़ाएं शांत नहीं कर दी जातीं तबतक हम प्रसन्न नहीं हो पाते और हमारी समझ में नहीं आता कि जिन वस्तुओं से दूसरों को कष्ट होता है उनसे लोग अपना मनोरंजन कैसे कर लेते हैं। इसी प्रकार जब हम कुछ निर्दय शैतान लड़कों को अधचिरी खपच्ची में कुत्ते की दुम दबाकर प्रसन्न होते देखते हैं तब हमें यह अच्छा नहीं लगता और समझ में नहीं आता कि ऐसी शरारत में लड़कों को क्या मजा आता है ?

तब फिर क्या कारण है कि अपने इन आमोद-प्रमोदों में हम अंधे बन जाते हैं और उस चिरी खपच्ची को नहीं देख पाते जिससे हम उन लोगों की दुम को दबाते हैं जो हमारे मनोविनोद के कारण पीड़ा पाते हैं?

डेढ़-डेढ़ सौ रूबल की कीमती पोशाक पहने, शान से गाड़ी में बैठी हुई, नाच में जानेवाली इन स्त्रियों में से एक भी ऐसी नहीं जिसका जन्म नाचघर या किसी फैशनेबिल पोशाक बनानेवाली के घर में हुआ हो। उनमें से प्रत्येक देहात में रह चुकी है, किसानों से परिचित है और जानती है कि उसकी अपनी धाया अथवा अंगरक्षिका के बाप-भाई गरीब हैं और उनके लम्बे तथा परिश्रमी जीवन की साध ही यह है कि वे किसी तरह डेढ़ सौ रूबल बचाकर झोंपड़ा बना लें। वह इन सब बातों को जानती है। तो फिर वह कैसे आनन्द मना सकती है जबकि उसे पता है कि उसने अपने अर्द्धनग्न शरीर पर वह झोंपड़ा पहन रखा है जो उसकी अच्छी दासी के भाई के जीवन का स्वप्न है ? मानलो कि उसका ध्यान इस बात

की ओर गया ही नहीं। फिर भी यह तो उसे मालूम ही होना चाहिए कि मखमल, रेशम, मिठाइयां, फूल, लैस और पोशाकें अपने-आप पैदा नहीं होतीं, बल्कि मनुष्यों द्वारा ही बनाई जाती हैं। साथ-ही-साथ उसे इस बात का भी ज्ञान होना अनिवार्य है कि इन वस्तुओं को कैसे आदमी बनाते हैं, किस स्थिति में बनाते हैं और क्यों बनाते हैं। वह इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं हो सकती कि जिस दर्जिन को उसने डांटा था उसने उसके कपड़े प्रेमवश होकर ही लिये हैं और इसी प्रकार लैस, फूल और मखमल को भी लोगों ने अपनी आवश्यकताओं से बाध्य होने पर ही बनाया है। किन्तु कदाचित उसकी आंखें इतनी धुँधली हो गई हैं कि वह इतनी स्पष्ट बातें भी नहीं देख पाती। फिर भी वह यह जाने बिना कैसे रह सकती है कि उसके कारण पांच-छः आदमियों—बूढ़े, भले और प्रायः दुर्बल दरबानों और नौकरानियों—को नींद नहीं नसीब हुई है और वे कष्ट उठा रहे हैं? उसने उनके क्लान्त, निष्प्रभ चेहरे तो देखे ही हैं! उसे यह तो मालूम ही है कि रात बड़े जोरों का पाला पड़ रहा था और उस पाले में बूढ़ा कोचवान सारी रात कोचबक्स पर बैठा रहा था! किन्तु मैं जानता हूं कि रंगरलियाँ मनानेवाली ये स्त्रियां सचमुच ही इन बातों पर ध्यान नहीं देतीं और यदि नाच की मोह-निद्रा के कारण विवाहित युवतियां और कुमारियां यह सब नहीं देख पातीं तो उन्हें दोषी नहीं समझना चाहिए। वे बेचारी तो वही करती हैं जो उनके बड़े-बूढ़े उनके लिए ठीक समझते हैं। किन्तु क्या कोई बता सकता है कि इन बड़े-बूढ़ों की इस निर्दयता का रहस्य क्या है?

बड़े-बूढ़े तो सदा एक ही उत्तर देते हैं। वे कहते हैं—"हम किसी को विवश नहीं करते। हम तो सारी चीजें पैसे देकर खरीदते हैं और पैसे देकर ही दासियों व कोचवानों से काम कराते हैं; खरीदने और भाड़े पर आदमियों को रखने में कोई बुराई नहीं; हम किसीको मजबूर नहीं करते हम तो उनको भाड़े पर रखते हैं; इसमें बुराई क्या है?"

कुछ दिन हुए मैं अपने एक परिचित से मिलने गया। पहले कमरे से गुजरते समय मैं मेज के पास दो स्त्रियों को बैठे देखकर अचम्भे में रह गया, क्योंकि मैं जानता था कि वह आदमी अविवाहित है। ३० साल की

एक दुबली-पतली पीले रंग की बूढ़ी-सी स्त्री सिर पर रूमाल बांधे मेज के नीचे अपने हाथों और अंगुलियों से जल्दी-जल्दी कुछ कर रही थी और इस तरह झटके के साथ हिल रही थी जैसे उसे दौरा आ रहा हो। उसके पास ही एक छोटी लड़की बैठी थी। वह भी कुछ काम कर रही और उसी प्रकार हिल रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि दोनों-की-दोनों धनुषटंकार रोग से पीड़ित हैं। मैंने उनके पास जाकर देखा कि वे क्या कर रही हैं ? उन्होंने मुझपर दृष्टि डाली और फिर वे उसी तन्मयता के साथ अपने काम में लग गईं। उनके सामने तमाखू और सिगरेट के कागजों का ढेर था। वे सिगरेटें बना रही थीं। औरत तमाखू को हाथों से मलकर मशीन से कागज के खोल में दबाती और लड़की की तरफ फेंक देती थी। लड़की सिगरेट पर कागज लपेटती और उसमें एक डांट-सी वस्तु ठूंसने के बाद उसे एक तरफ फेंक देती थी और फिर दूसरी सिगरेट ले लेती थी। यह काम इतनी तेजी से और एकाग्रता के साथ हो रहा था कि जिसने स्वयं अपनी आंखों से न देखा हो उसे वर्णन द्वारा समझना असम्भव है। मैंने उनकी तेजी पर आश्चर्य प्रगट किया, जिसके उत्तर में औरत ने कहा—"चौदह वर्ष से यही करती आ रही हूं।"

"क्या कुछ मुश्किल काम है ?"

"हां, छाती दुखती और दम घुटने लगता है।"

सच पूछिए तो उसे यह कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। यह तो उस पर और उस छोटी लड़की पर दृष्टि डालते ही पता चल जाता था। लड़की दो वर्ष से यह काम कर रही थी और उसको काम करते देखकर कोई भी कह सकता था कि हृष्टपुष्ट होते हुए भी उसका स्वास्थ्य अब गिरने लगा है। मेरा मित्र एक दयालु और उदार हृदय पुरुष था। उसने उन्हें सिगरेट बनाने के लिए नौकर रख छोड़ा था और एक हजार सिगरेट बनाने के लिए २ रूबल ५० कोपेक दिया करता था। उसके पास रुपया है, जो वह उन्हें काम कराकर देता है। इसमें क्या बुराई है ? वह लगभग १२ बजे सोकर उठता है, शाम के छः बजे से रात के २ बजे तक ताश खेलता या पियानो बजाता है, स्वादिष्ट भोजन और मिठाइयां उड़ाता है और दूसरे लोग उसके लिए सब काम करते हैं।

उसने अब एक नया शौक पैदा कर लिया है—सिगरेट पीना। मुझे याद है कि उसे यह लत कब पड़ी थी।

हम अपने सामने एक स्त्री और एक लड़की का उदाहरण देखते हैं, जो अपनेको मशीन बनाकर भी कठिनाई से गुजाराभर कर पाती हैं, जो अपना सारा जीवन तमाखू की ही सांस लेने में बिता देती हैं और इस प्रकार अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश कर लेती हैं। दूसरी ओर हमारे मित्र का उदाहरण है। उसके पास धन है, जो उसने स्वयं नहीं कमाया है और वह अपने हाथों सिगरेट बनाने की अपेक्षा ताश खेलना अधिक पसन्द करता है। वह इन स्त्रियों को इसी शर्त पर रुपया देता है कि वे उसके लिए सिगरेटें बनाती रहें और इसी प्रकार सदा दयनीय जीवन बिताती रहें।

मैं सफाई-पसन्द हूं और अपना रुपया एक धोबिन को केवल इस शर्त पर देता हूं कि वह मेरे उन कपड़ों को धोया करे जिन्हें मैं दिन में दो बार बदलता हूं। इसी काम में उस बेचारी की सारी शक्ति खप गई और वह मर गई।

"इसमें बुराई क्या है ? लोग तो खरीदारी और दूसरों को नौकर रखने का काम करते ही रहेंगे; मैं चाहें करूँ या न करूँ। लोग तो दूसरों से मखमल और मिठाइयां बनवाते और खरीदते ही रहेंगे, मैं चाहे ऐसा न भी करूँ। तो फिर जब ऐसी ही व्यवस्था है तो मैं ही क्यों अपनेको मखमल, मिठाई, सिगरेट और सफेद कपड़ों से वंचित रखूं ?"—प्रायः, या यों कहिए कि करीब-करीब हमेशा, मैं यही तर्क सुना करता हूँ। यह वैसा ही तर्क है जैसा विनाश करने पर तुली हुई कोई उन्मत्त भीड़ किया करती है। ऐसे ही तर्क से प्रेरित होकर एक कुत्ता दूसरे कुत्ते पर आक्रमण करता है और उसे मार गिराता है और उसके झुंड के दूसरे कुत्ते उसपर झपटकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। "जब एक बार ऐसी व्यवस्था आरम्भ हो गई और उसके फलस्वरूप दूसरों को कुछ क्षति भी हो चुकी है तो मैं भी उसमें हिस्सा क्यों न लूं ? इससे क्या लाभ कि मैं गंदी कमीज पहनूं और अपने लिए स्वयं सिगरेटें बनाऊं ? क्या इससे किसीको कुछ लाभ होगा ?" ऐसे प्रश्न लोग अपनी सफाई देते हुए करते

हैं। यदि हम सत्य से इतनी दूर न जा पड़े होते तो ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हुए भी हमें लज्जा आती, किन्तु हम इतने चक्करों में फँसे हुए हैं कि यह प्रश्न हमको स्वाभाविक जान पड़ता है और यद्यपि इसका उत्तर देने में लज्जा आती है, तथापि उत्तर देना अनिवार्य है।

यदि मैं अपने कपड़े प्रतिदिन न बदलकर हफ्तेभर बाद बदलूं और अपनी सिगरेटें अपने आप बनालूं या सिगरेट पीना बिल्कुल छोड़ भी दूं तो क्या अन्तर पड़ेगा ?

अन्तर यह पड़ेगा कि कुछ धोबिनों और कुछ सिगरेट बनानेवालों को अपनी शक्ति का क्षय कम करना पड़ेगा और जो रुपया मैं पहले धुलाई या सिगरेट बनाई के रूप में देता वही रुपया अब मैं उस धोबिन या किसी दूसरी धोबिन को और उन मजदूरों को दे सकता हूं जो काम करते-करते थक गए हैं और जो अब अपनी सामर्थ्य से अधिक काम करने की बजाय आराम कर सकें और चाय पी सकें। किन्तु अमीर और आरामतलब लोग अपनी स्थिति को समझने के लिए इतने कम इच्छुक हैं कि वे इसका भी उत्तर देते हैं। वे कहते हैं, "यदि मैं गंदे कपड़े पहनूं, सिगरेट पीना बन्द करदूं और इनपर खर्च होनेवाला रुपया गरीबों को दे दूं तो भी वह रुपया उनके पास रहेगा नहीं, सब कुछ उनसे छीन लिया जायगा और सागर में एक बूंद के समान मेरे रुपए से होगा भी क्या ?"

इस उत्तर का प्रत्युत्तर देते हुए और भी लज्जा आती है, किन्तु प्रत्युत्तर तो देना ही होगा। यह तर्क बहुत ही प्रचलित तर्क है और इसका उत्तर भी बहुत सीधा है।

यदि मैं जंगलियों के यहां जाऊँ और वे लोग मुझे स्वादिष्ट मांस खाने को दें और दूसरे दिन मुझे मालूम हो जाय या कदाचित मैं स्वयं देख लूं कि वह स्वादिष्ट मांस एक कैदी को मारकर तैयार किया गया था तो—यदि मैं मनुष्य का मांस खाना पसन्द नहीं करता—मैं उसे फिर से कदापि नहीं खाऊँगा, चाहे वह कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो, चाहे उन लोगों में, जिनके साथ मैं ठहरा हुआ हूं, मनुष्य का मांस खाने की कितनी ही अधिक प्रथा क्यों न हो और चाहे मेरे अस्वीकार करने से खाने के काम में लाए जानेवाले कैदियों को कितना ही कम लाभ क्यों

न पहुँचे। सम्भव है कि भूख से लाचार होकर मैं कदाचित मनुष्य का मांस भी खालूं, किन्तु मनुष्य के मांस की दावत मुझे किसी और को नहीं देनी चाहिए, न ऐसी दावतों में हिस्सा लेना चाहिए, न उनके लिए लार टपकानी चाहिए और न उनमें हिस्सा लेने में गर्व ही का अनुभव करना चाहिए।

: २५ :

हम देखते और देखकर समझते क्यों नहीं ?

"तो फिर हम क्या करें ? यह सब हमने तो किया नहीं है।"—लेकिन हमने नहीं तो फिर किसने किया है ? हम कहते हैं कि हमने ऐसा नहीं किया; यह तो अपने-आप हो गया। यह बात तो ऐसी ही है जैसे कोई बच्चा किसी चीज को तोड़कर कहे कि वह तो आप-से-आप टूट गई। हम कहते हैं कि अब जबकि शहरों का निर्माण हो चुका है हम लोग, जो उनमें रहते हैं, मजदूरों के श्रम को खरीदकर उनका पालन-पोषण करते हैं।

किन्तु यह बात सच नहीं है। समझने के लिए हमें केवल यह सोचने-भर की आवश्यकता है कि हम देहात में किस तरह से रहते हैं और वहां लोगों का भरण-पोषण कैसे होता है ?

सर्दी समाप्त होती है और ईस्टर आता है। शहरों में अमीरों के वे ही राग-रंग जारी रहते हैं। घाटों पर, नदियों पर, उपवनों में, पार्कों में, जहाँ देखो वहीं गाना-बजाना, थियेटर-तमाशा, घुड़दौड़, आतिशबाजी और रोशनी का दौरदौरा है। किन्तु देहातों में इससे भी अच्छी वस्तुएं हैं। वहां की वायु अधिक शुद्ध और वहां के वृक्ष, मैदान और फूल ज्यादा ताजे हैं। जहां कलियां खिल रही हैं और जहां फूल लहलहा रहे हैं वहां अवश्य चलना चाहिए; यह सोचकर बहुत-से धनी-मानी दूसरों के श्रम का उपभोग कर शुद्ध वायु का सेवन करने और हरे-भरे मैदानों तथा जंगलों का मजा लूटने देहात आते हैं। वहां वे उन गंवार किसानों के बीच जा बसते हैं जो बाजरे की रोटी और प्याज के टुकड़े खाकर जीवन बिताते हैं, जो दिन में अठारह-अठारह घंटे काम करते हैं, जो रात को पूरी

नींद नहीं सो पाते और फटे चीथड़े लपेटे रहते हैं। कम-से-कम यहां उनके लिए प्रलोभन की कोई वस्तु नहीं है; न कल-कारखाने हैं और न बेकार लोग, जिनकी शहरों में बहुलता होती है और जिनके विषय में कहा जाता है कि काम देकर हम उनका भरण-पोषण करते हैं। यहां तो सारी गरमियों लोगों को इतना काम रहता है कि वे उससे पार नहीं पाते। बेकार रहना तो दूर, यहां तो श्रमिकों के अभाव के कारण बहुत-सा माल नष्ट हो जाता है और बहुत-से स्त्री-पुरुष, बहुत-से बच्चे-बूढ़े, बहुत-सी बच्चोंवाली स्त्रियां शक्ति से अधिक काम करने के कारण इस दुनिया से चल बसती हैं।

यहां आकर धनी लोग अपने जीवन की कैसी व्यवस्था करते हैं? क्यों इसमें पूछने की क्या बात है? सुनिए, वे अपनी व्यवस्था इस प्रकार करते हैं—वहां यदि दास-प्रथा के दिनों का बना हुआ कोई पुराना मकान हुआ तो उसे नया रूप-रंग प्रदान किया जाता है और सजाया जाता है और यदि कोई पुराना मकान न हुआ तो दो या तीन मंजिलों का एक नया मकान बनवाया जाता है, जिसमें लगभग १४ फुट ऊंचे १२ से लेकर २० तक या और भी अधिक कमरे होते हैं। अच्छे चिकने फर्श बनवाए जाते हैं, खिड़कियों में बड़े-बड़े शीशे लगवाए जाते हैं, बहुमूल्य गलीचे बिछवाए जाते हैं, बढ़िया फर्नीचर लगवाया जाता है और २०० से लेकर ६०० रूबल तक की आलमारी लाई जाती है। मकान के पास सड़क पर कंकड़ पिटवाई जाती हैं, कूद-फांद के यंत्र खड़े किए जाते हैं, चमकदार लट्टू लटकवाए जाते हैं और प्रायः कोमल बनस्पतियों के रक्षा-गृह, ग्रीष्म-भवन और ऊँचे-ऊँचे अस्तबल बनवाए जाते हैं और वे खूब अच्छी तरह सजवाए जाते हैं। मकान में चारों ओर तैलरंगों के चित्र बनवाए जाते हैं और इन रंगों में वह तेल खर्च किया जाता है जो बूढ़े किसानों और बच्चों को खाने के लिए मयस्सर नहीं होता। यदि किसी के पास इतना धन होता है तो वह इस प्रकार का मकान बनवाकर उसमें जा बसता है, किन्तु यदि उसकी थैली इतनी भारी नहीं होती तो वह मकान किराए पर ले लेता है। संक्षेप में यह कि हमारे वर्ग का आदमी चाहे कितना ही निर्धन और उदार क्यों न हो, वह जब देहात में जाकर रहता

है तो ऐसे मकान में रहता है जिसको बनाने और साफ रखने के लिए दर्जनों मजदूर गांव से लेने पड़ते हैं—उस गांव से, जहां उन्हें अपनी रोजी के लिए अनाज पैदा करने का ही काम इतना रहता है कि वे उसे पूरा नहीं कर पाते।

कम-से-कम देहात में कोई यह नहीं कह सकता कि यहां तो कल-कारखाने पहले से ही हैं, मैं उनका उपयोग करूं या न करूं इससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यहां कोई यह भी नहीं कह सकता कि मैं बेकारों का भरण-पोषण करता हूं। यहां तो हमें जिस पदार्थ की आवश्यकता होती है उसके उत्पादन की व्यवस्था हम बिना किसी रोकटोक के कर लेते हैं और अपने आसपास रहनेवालों की आवश्यकताओं से लाभ उठाकर उन्हें उन कामों से अलग कर देते हैं जो उनके, हमारे और सबके लिए आवश्यक है। इस तरह कुछ मजदूरों का तो हम मस्तिष्क विकृत कर देते हैं और शेष का जीवन और स्वास्थ्य नष्ट कर डालते हैं।

मान लीजिए किसी उच्च वर्ग या सरकारी कर्मचारियों का एक शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार गांव में रहता है। जून के मध्य में पढ़ाई और परीक्षाएं समाप्त करने के बाद परिवार के सब लोग और उनके मेहमान भी आकर इकट्ठे होते हैं और वहां सितम्बर मास तक रहते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि वे वहां फसल की नराई आरम्भ होने पर आते हैं और उस फसल के समाप्त होने तथा सर्दियों की फसल बोए जाने के समय तक रहते हैं। ये सब वहां साल के आवश्यक कार्य के मौसम के आरम्भ होने के समय से लेकर उसका अन्त होने तक तो नहीं—क्योंकि सितम्बर में सर्दियों की फसल की बुवाई और आलू की खुदाई जारी रहती है—लेकिन हां, काम के हलका पड़ने तक गांव में रहते हैं।

ये लोग जबतक गांव में रहते हैं तबतक उनके चारों तरफ किसानों का गरम मौसम का काम चलता रहता है। इस काम में जो परिश्रम करना पड़ता है उसके बारे में हमने चाहे कितना ही सुन और पढ़ क्यों न रखा हो और चाहे कितना ही देख भी क्यों न रखा हो, उसका वास्तविक अनुमान हम उस समय तक नहीं लगा सकते जबतक कि हम उसे

स्वयं अपने हाथों से न करें।

धनाढ्य परिवार के ये लोग, जिनकी संख्या मान लीजिए दस या बारह होती है, यहां शहरों की ही भांति या यदि सम्भव हुआ तो उससे भी बुरे ढंग से जीवन बिताते हैं, क्योंकि कहा जाता है कि देहात में तो लोग आराम करने आते हैं। इसीलिए यहां उनके लिए कोई काम-धाम नहीं होता और न काहिली को छिपाने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता होती है।

पित्रोफ़-उपवास[1] के दिनों में जब कि किसान लोग केवल क्वास[2], राई की रोटी और प्याज लेते हैं, नराने का काम आरम्भ होता है। गाँव में रहनेवाले भद्र नागरिक इस काम को देखते हैं। कुछ सीमा तक वे उसके लिए आदेश देते हैं, कुछ सीमा तक वे उसे पसन्द करते हैं और मुरझाई हुई सूखी घास की सुगंध, स्त्रियों के गीतों, हंसियों के चलने की आवाज, काटनेवालों की कतार और स्त्रियों के घास बराबर करने के ढंग से उन्हें प्रसन्नता होती है। यह सब आनन्द उन्हें अपने घर के पास ही मिल जाता है और फिर बाद में दिनभर बेकार पड़े रहने के बाद नवयुवक और बालक स्नान के लिए सौ-दो सौ गज की दूरी भी ग़ाड़ी में सवार होकर पार करते हैं।

घास सुखाने का काम दुनिया के सबसे अधिक महत्वपूर्ण कामों में से है। प्रायः प्रति वर्ष मजदूरों और समय की कमी के कारण कटाई पूरी होने से पहले ही वर्षा से मैदानों के भीग जाने का भय रहता है। शेष बची हुई २० प्रतिशत या इससे भी अधिक घास राष्ट्रीय सम्पत्ति का रूप ग्रहण करे या योंही खड़ी-खड़ी सड़कर नष्ट हो जाय, यह बात काम के अधिक या कम होने पर निर्भर करती है। यदि अधिक घास काटी जा सके तो बूढ़ों को अधिक मांस और बच्चों को अधिक दूध मिल सकता है। साधारणतः यह बात सभी के लिए होती है। किंतु विशेष रूप से किसानों

---

[1] यह उपवास ईस्टर के बाद नवें सप्ताह से आरम्भ होकर २९ जून तक चलता है।

[2] एक प्रकार का रूसी पेय।

के लिए तो उन्हीं दिनों इस प्रश्न का निर्णय हो जाता है कि उन्हें तथा उनके बच्चों को रोटी या दूध उपलब्ध होगा या नहीं। इस बात को प्रत्येक व्यक्ति जानता है; यहांतक कि बच्चों को भी यह पता है कि यह काम बड़ा महत्त्वपूर्ण है और हर आदमी को अपनी पूर्ण सामर्थ्य के साथ इसे करना चाहिए। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बच्चे क्वास का बर्तन खेत में पिता के पास ले जाते हैं। उस भारी बर्तन को कभी एक और कभी दूसरे हाथ में लिये हुए बच्चे गांव से डेढ़ मील नंगे पांव तेज-से-तेज भागे चले जाते हैं, ताकि खाने में देर न हो और बाप की झिड़कियां न सुननी पड़ें। हरएक आदमी जानता है कि घास की कटाई के समय से लेकर फसल के घर में पहुंचने तक काम का सिलसिला टूट नहीं सकता और एक मिनट का भी आराम सम्भव नहीं। काम केवल कटाई का ही नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति को इसके अलावा दूसरे काम भी करने पड़ते हैं। खेत को जोतने और बराबर करने की आवश्यकता होती है। स्त्रियों को कपड़े धोने, रोटी बनाने और बर्तन मांजने का काम करना पड़ता है। पुरुषों को भाग-भागकर कारखाने और नगर में जाना पड़ता है, ग्राम के साम्प्रदायिक मामलों की देखभाल करनी पड़ती है, अदालतों में जाना, गांव के पुलिस अफसर से मिलना, गाड़ी चलाना और रात को घोड़ों को खिलाना पड़ता है। बूढ़े, जवान, बीमार—सभी शक्तिभर काम करते हैं। किसान लोग इतनी मेहनत करते हैं कि दिन का काम समाप्त होते-होते दुर्बल, बच्चे, बूढ़े और जीर्ण-शीर्ण लोग बड़ी कठिनाई से अन्तिम कतार काट पाते हैं और इतने थक जाते हैं कि सुस्ताने के बाद फिर उनका उठना दूभर हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रियां भी काम करती हैं, यद्यपि वे अक्सर गर्भवती और बच्चेवाली होती हैं।

काम बड़ा कठोर होता है और लगातार होता रहता है। सब लोग पूरी सामर्थ्य से काम करते हैं और इस बीच उन्हें जो थोड़ा-बहुत अन्न मिलता है उसे ही नहीं बल्कि पहले का बचा हुआ अन्न भी खा-पी डालते हैं। मोटे और तगड़े तो वे वैसे भी कभी नहीं होते; इधर फसल का कार्य समाप्त करते-करते वे और भी दुर्बल हो जाते हैं।

देखिए, एक छोटी-सी टोली कटाई का काम कर रही है। तीन

किसान हैं--एक बूढ़ा है, दूसरा उसका नवयुवक विवाहित भतीजा और तीसरा एक मोची, जिसका हृष्ट-पुष्ट पुट्ठेदार शरीर है और जो किसी के घर नौकर रह चुका है। सूखी घास की यह कटाई आगामी जाड़ों के लिए उनके भाग्य का निर्णय करेगी और यह बतायगी कि वे गाय रख सकेंगे या नहीं और कर चुका सकेंगे या नहीं। निरंतर कार्य करते हुए उन्हें दो सप्ताह हो चुके हैं। बीच में वर्षा के कारण उनके काम में कुछ बाधा पड़ गई है। वर्षा बंद होने और हवा से घास के सूख जाने पर वे काम को शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त करने का निर्णय करते हैं और उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ दो स्त्रियों को भी काम पर लगाने का निश्चय करता है। बूढ़े के साथ उसकी स्त्री आती है जिसकी उम्र पचास वर्ष की है और जो बहुत काम करने और ११ बच्चों को जन्म देने के कारण शिथिल पड़ गई है। वह बहरी भी है, किंतु अभी काम अच्छा-खासा कर लेती है। उसके साथ उसकी १३ वर्ष की लड़की भी आती है, जो छोटी लेकिन तेज और मजबूत है। भतीजे के साथ उसकी स्त्री आती है, जो किसी भी पुरुष के समान मजबूत और लम्बी है। उसके साथ उसकी साली भी आती है, जो एक सिपाही की स्त्री है और गर्भवती है। मोची के साथ उसकी स्त्री और सास आती है। उसकी स्त्री बहुत अच्छा काम करती है और उसकी सास ८० वर्ष की एक बुढ़िया है, जो अक्सर भीख मांगा करती है। कमर कसकर वे एक साथ काम पर जुट जाते हैं और जून की जलती हुई धूप में सवेरे से शाम तक काम करते हैं। कभी-कभी बादल आते हैं और वर्षा का भय होने लगता है। काम का हर घंटा कीमती है। पानी या क्वास लाने में जो समय लगता है वह तक उन्हें अखरता है।

एक छोटा लड़का, जो बुढ़िया का पोता है, सबके पीने के लिए पानी लाता है। स्पष्टतः बुढ़िया को इस बात की बड़ी चिंता है कि काम रुकने न पाए, इसीलिए वह हेंगी को हाथ से नहीं छोड़ती, यद्यपि उसका शरीर इतना थक चुका है कि चेष्टा करने पर भी वह कठिनाई से चल-फिर पाती है। कमर तक झुका हुआ वह छोटा लड़का नंगे पैरों छोटे-छोटे कदम रखता अपने से भी भारी पानी का बर्तन कभी एक हाथ से और

कभी दूसरे हाथ से सम्हालता हुआ लाता है। लड़की भी अपने से भारी घास का गट्ठर सिर पर रखकर ले जाती है। वह दो-चार कदम चलती है, रुक जाती है और बोझ आगे न ले चल सकने के कारण गट्ठर उठाकर फेंक देती है। ८० साल की वह बुढ़िया लगातार हेंगी से घास इकट्ठा कर रही है, उसके सिर का रूमाल खिसककर एक ओर हो गया है और वह हांफती-लड़खड़ाती हुई घास का गट्ठर खींचकर ले जाती है। ८० वर्ष की बुढ़िया हेंगी से घास इकट्ठा करने के सिवा और कुछ नहीं करती; लेकिन यह भी उसकी सामर्थ्य से बाहर है। चटाई के जूते पहने वह धीरे-धीरे पैर को घसीटती चलती है और सिकुड़ी हुई भौहों से अपने सामने इतनी मलिनता के साथ देखती है मानो किसी भयंकर रोग से पीड़ित या मरनेवाली है। बूढ़ा उसे जानबूझकर दूसरों से दूर घास के ढेर के पास काम करने के लिए भेजता है, ताकि उसको उनके बराबर काम न करना पड़े। किंतु वह रुकती नहीं और वही काल-जैसी मलिन मुद्रा बनाए दूसरों के बराबर ही काम करती है।

सूरज वृक्षों के पीछे डूबने लगा है, किंतु अभीतक घास के सारे गट्ठर नहीं हटाए जा सके हैं और अभी तक बहुत काम शेष है। अनुभव तो सब लोग करते हैं कि काम बंद करने का समय हो गया, किंतु बोलता कोई नहीं; सब एक-दूसरे के काम बंद करने की प्रतीक्षा में हैं। अंततः मोची, यह देखकर कि अब उसमें काम करने को शक्ति नहीं रह गई, बूढ़े से प्रस्ताव करता है कि बाकी काम कल के लिए छोड़ दिया जाय। बूढ़ा इससे सहमत हो जाता है और स्त्रियां तत्काल कपड़े, पानी के बर्तन, कांटे आदि उठाने दौड़ती है और बुढ़िया जहां खड़ी थी वहीं धम-से बैठ जाती है और फिर उसी मृत्यु-जैसे मलिन चेहरे से ठीक सामने देखती हुई लेट जाती है। किंतु अन्य स्त्रियां जाने लगती हैं, इसलिए वह भी कराहती हुई उठती है और उनके पीछे-पीछे घिसटती हुई चलने लगती है।

अब जरा जमींदार के मकान पर दृष्टि दौड़ाइए। उसी सन्ध्या को जब गांव की ओर से खेतों से लौटते हुए थके-मांदे घसियारों के कन्धों पर लटकती हुई सिल्लियों की ठनठनाहट, हंसियों के फलकों में पड़े हुए

गड्ढों को सीधा करते हुए हथौड़ों की चोट और उन स्त्रियों तथा लड़कियों के शोर की ध्वनि सुनाई देती है जो अभी-अभी हंसिए को पटककर चौपायों को लेने के लिए दौड़ी जा रही हैं, ठीक उसी समय जमींदार के मकान से दूसरे प्रकार की आवाजें आ रही हैं—'द्रिन-द्रिन-द्रिन' पियानो बज रहा है; किसी हंगेरियन गाने की तान गूंज रही है और बीच-बीच में लकड़ी की गेंद की लकड़ी के बल्ले से टकराने की आवाज आ रही है। अस्तबल के पास चार हृष्ट-पुष्ट घोड़ों की किराए की एक सुन्दर गाड़ी खड़ी है।

इस गाड़ी में कुछ मेहमान दस रूबल किराया देकर दस मील से आए हैं। गाड़ी में जुते हुए घोड़े गर्दन हिलाहिलाकर अपनी घंटियां बजा रहे हैं। उनके सामने सूखी घास पड़ी हुई है, जिसे वे खुरों से रौंद-रौंदकर इधर-उधर फैला रहे हैं—यह वही घास है जो खेतों में इतने परिश्रम से इकट्ठी की जाती है। जमींदार के मकान में चहल-पहल हो रही है—एक स्वस्थ, हृष्टपुष्ट युवक—जो दरबानी के पुरस्कार में मिली हुई लाल कमीज पहने हुए है—कोचवानों को पुकारकर घोड़ों पर जीन कसने के लिए कह रहा है। दो किसान, जो वहां कोचवानी का काम करते हैं, अपने कमरे से बाहर आते हैं और साहबों की सैर के लिए मजे-मजे में घोड़े कसने जाते हैं।

मकान के और पास जाने पर एक दूसरे पियानो की आवाज सुनाई देती है। संगीतालय की एक नवयुवती विद्यार्थिनी, जो लड़कों को संगीत सिखाने के लिए वहीं रहती है, एक प्रसिद्ध राग का अभ्यास कर रही है। दोनों पियानों की स्वर-लहरियां एक दूसरे से टकरा रही हैं। मकान के पास ही दो धायें जा रही हैं—उनमें से एक युवती है और दूसरी वृद्धा। वे बच्चों को सुलाने जा रही हैं—ये बच्चे उतने ही बड़े हैं जितने वे छोकरे जो पानी के बर्तन गांव से खेत तक दौड़ते हुए ले गए थे। एक धाय अंग्रेज है और रूसी भाषा नहीं बोल सकती। वह इंग्लैण्ड से विशेष रूप से बुलाई गई है—इसलिए नहीं कि वह अपनी किसी योग्यता के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि इसलिए कि वह रूसी भाषा नहीं जानती। इनसे थोड़ी दूर पर एक किसान दो औरतों के साथ मकान के पास की फुलवारी सींच

रहा है। वहीं एक और आदमी कुंअर साहब की बन्दूक को साफ कर रहा है।

और इधर देखिए, दो स्त्रियां धुले हुए कपड़ों की एक टोकरी लिये जा रही हैं। इन्होंने बाबूसाहबों और उनके अंग्रेज व फ्रांसीसी अध्यापकों के कपड़े धोए हैं। दो स्त्रियों को चीनी के जूठे बर्तनों को मांजने से ही फुर्सत नहीं मिल पा रही है। सफेद कोट पहने हुए दो किसान नीचे-ऊपर दौड़-दौड़कर कॉफ़ी, चाय, शराब तथा सेल्ज़र-पानी[1] पिला रहे हैं। मेज पर खाना रखा हुआ है। साहबलोग अभी-अभी खाना खाकर उठे हैं। अभी थोड़ी देर बाद वे फिर खाने बैठेंगे और आधीरात तक या रात के तीन बजे तक या, जैसा कि प्रायः होता है, सवेरे तड़के तक खाते रहेंगे।

इनमें से कुछ लोग बैठे-बैठे सिगरेट पी रहे हैं और ताश खेल रहे हैं। कुछ लोग सिगरेट का धुंआ उड़ाते हुए उदारवाद (Liberalism) की चर्चा कर रहे हैं; दूसरे लोग घूम-फिर रहे हैं, खा रहे हैं, सिगरेटें सुड़क रहे हैं और जी न लगने पर घोड़ागाड़ी पर सवार हो टहलने जाने का निश्चय करते हैं। इन भद्र स्त्री-पुरुषों की संख्या कुल मिलाकर पन्द्रह के लगभग है। वे सभी स्वस्थ हैं और उनकी सेवा में तीस हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष लगे हुए हैं।

और यह सब उस देहात में हो रहा है, जहां का एक-एक क्षण और एक-एक व्यक्ति बहुमूल्य है। यही दशा जुलाई में भी रहेगी जबकि किसान लोग जौ को खराब न होने देने के लिए नींद हराम करके रात-रात भर कटाई करेंगे, जब स्त्रियां बड़े भुटपुटे ही उठकर गट्ठर बांधने के लिए पुआल कूटेंगी, जब फसल के काम से बिलकुल थककर वह बुढ़िया, वह बच्चों की मा और वे छोटे-छोटे लड़के खूब कस-कसकर बूते से बाहर काम करेंगे और अत्यधिक पानी पीने के कारण बीमार हो जायंगे, जब नाज को गोदाम तक उठाकर लाने के लिए आदमियों, घोड़ों और गाड़ियों की कमी पड़ जायगी—उसी नाज को, जिससे सबका पेट भरता है और

---

[1] जर्मनी के सेल्ज़र नामक स्थान का पानी, जिसमें अनेक प्राकृतिक औषधि-गुण होते हैं।

जिसकी लाखों मनों में प्रतिदिन रूस में आवश्यकता होती है ताकि वहां के लोग भूखों न मरें। उस समय भी इन भद्र लोगों का वही ढर्रा रहेगा, थियेटर-तमाशे, सैर-शिकार, खाने-पीने, पियानों बजाने, नाचने-गाने आदि का वही अनन्त सिलसिला चलता रहेगा।

यहाँ हम धनी लोग यह बहाना नहीं बना सकते कि ऐसा तो सदा ही होता है, किसी बात की पहले से तैयारी थोड़े ही की गई थी ? यहाँ अत्यधिक भार से झुके हुए किसानों से उनका अनाज और श्रम लेकर स्वयं हम लोग बड़ी चतुराई से इस प्रकार की जीवन-पद्धति की व्यवस्था करते हैं। हम इस प्रकार जीवनयापन करते हैं मानो उस मरती हुई धोबिन, उस पन्द्रह वर्षीय वेश्या, उस सिगरेट बनाते-बनाते थकी हुई स्त्री और अपने आसपास की उन बुढ़ियों और बच्चों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, जो कठोर श्रम के कारण क्लांत हो गए हैं और जिन्हें भर पेट रोटी नहीं मिलती। हम लोग भोग-विलास में कुछ इस प्रकार लिप्त रहते हैं मानो ऐसी बातों का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध ही न हो। हम आँखें खोलकर यह देखना नहीं चाहते कि यदि हमारा जीवन इतना आलस्यपूर्ण, विलासमय और पतित न होता तो मजदूरों और किसानों को इतना कड़ा परिश्रम न करना पड़ता। हम यह भी समझने की चेष्टा नहीं करते हैं कि हम जैसा जीवन बिताना चाहते हैं वह निर्धनों के कठोर श्रम के बिना असम्भव है। हम लोग सोचते हैं कि उनकी यंत्रणाएं हमारे जीवन से बिलकुल भिन्न हैं और हमारा वर्त्तमान जीवन हंस की तरह निर्मल और पवित्र है।

हम रोमनों के जीवत-वृत्त पढ़ते हैं और उन निर्दय धनाढ्यों के अमानुषिक व्यवहार पर आश्चर्य प्रकट करते हैं जो स्वयं तो बढ़िया-बढ़िया भोजन करते थे और कीमती-कीमती शराबें पीते थे, जबकि जन-साधारण भूख से तड़प-तड़पकर मरते थे। इसी तरह हम सिर हिलाकर अनेक दास-दासी रखनेवाले अपने उन पूर्वजों के जंगलीपन पर विस्मय करते हैं जो घरेलू संगीत और नाटक-मंडलियों का संगठन किया करते थे और अपने उपवनों की देखभाल के लिए पूरे गांव-के-गांव लिख देते थे। हम लोग अपनी मानवता के उच्च शिखर पर बैठे हुए उनपर आश्चर्य प्रकट

करते हैं।

इसैया के पाँचवें प्रकरण में हम निम्नलिखित वाक्य पढ़ते हैं—

८—"धिक्कार है उन लोगों को जो इस भय से कि वे संसार के मध्य अकेले ही न रह जायं, मकान-से-मकान और खेत-से-खेत जोड़ते चले जाते हैं और ऐसा उस समय तक करते रहते हैं जबतक कि कहीं कोई खाली जगह ही नहीं रह जाती।"

११—"धिक्कार है उन लोगों को जो तेज शराब पीने के लिए सवेरे ही उठ खड़े होते हैं और रात तक ऐसा ही करते रहते हैं जबतक कि नशा उनके अन्दर आग नहीं पैदा कर देता।"

१२—"और उनके भोजों में बीन, सारंगी, ढोलकी, बंसी और शराब होते हैं, किन्तु वे न तो ईश्वर की सृष्टि को मानते हैं, न उसकी कृपाओं पर ध्यान देते हैं।"

१८—"धिक्कार है उन लोगों को जो अहंकार और पाप की रस्सी से अन्याय की गाड़ी चला रहे हैं।"

२०—"धिक्कार है उन लोगों को जो बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा कहते हैं, जो प्रकाश को अंधकार और अंधकार को प्रकाश समझते हैं और जो कड़ुवे को मीठा और मीठे को कड़ुवा ठहराते हैं।"

२१—"धिक्कार है उन लोगों को जो अपने-आपको बुद्धिमान और ज्ञानी मानते हैं।"

२२—"धिक्कार है उन लोगों को जो शराब पीने में वीर हैं और जिनकी शक्ति तेज शराब के प्याले बनाने में खर्च होती है।"

२३—"धिक्कार है उन लोगों को जो पुरस्कार के लोभ में दुष्टों का समर्थन करते हैं और साधु पुरुषों को उनकी साधुता से वंचित करते हैं।"

हम इन शब्दों को पढ़ते हैं और हमें ऐसा लगता है मानो इनका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं।

बाइबिल (मैथ्यू प्रकरण ३, पद १०) में लिखा है—

"और अब भी वृक्षों की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाई जाती है और अच्छा फल न देनेवाला प्रत्येक वृक्ष काटकर आग में झोंक दिया जाता है।"

हम लोगों को पूरा विश्वास है कि हम तो फल देनेवाले अच्छे वृक्ष हैं और ये शब्द हमारे लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए कहे गए हैं जो बुरे हैं।

ईसैया के छठे पद में कहा गया है—

१०. "इन लोगों के मन को चर्बी से मोटा कर दो, इनके कान बहरे करदो और इनकी आंखें बंद करदो, जिससे वे अपनी आंखों से देख न लें, कानों से सुन न लें और हृदय से समझ न लें और अपने जीवन में परिवर्तन करके अच्छे न बन जायं।"

११. "तब मैंने पूछा— हे नाथ, कबतक ? और उन्होंने उत्तर दिया—जबतक शहर और मकान नष्ट-भ्रष्ट होकर जनशून्य न हो जायं और सारी भूमि पूरी तरह उजाड़ न हो जाय।"

हम लोग ये बातें पढ़ते हैं और यह सोचने के लिए बिलकुल तैयार हो जाते हैं कि यह अद्भुत काम हमारे जिए नहीं बल्कि किसी और के लिए किया गया है। किंतु हमारे यह सब न देख पाने का एकमात्र कारण कह है कि यह अद्भुत काम वस्तुतः हमारे साथ बराबर किया जा रहा है। न तो हम सुनते हैं, न देखते हैं और न सच्चे हृदय से किसी बात को समझते ही है। इस सबका क्या कारण है ?

: २६ :

श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार

एक आदमी जो अपनेको ईसाई न सही, सभ्य और दयालु भी न सही, केवल एक ऐसा मनुष्य मानता है जिसमें विवेक और मनुष्यता के थोड़े-बहुत संकेत मिलते हैं वह भला कैसे इस प्रकार जीवन बिताना पसन्द कर सकता है कि मानव-समाज के जीवन-संघर्ष में भाग लिये बिना ही वह संघर्ष में भाग लेनेवालों के श्रम को हड़पता रहे और अपनी माँगों से न केवल संघर्ष करनेवालों के सिर का बोझ बढ़ाता रहे बल्कि साथ-ही-साथ संघर्ष करते-करते मर मिटनेवालों की संख्या में भी वृद्धि करता रहे ? फिर भी हमारा कथित ईसाई और सभ्य समाज ऐसे लोगों से भरा पड़ा है। यही नहीं, हमारे ईसाई और सभ्य

समाज का तो आदर्श ही यह है कि अधिक-से-अधिक सम्पत्ति-संग्रह की जाय, अर्थात् इतना धन एकत्र किया जाय कि उससे सब तरह का आराम मिले और हाथ-पैर हिलाने की आवश्यकता न पड़े। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि हम स्वयं तो जीवन-संघर्ष से मुक्त होना चाहते हैं और उस संघर्ष में खप जानेवाले अपने भाइयों के श्रम का पूरा शोषण करने का अवसर प्राप्त करना चाहते हैं।

मनुष्य ऐसी आश्चर्यजनक भूल कैसे कर बैठा ? उसकी यह दशा कैसे हुई कि जो बात इतनी स्पष्ट और असंदिग्ध है उसे वह न तो देख पाता, न सुन पाता, न हृदय से समझ ही पाता है ?

इसके उत्तर में यदि हम केवल एक मिनट के लिए गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो हम यह देखकर स्तम्भित रह जायंगे कि जो लोग अपने को ईसाई न सही, केवल दयालु और सभ्य कहते हैं, उनके आचरण और धारणा में आश्चर्यजनक अंतर है।

चाहे यह विधाता के अच्छे या बुरे विधान के कारण हो, चाहे प्रकृति के उस नियम के कारण जिसके अनुसार समस्त संसार और मानव-समाज का संचालन होता है—सत्य यह है कि हमारी जानकारी के आरम्भ से ही संसार में मनुष्य की कुछ ऐसी स्थिति रही है और अब भी है कि उसे नंगा रहना पड़ता है, जाड़े से बचने के लिए उसे ऊनी कपड़ा नहीं मिलता, शरण के लिए गड़हे नहीं मिलते और खाने के लिए अन्न नहीं मिलता, यद्यपि वह इस अन्न को खेतों में उसी तरह पा सकता है जिस तरह राबिन्सन क्रूसो ने अपने द्वीप में पा लिया था। मनुष्य की स्थिति कुछ ऐसी है कि सब लोगों को अपना तन ढकने, अपने लिए कपड़े बनवाने, अपने चारों ओर चहारदीवारी खड़ी करने या ऊपर से बचाव के लिए छप्पर डालने और खाना पैदा करने के लिए प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है, ताकि वे दिन में दो-तीन बार अपनी और अपने असमर्थ बच्चों व बूढ़ों की क्षुधा शांत कर सके।

मनुष्य-जीवन का हम चाहे किसी भी स्थान, काल या परिमाण में अध्ययन करें—चाहे यूरोप में, चाहे चीन, अमरीका या रूस में, चाहे सम्पूर्ण मानव-समाज का, चाह उसके एक छोटे-मे भाग का, चाहे प्राचीन

काल के खानाबदोशों का, चाहे भाप के इंजनों, सीने की मशीनों, बिजली की रोशनियों और कृषि के नवीन साधनों के बीच रहनेवाले वर्तमान मानव-जीवन का—हमें एक ही बात दिखाई देगी, वह यह कि निरंतर कठोर काम करने पर भी मनुष्य अपने और अपने बाल-बच्चों व बूढ़ों के लिए पर्याप्त मात्रा में अन्न, वस्त्र और स्थान प्राप्त नहीं कर पाता और बहुत-से लोग जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के अभाव के कारण और उनकी प्राप्ति के लिए अतिशय परिश्रम करने के कारण कालकवलित हो जाते हैं।

हम चाहे कहीं भी रहें, यदि हम अपने चारों ओर एक लाख, एक हजार, दस या एक ही मील का वृत्त बनालें और उसके अंदर के लोगों के जीवन पर दृष्टिपात करें तो उसमें हमें क्षुधा-पीड़ित बच्चे, बूढ़े, बुढ़िया, गर्भिणी स्त्रियां और बीमार व दुर्बल लोग दिखाई देंगे जिनकी पर्याप्त भोजन और आराम न मिलने के कारण अकाल मृत्यु हो जाती है। इनके अलावा वहां ऐसे आदमी भी दिखाई देंगे जो विपदास्पद और हानिकारक कार्य करते रहने के कारण भरी जवानी में ही चल बसते हैं।

हम देखते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही लोगों को अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिए संघर्ष करना पड़ा है और बड़े-बड़े प्रयासों, हानियों तथा यातनाओं के बाद भी वे उसपर विजय नहीं पा सके हैं। हम यह भी जानते हैं कि हम चाहें कहीं भी रहें और कैसे भी रहें हममें से प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन और प्रति घंटे इच्छापूर्वक या अनिच्छा से मानव-श्रम से उत्पन्न किए हुए पदार्थों का थोड़ा-बहुत उपभोग करता है। मनुष्य चाहे जहां और जिस तरह रहता हो, यह निश्चित है कि उसका मकान और उसके सिर पर की छत अपने-आप नहीं बनी। उसकी अंगीठी में जो लकड़ी जल रही है और उसपर जो पानी पक रहा है वे वहां स्वयं नहीं चले आए। इसी तरह पकी-पकाई रोटी, भोजन, कपड़े और जूते आसमान से नहीं टपक पड़े। ये सारे पदार्थ मनुष्य द्वारा बनाए गए हैं। इन्हें केवल बीते युग के मनुष्यों ने नहीं बनाया था, जो अब मर-खप गए हैं, बल्कि सदा इन्हें मनुष्य ही बनाते आए हैं और आज भी इन्हें हमारे लिए मनुष्य ही बना रहे हैं। इनमें से सैकड़ों व्यक्ति अपने और अपनी

संतान के लिए जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र व आवास—का प्रबन्ध करने और अपनेको यंत्रणा तथा अकाल मृत्यु से सपरिवार बचाने की निष्फल चेष्टा करते हुए सूख-सूखकर मर जाते हैं। अभाव के विरुद्ध वे सब-के-सब संघर्ष करते हैं और इतना प्रबल संघर्ष करते हैं कि प्रति क्षण उनके आस-पास उनके भाई, बाप, मा और बच्चे काल-कवलित होते रहते हैं।

इस संसार के निवासी तूफान में फंसे हुए जहाज के उन यात्रियों के समान हैं जिनके पास भोजन-सामग्री बहुत कम रह गई है। ईश्वर या प्रकृति ने हमें ऐसी स्थिति में डाल दिया है कि आपदा से बचने के लिए कम-से-कम भोजन करना और निरंतर उद्योग करते रहना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। यदि हममें से कोई व्यक्ति ऐसा न करे और दूसरे के उस श्रम का उपभोग कर ले जो सामान्य हित के लिए आवश्यक नहीं है तो यह हमारे और हमारे सहकारियों दोनों के लिए नाशकारी है।

क्या कारण है कि आजकल के अधिकांश शिक्षित व्यक्ति न केवल स्वयं परिश्रम न करके शान्तिपूर्वक दूसरों के उस श्रम का उपभोग कर लेते हैं जो उनके जीवन के लिए आवश्यक है, बल्कि यह भी समझते हैं कि उनका ऐसा करना सर्वदा स्वाभाविक एवं उचित है?

अपने आपको स्वाभाविक और उचित श्रम से मुक्त करके और श्रम का भार दूसरों के कंधों पर लाद कर भी यदि हम अपनेको चोर और धोखेबाज नहीं समझते तो इस सम्बन्ध में केवल दो ही धारणाएं बनाई जा सकती हैं—(१) हम लोग जो साधारण श्रम में भाग नहीं लेते, मजदूरों से भिन्न हैं और समाज में हमारा एक विशेष कार्य है, ठीक उसी तरह जैसे नर-मधुमक्खी या रानी-मधुमक्खी का काम परिश्रमी मधुमक्खियों से भिन्न होता है। (२) जीवन-संघर्ष से मुक्त होकर हमलोग दूसरों के लिए जो काम कर रहे हैं वह इतना उपयोगी है कि उससे निश्चिय ही उस क्षति की पूर्ति हो जाती है जो हम उनपर ज्यादा बोझ लादकर उन्हें पहुंचाते हैं।

पुराने जमाने में जो लोग दूसरों के श्रम का शोषण करते थे वे दो बातें कहा करते थे—एक तो यह कि वे एक विशिष्ट कुल के जीव हैं

और दूसरे यह कि उन्हें ईश्वर ने दूसरों के कल्याण की व्यवस्था करने और उन्हें शिक्षित बनाने के लिए विशेष रूप से यहां भेजा है। इसी धारणा से प्रेरित होकर वे दूसरों को आश्वासन देते थे और प्रायः स्वयं भी विश्वास करते थे कि जो कुछ वे कर रहे हैं वह उस श्रम की अपेक्षा, जिसका वे उपभोग करते हैं, जनता के लिए अधिक आवश्यक और महत्त्व-पूर्ण है। जबतक लोगों में यह विश्वास बना रहा कि मानव के विधान में ईश्वर का प्रत्यक्ष हाथ है और कुछ जातियां ऊंची व कुछ नीची होती हैं, तबतक यही तर्क चलता रहा। किंतु ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव होने पर और उसके फलस्वरूप समस्त मानव-समाज में समानता व एकता की भावना जागृत हो जाने पर यह तर्क इस रूप में नहीं चल सका। अब यह कहना सम्भव नहीं रह गया कि मनुष्यों के भिन्न-भिन्न कुल होते हैं, उनकी भिन्न-भिन्न विशेषताएं होती हैं और उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। स्वभावतः यह तर्क, जिसे कुछ लोग अब भी काम में लाते हैं, क्रमशः लुप्त होता गया और अब तो कदाचित् ही कहीं सुनाई देता है।

मनुष्य के विभिन्न कुलों के भेद की दलील तो अब जाती रही; किंतु यह बात अभी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है कि शक्तिशाली व्यक्ति अपने आपको श्रम से मुक्त रखकर दूसरों के श्रम का उपभोग करते हैं। इस वर्तमान स्थिति को उचित ठहराने के लिए बराबर बहाने गढ़े जाते हैं, ताकि मानव की वंश-विशेषता को स्वीकार किये बिना ही लोग अपने-आपको श्रम से वंचित रखना उचित समझ सकें। इस प्रकार के अनेक तर्क गढ़े गए हैं। यह बात विचित्र तो मालूम होती है किंतु है बिल्कुल सत्य कि जो कुछ भी विज्ञान के नाम से पुकारा जाता है उसका मुख्य उद्देश्य, उसकी मुख्य प्रवृत्ति ही ऐसे तर्क गढ़ने की रही है और अब भी है। धर्म-विज्ञान, न्याय-विज्ञान और तथा-कथित दर्शन-शास्त्र का भी यही उद्देश्य रहा है। इधर कुछ दिनों से यद्यपि इस तर्क को प्रयोग में लानेवाले लोगों को यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है।

जिन धार्मिक बारीकियों द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि एक विशेष सम्प्रदाय ही ईसा मसीह का सच्चा अनुयायी है और

इसलिए लोगों की आत्माओं तथा शरीरों पर उसका पूर्ण और असीमित अधिकार है—उन धार्मिक बारीकियों का मुख्य उद्देश्य ऐसा करना ही था। न्याय-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले राजनीतिक, फौजदारी, दीवानी और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का भी यही उद्देश्य है। इसी तरह अधिकांश दार्शनिक सिद्धान्त भी—विशेषतः हीगेल[1] का सिद्धान्त जिसकी बहुत दिनों तक मान्यता रही थी—यही बात सिद्ध करना चाहते हैं। हीगेल का मत था कि वर्तमान स्थिति उचित है और व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्यतन्त्र आवश्यक है।

बड़ी ही निम्न कोटि के एक अंग्रेज लेखक ने, जिसकी दूसरी पुस्तकों को लोग बिलकुल भूल गए हैं और तुच्छ-से-तुच्छ पुस्तकों से भी तुच्छ समझते हैं, जन-संख्या पर एक पुस्तक लिखी। उसमें उसने इस कृत्रिम सिद्धान्त का आविष्कार किया कि जन-संख्या की वृद्धि जीवनदायी साधनों की वृद्धि के अनुपात से नहीं होती। उसने अपने इस मिथ्या सिद्धान्त का वर्णन गणित के कुछ निर्मूल सूत्रों के रूप में किया और उसे संसार के सम्मुख ला उपस्थित किया। वह पुस्तक इतनी तुच्छ थी और उसमें योग्यता का इतना अधिक अभाव था कि उसे देखकर यही आशा की जा सकती थी कि उसकी ओर किसीका ध्यान आकर्षित नहीं होगा और वह पुस्तक लेखक की बाद की अन्य पुस्तकों के समान ही कूड़े के ढेर में डाल दी जायगी। इसके सर्वथा विपरीत, उस पुस्तक के लेखक की गणना तत्काल प्रामाणिक अर्थशास्त्रज्ञों में होने लगी और लगभग पचास वर्ष तक उसे वही सम्मान प्राप्त रहा। लेखक का नाम था माल्थस और उसका सिद्धान्त यह था कि जन-संख्या में तो गुणानुसार वृद्धि होती है, (जैसे २, ४, ८, १६) किन्तु जीवनोपयोगी साधन साधारण गणित की रीति के बढ़ते हैं (जैसे १, २, ३, ४)। माल्थस ने जन-संख्या को रोकने की प्राकृतिक और कृत्रिम विधियों पर भी प्रकाश डाला और उसकी सब

---

[1] **जार्ज विलहेल्म फ्रेडरिक हीगेल (१७७०-१८३१) प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक और प्रोफेसर, जिनका यह मत था कि जो सत्य है वही तर्क-संगत है और जो तर्कसंगत है वही सत्य है।**

बातें एकदम वैज्ञानिक तथा असंदिग्ध सत्य मानी जाने लगीं। इन्हें प्रयोग की कसौटी पर कसा नहीं गया बल्कि सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित करके भावी निष्कर्षों का आधार मान लिया गया। पंडित और शिक्षित लोगों ने इसी प्रकार काम किया और काहिल जनता में तो माल्थस द्वारा प्रतिपादित इस महान नियम के प्रति बड़ा श्रद्धापूर्ण विश्वास उत्पन्न हो गया।

ऐसा क्यों हुआ ? ये वैज्ञानिक निष्कर्ष तो ऐसे जान पड़ते हैं मानों उनका साधारण जनता की भावना से कोई सम्बन्ध ही न हो।

किन्तु ऐसा उसी व्यक्ति को प्रतीत होता है जो समझता है कि अर्थशास्त्र भी गिरजाघर के समान एक स्वयं-सिद्धि संस्था है जिससे कभी कोई भूल हो ही नहीं सकती। उसकी सम्मति में अर्थशास्त्र उन दुर्बल और भूल कर सकनेवाले व्यक्तियों का विचारमात्र नहीं है, जो महानता का प्रदर्शन भर करने के लिए अपने विचारों और शब्दों को 'विज्ञान' कहकर पुकारने लगते हैं।

यह जानने के लिए कि माल्थस का सिद्धान्त एक मनुष्य-कृत सिद्धान्त है और उसके कुछ निश्चित ध्येय हैं, केवल इस बात की आवश्यकता है कि हम उस सिद्धान्त से व्यावहारिक परिणाम निकालने की चेष्टा करें।

माल्थस के सिद्धान्त से जो प्रत्यक्ष निष्कर्ष निकले वे इस प्रकार थे—श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण धनी और शक्तिशाली वर्ग का अहंकार, निर्दयता और सहानुभूति का अभाव नहीं है, बल्कि एक ऐसा स्थायी नियम है जिसमें मनुष्य का कोई हाथ नहीं और जिसका दोष यदि किसी पर है तो स्वयं भूखे मजदूरों पर। जब वे जानते हैं कि उनको खाने को कुछ नहीं मिलेगा तो वे जन्म लेने की मूर्खता ही क्यों करते हैं ? अतः धनी और समर्थ लोगों का कोई दोष नहीं, वे पहले की ही तरह शान्तिपूर्वक जीवन बिताते रह सकते हैं।

यह निष्कर्ष आलसी वर्ग के लिए इतना बहुमूल्य था कि समस्त शिक्षित-समाज में उसकी प्रामाणिकता की रत्तीभर भी चिन्ता नहीं की गई और न उसकी अशुद्धता तथा पूर्णतः अवैध रूप पर भी ध्यान दिया गया। शिक्षितों—या यों कहिए कि काहिलों—को जैसे ही इस

सिद्धान्त के भावी फल का पूर्वाभास मिला वैसे ही उन्होंने उसकी बड़े उत्साह के साथ सराहना की, उसपर सत्य अर्थात् अर्थशास्त्र की मोहर लगाई और पचास वर्ष तक उसका खूब ढिंढोरा पीटा।

काम्टे[1] का साकारवाद (Positivism) और उससे निकला हुआ यह सिद्धान्त कि समाज एक विराट शरीर के समान है; डार्विन[2] का जीवन-संघर्ष का सिद्धान्त, जिसके अनुसार माना जाता है कि यह संघर्ष ही जीवन का संचालन करता है और मानव-समाज की वंश-विभिन्नता का प्रतिपादन करता है; इसके अलावा मानस-शास्त्र, जीव-शास्त्र और आजकल के लोगों को बहुत पसन्द आनेवाला समाज-शास्त्र—इन सब का भी वही ध्येय है। इन सब शास्त्रों के लोकप्रिय होने का कारण यही है कि वे उस विधि को न्यायोचित घोषित करते हैं जिसके अनुसार लोग अपनेको श्रम-विषयक मानवीय कर्त्तव्य से मुक्त कर लेते हैं और दूसरे लोगों के श्रम के प्रतिफल का छक-छककर उपभोग करते हैं।

जैसा कि सदा से होता आया है, इन सिद्धान्तों का निर्माण सर्वप्रथम पुरोहितों की गुप्त गुफाओं में हुआ। उसके बाद ये अनिश्चित और अस्पष्ट रूप में जन-साधारण में फैल गए और लोगों ने इन्हें इसी रूप में स्वीकार कर लिया। जिस प्रकार पुरातन काल में धर्म-पंडितों और राज्य द्वारा की गई हिंसा का समर्थन करनेवाली धार्मिक सूक्ष्मताओं का ज्ञान विशेष रूप से केवल पुरोहितों को होता था और जन-साधारण में केवल यह गढ़ा-गढ़ाया सिद्धान्त प्रचलित था कि राजाओं, पुरोहितों और कुलीनों की सत्ता एक पवित्र सत्ता है और जनता ने इस सिद्धान्त को

---

[1] आगस्ट काम्टे (१७९८-१८५७) प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक और साकारवादी जीवन-सिद्धान्त का प्रवर्तक। काम्टे का मत था कि मनुष्य केवल गोचर पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और वह ज्ञान सम्पूर्ण नहीं बल्कि अपेक्षाकृत होता है।

[2] चार्ल्स राबर्ट डार्विन (१८०९-१८८२) जगत्प्रसिद्ध ब्रिटिश विज्ञानवेत्ता, जिनका विकासवादी सिद्धान्त अभी कुछ समय पहले तक मान्य रहा है।

स्वीकार भी कर लिया था, उसी प्रकार बाद में तथाकथित शास्त्र की दार्शनिक और कानूनी बारीकियों का परिचय केवल शास्त्र-पारंगत पुरोहितों को रहा और जन-साधारण में केवल यह सिद्धान्त प्रचलित रहा कि समाज का संगठन वैसा ही होना चाहिए जैसा है और वह इसके विपरीत हो ही नहीं सकता। जनता ने इस सिद्धान्त को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया था।

यही दशा आज भी है। मानव-जीवन और शारीरिक विकास के नियमों का विश्लेषण आजकल केवल वैज्ञानिक पुरोहितों की गुफाओं में किया जाता है। जहाँतक जनता का प्रश्न है, वह तो विश्वासपूर्वक यह निष्कर्ष स्वीकार कर लेती है कि श्रम-विभाजन का नियम अर्थशास्त्र द्वारा प्रमाणित नियम है, इसलिए व्यवस्था उसीके अनुसार होनी चाहिए, अर्थात कुछ लोग तो काम करते-करते और भूखों तड़फ-तड़फकर मर जायं और कुछ लोग सदा आनन्द उड़ायें। इस प्रकार कुछ लोगों का चक्की में पिसते रहना और कुछ लोगों का मौज उड़ाना ही मानव-जीवन का असंदिग्ध नियम है जिसे हम सबको स्वीकार कर लेना चाहिए।

शिक्षित कहे जानेवाले सब लोगों में—रेलवे-कर्मचारियों से लेकर लेखकों और कलाकारों तक में—इस काहिली की अब जो सफाई दी जाती है वह इस प्रकार है—

हम लोग, जिन्होंने अपने-आपको जीवन-संघर्ष के सामान्य मानवीय कर्त्तव्य से मुक्त कर लिया है, संसार की उन्नति करने में लगे हुए हैं; इसलिए हम समस्त मानव-समाज की ऐसी सेवा कर रहे है जिससे उन समस्त क्षतियों की पूर्ति हो जाती है जो हम दूसरों को उनके श्रम का शोषण करके पहुँचाते हैं।

हमारे युग के लोगों को यह तर्क उस तर्क से भिन्न प्रतीत होता है जिसके बल पर पुरातन काल के अकर्मण्य व्यक्ति अपनी अकर्मण्यता का औचित्य सिद्ध किया करते थे। हम लोगों को यह तर्क वैसा ही लगता है जैसा रोमन सम्राटों और नागरिकों को अपना यह तर्क कि उनके बिना समस्त सभ्य संसार का विनाश हो जायगा, मिस्रियों तथा ईरानियों के तर्क से सर्वथा भिन्न जान पड़ता था, या जैसाकि इसी प्रकार का तर्क मध्य-

कालीन सामंतों और पुरोहितों को रोमनों के तर्क ृथक मालूम देता था।

किन्तु यह भेद केवल ऊपरी है। यदि हम अपने वर्तमान तर्क के सार की परीक्षा करें तो हमें यह तत्काल विश्वास हो जायगा कि इस तर्क में कोई नई बात नहीं है; इसपर थोड़ा-सा रंग चढ़ा हुआ है, किन्तु है यह वही वस्तु क्योंकि दोनों का आधार एक ही है। अपने-आप काम न कर दूसरों के श्रम के उपभोग को उचित ठहराने का प्रत्येक प्रयत्न—वह फ़राऊन और उसके पुरोहितों का हो, चाहे रोमन और मध्यकालीन राजाओं, सामन्तों, पुरोहितों और पादरियों का—सदा ही दो धारणाओं पर अवलम्बित था—(१) हम लोग जनता के परिश्रम का उपभोग इसलिए करते हैं कि हम विशिष्ट व्यक्ति हैं और ईश्वर ने हमपर सर्वसाधारण पर शासन करने तथा उसे दैवी सत्य सिखाने का उत्तरदायित्व डाला है, (२) सर्वसाधारण में से कोई भी व्यक्ति यह निश्चय करने योग्य नहीं कि सर्वसाधारण से कितना काम कराया जाय, क्योंकि (जैसा कि फ़ेरीसियों ने पहले ही कहा था) "यह जन-समुदाय जो कानून से अनभिज्ञ है, अभिशापित है" (जॉन, ७-४६)। साधारण जनता यह नहीं समझ सकती कि उसका हित किस बात में है, इसलिए वह अपने साथ किये गए उपकारों का भी निर्णायक नहीं बन सकती।

आजकल जो सफाई दी जाती है वह मुख्यतः इन्हीं दो मूल धारणाओं पर अवलम्बित है—(१) हम लोग एक विशिष्ट वर्ग के शिक्षित व्यक्ति हैं; हम संसार की सभ्यता और उन्नति में हाथ बंटाकर सर्वसाधारण का महान उपकार करते हैं, (२) अशिक्षित जनता अपने ऊपर किये गए उपकारों को नहीं समझती और इसलिए वह उनकी निर्णायक भी नहीं बन सकती।

श्रम के बोझ से हम अपने-आपको मुक्त कर लेते हैं, किन्तु दूसरों के श्रम का उपभोग कर उनके जीवन का बोझ बढ़ा देते हैं। फिर भी हम दावा करते हैं कि इसके बदले हम उनका बड़ा उपकार करते हैं, जिसका वे अपने अज्ञान के कारण मूल्य नहीं आंक सकते।

क्या यह भी वैसा ही तर्क नहीं है? अंतर केवल इतना है कि प्राचीन काल में दूसरों के श्रम का उपभोग करने का अधिकार रोमन नागरिकों,

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE

पुरोहितों, वीरों और सामंतों को था और आजकल यह अधिकार एक ऐसे वर्ग को है जो अपनेको शिक्षित कहता है। इसमें भी वही अशुद्धि है जो पहले में थी। अशुद्धि इस बात में है कि श्रम से मुक्त होनेवाले व्यक्तियों द्वारा जनता के प्रति किये गए उपकारों के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करने से पूर्व ही कुछ लोग—उदाहरणतः फराऊन, पुरोहित या हम-जैसे शिक्षित व्यक्ति—अपनेको कथित उपकार के पद का अधिकारी बना लेते हैं और उस अधिकार को अक्षुण्ण रखते हुए उसकी सफाई देने की युक्ति सोचते हैं।

इस प्रकार कुछ व्यक्तियों का दूसरे व्यक्तियों के साथ मनमानी करने की स्थिति में होना ही सारी बातों की जड़ है। यही स्थिति पहले थी और यही स्थिति अब भी है। तब में और अब में एकमात्र अन्तर यह है कि आजकल का तर्क प्राचीन युग के तर्क से अधिक मिथ्या और कम सुदृढ़ है।

प्राचीन काल के सम्राट् और धर्माचार्य अपनेको ईश्वर का दूत मानते थे और जनता भी उन्हें इसी रूपमें स्वीकार करती थी। इसलिए वे सर्वसाधारण को बड़ी सरलता के साथ समझा सकते थे कि दूसरों के श्रम का उपभोग करने का अधिकार उन्हें ही—सम्राटों और धर्माचार्यों को ही—होना चाहिए। उनका कहना था कि स्वयं ईश्वर ने हमें इस काम के लिए नियुक्त किया है और आदेश दिया है कि जिस सत्य का प्रकाश मैंने तुझे दिखाया है उसे तू जनता पर प्रकट कर और उसपर शासन भी कर।

किंतु हमारे युग के शिक्षित लोग, जो मानव के समानाधिकारों को स्वीकार करते हुए भी अपने हाथों से काम नहीं करते, इस बात का सकारण प्रमाण नहीं दे सकते कि केवल उन्हें और उनके बच्चों को ही किसी विशेष उपकार को प्रदान करनेवाला विशिष्ट और भाग्यशाली वर्ग क्यों समझा जाय और उन लाखों आदमियों में से किसीको क्यों न चुना जाय जो कुछ थोड़े-से व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या में मर-मिटते हैं ? (ध्यान रहे कि शिक्षा भी केवल रुपए से ही प्राप्त होती है और रुपया शक्ति है) !

इसका उनके पास एक ही उत्तर है—वह यह कि स्वयं काम न करके

श्रौर दूसरों के श्रम का उपभोग करके हम उनको जो हानि पहुँचाते हैं उसके बदले हम उनके साथ एक ऐसा उपकार करते हैं जिसे वे समझ नहीं पाते किंतु जिससे सारी क्षतियों की पूर्ति हो जाती है।

: २७ :

भयंकर भ्रम

जो लोग श्रपनेको परिश्रम से मुक्त कर चुके हैं वे श्रपनी सफाई में जो दलील देते हैं, उसका सरलतम श्रौर बिलकुल ठीक-ठीक रूप यह है—हम लोग श्रपने-आपको श्रम से बचाकर बलात दूसरों के श्रम का उपभोग करते हैं श्रौर श्रपनी इसी स्थिति के फलस्वरूप हम उनके साथ उपकार करते हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ लोग जनता के श्रम से बलात् लाभ उठाकर श्रौर इस प्रकार प्रकृति के साथ उसके संघर्ष को श्रौर भी गम्भीर बनाकर उसे जो प्रत्यक्ष श्रौर बोधगम्य हानि पहुँचाते हैं, उसके बदले वे उसके साथ कुछ ऐसे उपकार करते हैं जो न तो उसे प्रत्यक्ष दिखलाई ही पड़ते हैं, न उसकी समझ में ही श्राते हैं। यह बात बड़ी विचित्र है, किंतु जो लोग पुरातनकालीन व्यक्तियों की तरह श्राज भी मजदूरों का शोषण करते हैं, वे इस शोषण में विश्वास करते हैं श्रौर इस तर्क द्वारा श्रपनी श्रात्मा का बोझ हलका कर लेते हैं।

श्राइए, जरा देखें कि वर्त्तमान काल में जिन विभिन्न वर्गों ने श्रपने-श्रापको श्रम से मुक्त कर लिया है वे श्रपनी सफाई में क्या कहते हैं?

वे कहते हैं—एक राजा, मंत्री या पादरी की हैसियत से मैं श्रपने सरकारी या धार्मिक कार्यों द्वारा जनता की सेवा करता हूं। इसी तरह मैं श्रपनी व्यावसायिक, श्रौद्योगिक, वैज्ञानिक या कलात्मक चेष्टाश्रों से भी सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाता है। हमारी ये समस्त क्रियाएं जनता के लिए उतनी ही श्रावश्यक हैं जितनी उनकी मजदूरी हमारे लिए है।

श्रब एक-एक करके उन तर्कों की समीक्षा की जाय जिनके श्राधार पर ये लोग श्रपने कार्यों की उपयोगिता सिद्ध करते हैं।

एक व्यक्ति का काम दूसरे के लिए उपयोगी है श्रथवा नहीं, इसकी

जांच केवल दो ही कसौटियों पर हो सकती है—(१) बाहरी कसौटी अर्थात् जिसका उपकार किया जाता है वह उस उपकार की उपयोगिता को स्वीकार करे; (२) भीतरी कसौटी अर्थात् जो आदमी उपकार करता है उसके इस कार्य के मूल में उपकार की भावना हो।

सरकारी कर्मचारी (जिनमें मैं राज्य द्वारा स्थापित गिरजाघरों के पादरियों को भी सम्मिलित करता हूं) उन लोगों का उपकार करते हैं जिनपर वे शासन करते हैं। सम्राट्, राजा, प्रजातंत्र के राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, न्याय-मंत्री, युद्ध-मंत्री, शिक्षा-मंत्री, बड़े पादरी और उनके नीचे काम करनेवाले अन्य सरकारी कर्मचारी अपने-आपको जीवन के संघर्ष से मुक्त कर लेते हैं। वे कहते हैं कि अपने विभिन्न पदों पर रहते हुए हम जनता की जो सेवा करते हैं उससे उपयुक्त क्षति की पूर्ति हो जाती है।

अब हम उनके इस कथन को पहली कसौटी पर कसकर देखते हैं। शासक वर्ग के सारे काम प्रत्यक्ष रूप से मजदूरों को ही लक्ष्य करके किये जाते हैं; किंतु, क्या मजदूर लोग यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें शासकों के कार्य से कोई लाभ होता है ?

हां, वे इस बात को स्वीकार करते हैं। अधिकांश लोग राज्यतन्त्र को अपने लिए आवश्यक समझते हैं और सैद्धांतिक दृष्टि से वे उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार करते हैं। किन्तु उसके व्यावहारिक रूप को हम जितना भी देख पाए हैं और जितनी भी विशिष्ट घटनाओं से हम परिचित हैं, उन सबमें हमने यही देखा है कि जिन लोगों के उपकार के लिए सरकारी संस्थाएं चलाई जाती हैं और ये काम किये जाते हैं वे न केवल यही कहते हैं कि उन्हें इन संस्थाओं और इन कामों से कोई लाभ नहीं पहुँचता बल्कि वे इन्हें हानिकारक और विनाशकारी भी बताते हैं।

राज्य अथवा समाज का एक भी कार्य ऐसा नहीं जिसे बहुत-से लोग हानिकर न समझते हों। इसी तरह एक भी ऐसी संस्था नहीं जिसे लोग नुकसानदे न मानते हों; अदालतों, बैंकों, म्युनिसिपैलिटियों, डिस्ट्रक्ट-बोर्डों, पुलिस, पादरियों, राज्य के बड़े-से-बड़े अधिकारियों से लेकर नगर तथा ग्राम की पुलिस तक, बड़े धर्म-गुरुओं से लेकर कब्र खोदनेवालों तक के कार्य को कुछ लोग लाभदायक और कुछ हानिकारक मानते हैं और

यह बात केवल रूस में ही नहीं है बल्कि फ्रांस और अमरीका में भी है।

अमरीका में रिपब्लिकन दल के सारे काम को डेमोक्रेटिक दल हानिकर समझता है और इसी प्रकार शासन की बागडोर जब डेमोक्रेटिक दल के हाथ में होती है तब रिपब्लिकन दल[1] के लोग और दूसरे लोग भी उसके सारे काम को बुरा समझते हैं।

बात इतनी ही नहीं है कि सरकारी कामों को साधारणतः सभी लोग उपयोगी नहीं समझते, बल्कि यह भी कि उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करना पड़ता है और उनसे लोगों का उपकार करने के लिए हत्याएं, फांसी, जेल, करों की बलात् वसूली आदि बातें आवश्यक हो जाती हैं।

इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं, एक तो यह कि सभी लोग सरकारी कार्य की उपयोगिता को स्वीकार नहीं करते और कुछ लोग उसे सदा अस्वीकार करते हैं; दूसरे यह कि उस उपयोगिता की विशेषता इस बात में निहित है कि वह सदा हिंसात्मक प्रयोगों द्वारा ही प्राप्त होती है। अतः राजनीतिक कार्यों की उपयोगिता के प्रमाण में यह बात नहीं कही जा सकती कि जिनके लिए ये किये जाते हैं वे इनकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

अब दूसरी कसौटी का भी प्रयोग कर देखिए। राजा से लेकर पुलिसमैन तक, राष्ट्रपति से लेकर आफिस के क्लर्क तक और धर्म-गुरु से लेकर कब्र खोदनेवाले तक सब सरकारी आदमियों से कहिए कि वे यह बात सच्चे हृदय से बतलायें कि पद-ग्रहण करते समय उनके मन में जनता के साथ उपकार करने की भावना होती है या कोई दूसरा उद्देश्य। राजा, राष्ट्रपति, मंत्री, ग्रामीण, चौकीदार, महापात्र या अध्यापक का पद ग्रहण करने की उनकी इच्छा परोपकार की भावना से प्रेरित होती है या वे निजी लाभ के लिए ही इन पदों को ग्रहण करना चाहते हैं ?

शुद्ध अन्तःकरणवाले व्यक्ति यही उत्तर देंगे कि उनके सारे कार्य मुख्यतः व्यक्तिगत लाभ की भावना से ही प्रेरित होते हैं। इस प्रकार

---

[1] **ये दोनों दल अमरीका के प्रमुख राजनीतिक दल हैं।**

हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के काम करते-करते मर-मिटनेवाले लोगों के श्रम से लाभ उठाकर जो हानि पहुंचाते हैं उसकी पूर्ति वे ऐसे काम से करते हैं जिसको बहुत-से लोग लाभदायक नहीं बल्कि हानिकर समझते हैं; जिसे लोग स्वेच्छापूर्वक स्वीकार नहीं करते, बल्कि जिसे कार्यान्वित करने के लिए बल का प्रयोग करना पड़ता है और जिसका उद्देश्य परोपकार नहीं बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थ होता है।

तो फिर वह कौन-सी बात है जो राजतंत्र को जनता के लिए उपयोगी सिद्ध करती है ?

केवल एक बात; वह यह कि जो लोग राजतंत्र का संचालन करते हैं उन्हें उसकी उपादेयता में पूर्ण विश्वास है और राजतंत्र सदा से चला आया है। किंतु सदा से चले आने की बात तो यह है कि दासता, वेश्या-वृत्ति और युद्ध आदि भी सदा से चले आते हैं, किंतु वे न केवल निरर्थक बल्कि हानिकारक भी हैं। औद्योगिक वर्ग जिसमें व्यापारी, कारखानेदार, रेलों और सड़कों के संचालक, महाजन और जमींदार भी सम्मिलित हैं— यह विश्वास रखते हैं कि वे जनता का इतना उपकार करते हैं कि उससे उनके द्वारा की गई समस्त असंदिग्ध हानियां पूर्ण हो जाती हैं।

उनके इस विश्वास का क्या आधार है ? कौन और किस वर्ग के लोग उनके कार्य की उपादेयता स्वीकार करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में राज्य-कर्मचारी, जिनमें पादरी लोग भी सम्मिलित हैं, उन हजारों और लाखों मजदूरों की ओर संकेत कर सकते हैं जो सिद्धांततः सरकार तथा गिरजा के कामों की उपादेयता को स्वीकार करते हैं। किंतु बड़े-बड़े महाजन, शराब बनानेवाले और मखमल, कांसे तथा शीशे का काम करने-वाले—तोप बनानेवालों की तो बात ही छोड़ दीजिए—किसकी ओर संकेत करेंगे ? इसी प्रकार जब व्यापारियों और जमींदारों से पूछा जायगा कि क्या आपके द्वारा किये जानेवाले लाभों को लोकमत स्वीकार करता है तो वे किसकी ओर इंगित करेंगे ?

यदि इस संसार में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो छींट, रेल, शराब और ऐसी ही दूसरी वस्तुओं के उत्पादन को लाभदायक समझते हैं तो उनसे कहीं अधिक ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो इनके उत्पादन को हानिकर मानते

हैं। कीमत बढ़ानेवाले जमींदारों और व्यापारियों के कार्य का भला कौन समर्थन करेगा ? ऐसे कामों से मजदूरों की सदा हानि ही होती है और उनके संचालन में हिंसा का भी प्रयोग किया जाता है। यह हिंसा राजकीय हिंसा की अपेक्षा कम उग्र होती है किंतु इसके परिणाम उतने ही क्रूर होते हैं, क्योंकि सारे औद्योगिक और व्यापारिक कार्य मजदूरों की आवश्यकताओं से लाभ उठाकर चलाए जाते हैं। उनकी आवश्यकताओं से लाभ उठाकर एक ओर तो उन्हें कठिन और अप्रिय कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है और दूसरी ओर उनकी चीजें सस्ते दामों पर खरीद ली जाती हैं और जनता को उनकी आवश्यकता की चीजें ऊंचे-से-ऊंचे भाव पर दी जाती हैं। उनकी इन्हीं आवश्यकताओं से लाभ उठाकर उधार दिये हुए रुपयों का ब्याज वसूल किया जाता है। उनके कार्यों पर चाहे किसी भी दृष्टिकोण से विचार किया जाय हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि औद्योगिक वर्ग द्वारा किये गए उपकार को मजदूर लोग न तो सिद्धांत की दृष्टि से और न किसी विशिष्ट मामले में ही स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि उनमें से अधिकांश लोग उसे नितांत हानिकर मानते हैं।

यदि हम दूसरी कसौटी का प्रयोग करें और पूछें कि औद्योगिक वर्ग के कार्यों की प्रेरक शक्ति क्या है तो हमें जो उत्तर मिलेगा वह शासकों के कार्यों के विषय में मिले हुए उत्तर से भी अधिक स्पष्ट होगा।

यदि कोई सरकारी कर्मचारी कहता है कि उसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के साथ लोकहित की चिंता करनी पड़ती है तो उसका विश्वास करना ही पड़ता है और ऐसे आदमी को सब लोग जानते हैं। किंतु व्यवसाय के आधारभूत सिद्धान्त के कारण उद्योगपति लोकहित को अपना उद्देश्य नहीं बना सकते और यदि वे धन की वृद्धि और रक्षा के अतिरिक्त अपने सामने कोई दूसरा उद्देश्य रखें तो अपने साथियों की दृष्टि में वे हास्यास्पद प्रतीत होंगे।

अतः मजदूर लोग उद्योगपतियों के कार्य को अपने लिए उपयोगी नहीं मानते। इनके इस कार्य में मजदूरों के विरुद्ध बल अथवा हिंसा का प्रयोग किया जाता है और उस कार्य का उद्देश्य मजदूरों का उपकार

नहीं बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्त्ति होता है। तिसपर भी आश्चर्य की बात है कि उद्योगपतियों को अपने द्वारा किये जानेवाले उपकारों की उपयोगिता का इतना अधिक विश्वास है कि इन कल्पित उपकारों के लिए वे अपने-आपको श्रम से मुक्त करके और श्रमिकों के श्रम से उत्पन्न हुए पदार्थों का उपभोग करके उनको स्पष्ट और असंदिग्ध हानि पहुँचाते हैं।

वैज्ञानिकों और कलाविदों ने भी अपने-आपको श्रम से मुक्त करके उसका बोझ दूसरों पर डाल दिया है। उनका अन्तःकरण शांत होता है और उनको इस बात का पूर्ण विश्वास होता है कि वे दूसरों के साथ ऐसे उपकार कर रहे हैं जिनसे उनके द्वारा की गई हानि की पूर्ति हो जाती है।

उनके इस विश्वास का आधार क्या है ?

जिस तरह हमने सरकारी कर्मचारियों और उद्योगपतियों से पूछा था, उसी तरह हमें इनसे भी पूछना चाहिए कि क्या सारे मजदूर (या उनमें से कुछ लोग ही सही) विज्ञान-कला से प्राप्त होनेवाले उपकारों को स्वीकार करते हैं ?

इसका हमें बड़ा ही दुःखदाई उत्तर मिलेगा।

शासकों और पादरियों के कार्य को प्रायः सभी लोग सैद्धांतिक दृष्टि से उपयोगी मानते हैं और व्यवहार में भी आधे से अधिक मजदूर उसे ऐसा ही समझते हैं। उद्योग धंधेवालों के कार्य को भी कुछ मजदूर उपयोगी मानते हैं। किन्तु वैज्ञानिकों और कलाविदों के कार्य की उपयोगिता एक भी मजदूर स्वीकार नहीं करता। इसकी उपादेयता केवल वे लोग स्वीकार करते हैं जो इसे कर रहे हैं या करते रहना चाहते हैं। श्रमिक लोग, जिनके कंधों पर समस्त मानव-जीवन के श्रम का भार होता है और जो वैज्ञानिकों तथा कलाविदों के भोजन-वस्त्र का प्रबंध करते हैं, इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते कि वैज्ञानिकों और कलाविदों के कार्य से उनको कोई लाभ होता है; क्योंकि वे इस कार्य की, जो उनके लिए इतना उपयोगी कहा जाता है, कल्पना तक नहीं कर सकते। यह कार्य उनको निरर्थक और आचार को भ्रष्ट करनेवाला मालूम पड़ता है।

ठीक ऐसा ही वे विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों, संग्रहालयों, चित्र-शालाओं, शिल्पशालाओं और नाटकगृहों के विषय में भी सोचते हैं जो उनके पैसे से बनाए जाते हैं। विज्ञान और कला-सम्बन्धी कार्य को तो वे इतने निश्चित रूप से हानिकर समझते हैं कि अपने बच्चों को स्कूल तक नहीं भेजते। जनता को इसकी उपयोगिता समझाने के लिए और उसे अपने बच्चों को अनिवार्य रूप से स्कूल भेजने को विवश करने के लिए हर जगह कानून बनाने की आवश्यकता पड़ी है। मजदूर इस कार्य को सदा विरोध की दृष्टि से देखते हैं और ऐसा करना वे तभी बंद कर सकते हैं जब वे स्वयं मजदूर न रह जायं और पहले आर्थिक लाभ तथा बाद में शिक्षा कही जानेवाली वस्तु की सहायता से वे श्रमिक वर्ग से निकलकर उन लोगों के वर्ग में आ जायं जो दूसरों की पीठ पर चढ़े रहते हैं। फिर भी, यद्यपि मजदूर लोग वैज्ञानिकों और कलाविदों के काम की उपादेयता को स्वीकार नहीं करते—और कर भी नहीं सकते—तथापि उन्हें इस बात के लिए बाध्य किया जाता है कि वे इस कार्य के लाभार्थ त्याग करें।

शासक-वर्ग के लोग आदमियों को सीधे फांसी पर लटकवा देते हैं या जेल भेज देते हैं। व्यापारी लोग दूसरों के श्रम का शोषण कर उनकी कौड़ी-कौड़ी छीन लेते हैं और उनके सामने यह समस्या ला खड़ी करते हैं कि या तो वे भूखों मरें या घृणित दासता स्वीकार करें। किंतु वैज्ञानिक और कलाविद् किसीको विवश नहीं करते। वे तो अपनी कृति केवल उन लोगों के सामने रखते हैं जो उन्हें ग्रहण करते हैं। फिर भी अपनी उस कृति को जन्म देने के निमित्त, जिसकी मजदूरों को बिलकुल आवश्यकता नहीं होती, वे विद्यापीठों, विश्वविद्यालयों, हाईस्कूलों, प्राथमिक पाठशालाओं, अजायबघरों, पुस्तकालयों और संग्रहालयों के निर्माण एवं संचालन तथा वैज्ञानिकों और कलाविदों के निर्वाह के लिए सरकारी एजेन्टों द्वारा मजदूरों का अधिकांश श्रम जबरदस्ती छिनवा लेते हैं।

यदि हम वैज्ञानिकों और कलाकारों से पूछें कि आप किस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर अपना काम करते हैं तो हमें बड़े मार्के के उत्तर मिलेंगे। सरकार से सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्य यह उत्तर दे सकते हैं कि

वे जनता के कल्याण को दृष्टि में रखकर कार्य करते हैं। इस उत्तर में तथ्यांश भी होता है, जिसका लोकमत भी समर्थन करता है। उद्योगपति भी सार्वजनिक हित को ही अपना उद्देश्य बतला सकते हैं किंतु उसमें कल्याण-भावना के विद्यमान होने की कम सम्भावना है, यद्यपि समर्थन उसे भी मिल सकता है।

किंतु वैज्ञानिकों और कलाकारों का उत्तर तो आश्चर्यजनक रूप से निराधार और हठपूर्ण है। बिना किसी प्रकार का प्रमाण दिये ही वे पुराने युग के पुरोहितों की तरह कहा करते हैं कि समाज के कल्याण के लिए उनका काम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है और यदि वे काम न करें तो समस्त मानव-समाज विनष्ट हो जाय। यद्यपि उनके सिवा कोई दूसरा आदमी उनके काम की महत्ता को समझता या स्वीकार नहीं करता और यद्यपि स्वयं उनकी परिभाषा के अनुसार सच्चे विज्ञान और सच्ची कला का उद्देश्य उपादेयता नहीं है, तथापि वे अपने कार्य का गुण गाए बिना नहीं रहते। इस बात की चिंता किये बिना ही कि उनके काम से जनता को लाभ होगा या नहीं, वे अपने प्रिय व्यसनों में लगे रहते हैं और उन्हें सदा यह विश्वास रहता है कि वे समाज के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार जहां एक ईमानदार सरकारी कर्मचारी यह मानता है कि उसके काम का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ है और फिर भी वह मजदूरों के लिए यथासाध्य उपयोगी बनने का प्रयत्न करता है और इसी तरह जहां व्यवसायी भी अपने कार्य की स्वार्थ-परायणता को स्वीकार करता हुआ उसको सार्वजनिक उपयोगिता का रूप देने की चेष्टा करता है, वहां वैज्ञानिक और कलाकार को न केवल अपने कार्य की उपयोगिता बल्कि उसकी पवित्रता का भी इतना पक्का विश्वास होता है कि वे अपनेको उपयोगी बनाने की चेष्टा करने का दिखावा करना आवश्यक नहीं समझते और उपयोगितावाद के सिद्धांत को अस्वीकार तक कर देते हैं।

अतएव हम देखते हैं कि एक तीसरी श्रेणी के लोग अपनेको श्रम से मुक्त करके और उसका भार दूसरों पर लादकर ऐसे कामों में लग रहे हैं जिनको मजदूर-वर्ग समझ ही नहीं पाते हैं और जिनको वे निरर्थक तथा

बहुधा हानिकारक मानते हैं। इन कामों को करते समय उन्हें अपनेको जनता के लिए उपयोगी बनाने की रत्तीभर भी चिंता नहीं होती; वे सब कुछ स्वांतः सुखाय करते हैं फिर भी किसी कारणवश उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास होता है कि उनका कार्य मजदूरों के जीवन के लिए सदा नितांत आवश्यक है।

लोगों ने अपने-आपको जीवन-श्रम से मुक्त कर लिया है और उसका भार उन बेचारों पर लाद दिया है जो चक्की पीसते-पीसते ही दम तोड़ देते हैं। वे उनके श्रम का शोषण करते हैं और कहते हैं कि उनके काम, जो लोगों की समझ में नहीं आते और जिनका उद्देश्य दूसरों की सेवा करना नहीं है, ऐसे होते हैं जिनसे उस हानि की पूर्ति हो जाती है जो वे अपने-आपको जीवन-श्रम से मुक्त करके और दूसरों के श्रम का उपभोग करके दूसरों को पहुँचाते हैं।

सरकारी कर्मचारी दूसरों के श्रम का शोषण करके और स्वयं अपने-आपको जीवन-संघर्ष से मुक्त करके जो असंदिग्ध और स्पष्ट हानि पहुँचाते हैं उसकी पूर्ति करने की चेष्टा करते समय वे एक दूसरी स्पष्ट और असंदिग्ध हानि कर बैठते हैं और वह हानि है सब प्रकार के बल का प्रयोग।

उद्योगपति दूसरों के श्रम के प्रतिफल को हड़पकर उन्हें जो असंदिग्ध और स्पष्ट हानि पहुँचाते हैं उसकी पूर्ति करने के अभिप्राय से वे अपने लिए अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करने की चेष्टा करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि वे दूसरों का अधिक-से-अधिक श्रम ले लेते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि वे दूसरों के अधिक-से-अधिक श्रम का शोषण करते हैं।

इसी प्रकार वैज्ञानिक और कलाकार भी अपने द्वारा मजदूरों को पहुँचाई गई निर्विवाद और स्पष्ट क्षति के बदले ऐसे काम करते हैं जो मजदूरों के लिए बोधगम्य नहीं है और जो स्वयं उनके ही कथनानुसार सत्य तभी हो सकते हैं जब वे उपयोगिता को लक्ष्य मानकर न किये जायं; किंतु फिर भी जिनकी ओर वे बरबस आकर्षित हो ही जाते हैं। इस प्रकार इन सब लोगों को यह अटल विश्वास हो गया है कि दूसरों के श्रम

का उपभोग करने का उन्हें असंदिग्ध अधिकार है।

अतः यह स्पष्ट है कि जिन लोगों ने अपनेको जीवन-श्रम से मुक्त कर लिया है उनके ऐसा करने का कोई कारण नहीं है। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हें अपनी सफलता पर पक्का विश्वास होता है और वे आत्मिक निश्चिंतता के साथ जीवन व्यतीत करते हैं।

इस भयंकर भ्रम की तह में कोई बात, कोई झूठा सिद्धान्त अवश्य है।

: २८ :

श्रम से बचने के बहाने

जो लोग दूसरों के श्रम पर जीवन व्यतीत करते हैं उनका आधार वस्तुतः कोई छोटा-मोटा विश्वास नहीं बल्कि एक पूरा सिद्धान्त होता है। एक सिद्धान्त क्यों, सच पूछिए तो तीन सिद्धान्त होते हैं जिनका एक दूसरे के बाद कई शताब्दियों से विकास होता आया है और जिन्होंने अब समन्वित होकर एक भीषण धोखे अथवा पाखण्ड का रूप धारण कर लिया है। इसी पाखण्ड ने दूसरों के श्रम पर जीवन व्यतीत करनेवालों की अनैतिकता पर आवरण डाल रखा है।

जीविकोपार्जन के लिए श्रम करना मनुष्य का मूलभूत कर्त्तव्य है, किन्तु इस कर्त्तव्य की अवहेलना का समर्थन इस संसार के जिस सबसे पुराने सिद्धान्त ने किया वह था ईसाई गिरजा का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त में बताया गया था कि जिस प्रकार चन्द्रमा और तारों से सूर्य भिन्न है और स्वयं तारों में भी परस्पर विभिन्नता है, उसी प्रकार ईश्वर के आदेशानुसार मनुष्य-मनुष्य में भी भिन्नता है। कुछ लोगों को ईश्वर ने सब पर, कुछ को बहुतों पर और कुछ को थोड़ों पर शासन करने के लिए नियुक्त किया है और शेष आदेश पालने के लिए बनाए गए हैं।

यद्यपि इस सिद्धान्त की जड़ें अब हिल गई हैं तथापि अकर्मण्यता के कारण लोगों पर इसका प्रभाव अब भी शेष है। फलतः अनेक व्यक्ति इसकी शिक्षा को स्वीकार न करते हुए और बहुधा इससे अपरिचित तक होते हुए भी इसीका अनुसरण करते है।

वर्ग-भेद का औचित्य ठहरानेवाले दूसरे सिद्धान्त को मैं राज्य-दर्शन का नाम देना उचित समझता हूं। इसकी पूरी व्याख्या हीगेल ने की थी। इसमें तत्कालीन स्थिति को ही उचित ठहराया गया था और बताया गया था कि लोगों ने जिस जीवन-क्रम को स्थापित कर लिया है और जिस जीवन-क्रम पर वे इस समय चल रहे हैं उसे मानव ने जन्म नहीं दिया है और न मानव उसका परिपोषण ही करता है, वह तो आत्मा या साधारणतः सम्पूर्ण मानव-जीवन के प्रस्फुरण का एकमात्र सम्भावित रूप है। किन्तु यह सिद्धान्त भी आजकल के लोक-नेताओं को स्वीकार्य नहीं है, वह तो केवल हमारी जड़ता के कारण ही आज भी कायम है।

तीसरा और आजकल का मुख्य सिद्धान्त वैज्ञानिक है जिसके आधार पर वैज्ञानिक और कलाकार दोनों ही अपनी-अपनी चेष्टाओं का समर्थन करते हैं। यहां वैज्ञानिक से तात्पर्य वैज्ञानिक शब्द के साधारण अर्थ से नहीं है जिससे साधारणतः 'व्यापक ज्ञान' का बोध होता है; बल्कि यहां उसका तात्पर्य एक विशेष प्रकार के ज्ञान से है जिसका रूप और विषय दोनों ही विशिष्ट होते हैं।

वैज्ञानिक कहा जानेवाला यही वह नया सिद्धान्त है जिसकी आड़ में आजकल के अकर्मण्य लोगों का कर्तव्य-च्युति का अपराध मुख्यतः छिपा रहता है।

यूरोप में इस सिद्धान्त का प्रादुर्भाव उन बहुसंख्यक अमीरों और अकर्मण्यों के प्रादुर्भाव के साथ हुआ जो न गिरजा के कर्मचारी थे न राज के, किन्तु जिनको अपने पद को न्यायोचित ठहराने की आवश्यकता थी।

अभी बहुत दिन नहीं हुए फ्रांसीसी क्रान्ति के समय तक यूरोप में जो लोग शारीरिक श्रम नहीं करते थे उन्हें दूसरों के श्रम पर अधिकार प्राप्त करने के लिए गिरजा, सरकार या सेना में किसी निश्चित पद पर होना नितांत आवश्यक था। सरकारी कर्मचारी लोगों पर शासन करते थे, गिरजा के कर्मचारी लोगों को दैवी सत्य की शिक्षा दिया करते थे और सैनिक कर्मचारी जनता की रक्षा करते थे।

बस, इन्हीं तीन वर्गों के लोग अपनेको दूसरों के श्रम का शोषण करने का अधिकारी समझते थे और उसकी सफाई में वे अपने द्वारा

जनता के साथ किये गए उपकारों का बखान कर सकते थे। दूसरे अमीर लोग, जो इस प्रकार की सफाई नहीं दे पाते थे, घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे और अपने अपराध से परिचित होने के कारण उन्हें अपने धन और आलस्य पर बड़ी लज्जा आती थी।

किन्तु एक समय आया जब राजकीय, धार्मिक व सैनिक वर्गों की त्रुटियों के कारण उनसे सम्बन्धित धनिकों की संख्या बढ़ गई। इस नए वर्ग के भी पक्ष-समर्थन की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसके लिए एक तर्क भी गढ़ लिया गया।

सौ वर्ष भी नहीं बीतने पाए थे कि इस नए वर्ग के लोगों ने, जो न तो राज्य और गिरजा की नौकरी करते थे न उनके कामों में ही भाग लेते थे, न केवल पहले तीन वर्गों के लोगों के समान ही दूसरों के श्रम का शोषण करने का अधिकार प्राप्त कर लिया, बल्कि अपने धन और आलस्य पर लज्जित होना भी बन्द कर दिया; और वे अपने स्थान को पूर्णतः न्यायोचित भी मानने लगे। आजकल इन लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई है और निरन्तर बढ़ रही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे ही लोग, जिनका श्रम से मुक्त होने का अधिकार अभी कुछ ही दिन पहले तक न्यायोचित नहीं माना गया था, अब समझने लगे हैं कि केवल उनका ही अधिकार पूर्णतः न्यायोचित है। इतना ही नहीं, वे पहले तीन वर्गों की श्रम-मुक्ति को अन्याययुक्त और उनकी चेष्टाओं को हानिकारक मानते हुए उनपर कटाक्ष भी करने लगे हैं।

इससे भी बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि राज्य, गिरजा अथवा सेना के भूतपूर्व सेवक न तो अब अपने ईश्वर-प्रदत्त पद का सहारा लेते हैं, न व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक माने गए राज्यतन्त्र के दार्शनिक महत्व पर ही भरोसा रखते हैं। अब तो उन्होंने अपनेको इतने दिनों तक सम्हाले रखनेवाले इन अवलम्बों को छोड़ दिया है और उसी सिद्धान्त की शरण में जा रहे हैं जिसके बल पर वैज्ञानिकों और कलाकारों के नेतृत्व में नए प्रमुख वर्ग ने श्रम से मुक्त होने के अपने औचित्य का समर्थन किया है। आजकल यदि कोई सरकारी कर्मचारी अपने पुराने अभ्यास के फलस्वरूप अपनी उच्च सत्ता का समर्थन इस तर्क के आधार

पर करता है कि शासन करने का उसे ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है या यह कहता है कि राज्य व्यक्तित्व के ही विकास का एक रूप है तो इसका अर्थ यह है कि वह काल-गति का साथ नहीं दे पा रहा है और अनुभव करता है कि उसका कोई विश्वास नहीं करता। अपनी सत्ता का ठीक-ठीक समर्थन करने के लिए उसे अब धार्मिक अथवा दार्शनिक अवलम्ब ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है, अब तो उसे नए वैज्ञानिक तर्कों की सहायता चाहिए। उसके लिए अब यह आवश्यक हो गया है कि वह राष्ट्रीय या सामाजिक विकास के सिद्धान्त की शरण ले और आजकल के प्रमुख वर्ग की कृपा प्राप्त करे, जैसे कि मध्य युग में पादरियों की और १८ वीं शताब्दी के अन्त में दार्शनिकों की कृपा प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। फ्रेडरिक और केथरीन महान् को भी ऐसा ही करना पड़ा था।

आज यदि कोई धनी व्यक्ति अपनी पुरानी आदतों के कारण भूले-भटके ईश्वर की दुहाई देने लगे और यह कहे कि परमेश्वर ने उसे विशेष रूप से धनी होने के लिए छांटा है या यह कहे कि राष्ट्रीय हित के लिए अमीर-उमराओं की विद्यमानता बड़ी महत्वपूर्ण है, तो समझना चाहिए कि वह समय से पीछे है। अपनी सत्ता का यथेष्ट रूप से समर्थन करने के लिए उसे यह बताना चाहिए कि उत्पादन की विधियों में सुधार करके या उपभोग्य पदार्थों को सस्ता बनाकर या अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में उत्तरोत्तर वृद्धि करके वह सभ्यता की उन्नति में कितना योग दे रहा है। आजकल के अमीरों को विज्ञान की भाषा में बात करनी चाहिए और वर्त्तमान शक्तिशाली वर्ग के लिए त्याग करना चाहिए जैसा कि पुराने जमाने में धर्म-शास्त्रियों के लिए करना पड़ता था। उसको समाचारपत्र और पुस्तकें प्रकाशित करनी चाहिए और चित्रशालाओं, संगीत-समितियों, बाल-विद्यालओं तथा टेक्निकल स्कूलों की व्यवस्था करनी चाहिए।

आजकल के शक्तिशाली वर्ग में विशिष्ट प्रवृत्ति के वैज्ञानिक और कलाकार हैं। श्रम न करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उनके पास पूरा-का-पूरा तर्क है और जिस तरह पुराने जमाने में सब बातें पहले धार्मिक और बाद में दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित होती थीं उसी तरह

आजकल सारे तर्क इस नए तर्क पर ही आधारित हैं और अब यह नया वर्ग ही दूसरे लोगों के श्रम से मुक्त होने का प्रमाणपत्र देता है।

आजकल जिस वर्ग को श्रम से मुक्त होने का पूर्ण औचित्य प्राप्त है वह वैज्ञानिकों—विशेषतः प्रयोगशील, यथार्थवादी, आलोचनात्मक प्रवृत्तिवाले और विकासशील वैज्ञानिकों—का वर्ग है। इस वर्ग में इसी प्रवृत्ति का अनुकरण करनेवाले कलाकार भी हैं।

यदि किसी पुराने संयोग से आज कोई वैज्ञानिक या कलाकार भविष्यवाणी, दैवी आदेश या आत्मा के विकास की चर्चा करता है तो इसका कारण यह है कि वह समय के पग-से-पग नहीं मिला पाया है। ऐसी दशा में उसे अपनी सत्ता को न्यायोचित सिद्ध करने में सफलता नहीं मिलती। अपने पैरों को उखड़ने न देने के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी-न-किसी प्रकार अपनी चेष्टाओं का सम्बन्ध प्रयोगशील साकारवादी और आलोचनात्मक विज्ञान से स्थापित करे और उस विज्ञान को अपने समस्त कार्य-कलाप का आधार मानकर चले। तभी उसका विज्ञान सच्चा विज्ञान या उसकी कला सच्ची कला हो सकेगी, तभी आधुनिक युग में उसकी नींव दृढ़ हो सकेगी और तभी उसे यह विश्वास हो सकेगा कि उसकी चेष्टाओं से मानव-समाज का लाभ हो रहा है।

अतः अब यह प्रयोगशील, आलोचनात्मक और साकारवादी विज्ञान ही वह आधार है जिसपर श्रम से मुक्त होनेवाले सभी व्यक्तियों के कार्य-औचित्य का प्रमाण अवलम्बित है।

धार्मिक और दार्शनिक तर्क अब पुराने पड़ गए हैं, वे अपने-आपको डरते-डरते व लज्जा के साथ व्यक्त करते हैं और वैज्ञानिक रूप धारण करने की चेष्टा करते हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिक तर्क पुराने सिद्धांतों को निर्भीकतापूर्वक उलट-पुलट और नष्ट कर देता है, उन्हें हर जगह से निकाल देता है और पूर्ण अजेयता के विश्वास के साथ गर्व से सिर ऊंचा करके चलता है।

धार्मिक तर्क यह था कि मनुष्य को अपने पद के अनुसार कार्य मिलता है, कुछ पर शासन का भार पड़ता है और कुछ पर आदेश-पालन का; कुछ के भाग्य में विलासमय जीवन बदा होता है और कुछ के भाग्य में दीनता

में दिन काटना । इसलिए जिन्हें दैवी आदेश में विश्वास था वे यह शंका नहीं कर सकते थे कि ईश्वर ने कुछ लोगों को शासन व ऐश्वर्य का जो पद प्रदान किया है वह न्यायोचित नहीं है ।

राज्य-दर्शनवादियों का कहना यह था कि राज्य अपनी समस्त शाखाओं तथा श्रेणियोंसहित—जो स्वत्व तथा अधिकार की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होती हैं—वह ऐतिहासिक रूप हैं जो मानवीय आत्मा के उचित प्रस्फुटन के लिए आवश्यक है; इसलिए स्वत्व और अधिकार की दृष्टि से राज्य या समाज में प्रत्येक मनुष्य का वही स्थान होना चाहिए जो उसके यथोचित जीवन में होता है।

वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार उक्त दोनों सिद्धान्त मूर्खतापूर्ण और अन्धविश्वास हैं; एक तो धार्मिक युग की विचारधारा का प्रतिफल है और दूसरा दार्शनिक युग की विचार-धारा का । मानव-समाज के जीवन-सम्बन्धी नियमों के अध्ययन की केवल एक ही निश्चयात्मक विधि है और वह है सरकारवादी, प्रयोगात्मक और आलोचनात्मक विज्ञान की विधि । प्राणि-शास्त्र अन्य सभी यथार्थवादी विज्ञानों पर अवलम्बित है और इस प्राणि-शास्त्र के आधार पर बना हुआ जो समाज-शास्त्र है, अकेला वही हमें मानव-जीवन के नियमों का ज्ञान करा सकता है । मानवता अथवा मानव-समाज एक शरीर-यन्त्र है जिसकी रचना या तो हो चुकी है या अभी हो रही है और जिसपर यांत्रिक विकास के सभी नियम लागू होते हैं । इनमें से एक मुख्य नियम शरीर के विभिन्न अंगों में श्रम का विभाजन है । इसलिए यदि कुछ लोग शासन करते हैं और दूसरे केवल आदेश का पालन करते हैं, यदि कुछ लोग सोने की गुल्लियों से खेलते हैं और कुछ निर्धनता में पड़े सड़ते हैं तो इसका यह कारण नहीं है कि ईश्वर की इच्छा ही ऐसी है या राज्य व्यक्तित्व के प्रस्फुटन का ही एक रूप है, बल्कि इसका कारण यह है कि शरीर की भांति समाज में भी श्रम का विभाजन होता है जो समस्त समाज के जीवन के लिए आवश्यक होता है, कुछ लोग शारीरिक कार्य करते हैं और कुछ मानसिक ।

हमारे युग में इसी सिद्धान्त के आधार पर श्रम से बचने का अधिकार-पूर्ण बहाना बना डाला गया है ।

: २६ :

मानव-समाज की वैज्ञानिक व्याख्या

ईसा ने एक नए सिद्धान्त का प्रचार किया जो कि बाइबिल में उल्लिखित है। इस सिद्धान्त का तिरस्कार किया गया और उसे स्वीकार नहीं किया गया। तब आदम के अधःपतन और पहले फरिश्ते की कहानी गढ़ी गई और उसीको ईसा का उपदेश कहकर प्रचारित किया गया। यह गाथा बिलकुल मूर्खतापूर्ण और निराधार थी, किन्तु इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता था कि मनुष्य अनुचित रूप से जीवनयापन करता हुआ भी अपनेको ईसा द्वारा समर्थित मान सकता है। यह निष्कर्ष नैतिक श्रम से घृणा करनेवाले बहुसंख्यक दुर्बल मनुष्यों को इतना भाया कि इसे उन्होंने एक साधारण सत्य नहीं बल्कि ईश्वर द्वारा प्रकट किये गए सत्य के रूप में ग्रहण कर लिया। लगभग एक हजार वर्ष तक विद्वान् धर्मवेत्ता इसी निष्कर्ष को आधार मानकर अपने सिद्धान्तों का निर्माण करते रहे।

बाद में ये धर्मशास्त्री भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में बंट गए, एक दूसरे के मत का विरोध करने लगे और उन्हें स्वयं अनुभव होने लगा कि उनकी बुद्धि चकरा गई है और वे अपनी कही हुई बातें समझ नहीं पा रहे हैं। किन्तु जनता ने उनसे फिर उसी प्रिय सिद्धान्त की पुष्टि करने की माँग की, अतः उन्हें यह ढोंग रचना पड़ा कि वे जो कुछ कहते हैं उसे समझते हैं और उसपर विश्वास भी करते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपना उपदेश जारी रखा, किन्तु वह भी समय आया जब धर्मशास्त्रियों के ये निष्कर्ष निरर्थक सिद्ध हुए, जनता ने उनकी गुफाओं के भीतर झांका और साश्चर्य देखा कि धर्मशास्त्र के रहस्य उसे जिस पवित्र और असंदिग्ध सत्य के रूप दिखलाई पड़ते हैं उसका वहां संकेत भी नहीं; वहां तो भयानकतम पाखंड के अतिरिक्त न कुछ है न कभी रहा है। स्वभावतः उसे अपने अन्धेपन पर बड़ा विस्मय हुआ।

दर्शन के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। दर्शन से मेरा अभिप्राय

कनफ्यूशियस[1], सुकरात या एपिक्टेटस[2] की बताई हुई ज्ञान की बात से नहीं है। यहां मेरा संकेत उस पेशेवर दर्शन से है जिसका उद्देश्य अकर्मण्य धनाढ्यों को प्रसन्न करना था।

अभी बहुत दिन नहीं हुए, इस विद्वत्तापूर्ण शिक्षित संसार में आत्मा के विकासवाद का बोलबाला था। इस सिद्धान्त का कहना था कि जो कुछ है वह उचित है; न कोई वस्तु बुरी है न अच्छी और मनुष्य को बुराई के साथ युद्ध करने की आवश्यकता नहीं, उसका काम तो केवल आत्मा का विकास करना है—अर्थात् जो सेना में नौकर है वह वहां की नौकरी करके, जो अदालत में है वह वहां का कर्त्तव्य पूरा करके और जो बीन बजाता है वह बीन बजाकर अपनी आत्मा का विकास करे।

मानव-बुद्धि कितने ही विभिन्न रूपों में व्यक्त की गई है। १९ वीं शताब्दी के लोग उन सब रूपों से अपरिचित थे। उन्हें रूसो[3], पास्कल[4], लेसिंग[5] और स्पोनोजा[6] के सिद्धान्तों का ज्ञान था और साथ-ही-साथ वे प्राचीन काल के बुद्धि-तत्व को भी जानते थे। किन्तु जनता के हृदय पर किसी और की बातों का प्रभाव नहीं पड़ा। यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि हीगेल की लोकप्रियता का कारण केवल हीगेलियन सिद्धान्तों का सामंजस्य था, क्योंकि फ़िक्टे[7], शोपनहार[8] आदि के सिद्धान्त कुछ कम सामंजस्यपूर्ण न थे। कुछ समय के लिए हीगेल के सिद्धान्तों पर समस्त

---

[1] चीनी दर्शन-शास्त्र का प्रवर्तक, प्रसिद्ध दार्शनिक और सुधारक (५५१–४७८ ई० पूर्व)।

[2] स्टोइक दार्शनिक (प्रथम शताब्दी)।

[3] प्रसिद्ध फ्रांसीसी दर्शनवेत्ता (१७१२–७८)।

[4] फ्रांसीसी दार्शनिक और गणितज्ञ (१६२३–६२)।

[5] जर्मन कवि और आलोचक (१७२९–८१)।

[6] प्रसिद्ध आस्ट्रियन दर्शनवेत्ता (१६३२–७७)।

[7] जर्मन दार्शनिक (१७६२–१८१४)।

[8] निराशावादी जर्मन दार्शनिक (१७८८–१८६०) उनकी विचार-धारा भगवान बुद्ध की विचारधारा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है।

संसार को विश्वास हो गया था उसका केवल एक कारण था और वह कारण वही था जो मानव के पतन व उद्धार के सिद्धान्त की सफलता का कारण था; अर्थात्, हीगेलियन सिद्धान्त से निकलनेवाले निष्कर्ष भी मनुष्य की दुर्बलताओं को ही पोषित करते थे। वे कहते थे—प्रत्येक वस्तु उचित है, प्रत्येक वस्तु अच्छी है, किसीको किसी बात के लिए दोष नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार धर्माचारियों ने पुनरुद्धार के सिद्धान्त से लाभ उठाया था, उसी प्रकार दार्शनिकों ने हीगेल के सिद्धान्तों की नींव पर अपना किला खड़ा किया (कुछ पिछड़े हुए लोग तो अभी तक उसीमें बैठे हैं)। स्वभावतः धर्माचारियों की ही भांति दार्शनिकों की उक्तियों में भी उलझन पैदा हो गई और उन्हें भी यही अनुभूति हुई कि वे जो कुछ कर रहे हैं उसे वे स्वयं नहीं समझते। फिर भी धर्माचारियों के समान ही वे अपने कलुष की सफाई किये बिना ही जनता पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की अविरल चेष्टा करते रहे। पहले की ही तरह जनता को जो बातें अनुकूल प्रतीत हुईं उनकी उसने पुष्टि चाही और उसे यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि जो बातें उसे अस्पष्ट तथा विरोधात्मक लगती हैं वे दर्शन की दृष्टि में दिन के प्रकाश की भांति स्पष्ट हैं। किन्तु समय आने पर यह सिद्धान्त भी शिथिल पड़ गया और उसका स्थान एक नए सिद्धान्त ने ले लिया। पुराना सिद्धान्त निरर्थक हो गया और जनता ने एक बार फिर पुरोहितों की गुफाओं में झांककर देखा कि कुछ अर्थहीन अगम्य शब्दों के अतिरिक्त वहां न कुछ है, न कभी रहा है। यह घटना तो मेरी याद में ही घटी।

मेरे जीवन के आरम्भ-काल में हीगेल के सिद्धान्त का बोलबाला था। उन दिनों तो मानों वह समस्त वायुमण्डल में व्याप्त था। पत्र-पत्रिकाओं में, उपन्यासों और निबन्धों में, कला और इतिहास में, उपदेश और परस्पर बातचीत में सब जगह हीगेल के ही सिद्धान्त की धूम थी। जिसने हीगेल को नहीं पढ़ा था उसे बात करने का अधिकार नहीं था। जो लोग सत्य का शोध करना चाहते थे; वे हीगेल के ग्रंथ पढ़ते थे। उस समय सब कुछ उसीपर अवलम्बित था। किन्तु अब चालीस वर्ष बाद उसका कुछ भी शेष नहीं रह गया है, अब कोई उसका नाम तक

नहीं लेता, मानों कभी उसका अस्तित्व ही न रहा हो। सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि झूठे ईसाई धर्म के समान हीगेल के सिद्धान्त का पतन भी किसीके विरोध के कारण नहीं हुआ, बल्कि इसलिए हुआ कि एकाएक यह स्पष्ट हो गया कि हमारे विद्वत्तापूर्ण शिक्षित संसार को दोनों में से एक की भी आवश्यकता नहीं है।

यदि हम आजकल के किसी शिक्षित व्यक्ति से फरिश्ते और आदम के अधःपतन या पुनरुद्धार की बातें करें तो वह न तो आपसे तर्क-वितर्क करने की चेष्टा करेगा, न आपकी बात को झूठा ठहराने का प्रयत्न करेगा। वह तो केवल उलझन के साथ पूछेगा—"कौन-सा फरिश्ता ? आदम क्यों ? मुक्ति कैसी ? इससे मुझे क्या लाभ ?" यही बात हीगेल के सिद्धान्त के बारे में भी है। आजकल का कोई व्यक्ति उसपर तर्क-वितर्क नहीं करेगा। वह केवल अचम्भे के साथ पूछेगा, "कौन-सी आत्मा ? उसका प्रादुर्भाव कहाँ से होता है ? और उसका विकास क्यों होता है ? मुझे उससे क्या लाभ ?"

आजकल के वैज्ञानिक इसके उत्तर में कहेंगे—"हाँ, ये सब बातें धार्मिक और दार्शनिक काल की चीख-पुकार के कारण हुई थीं, किन्तु अब हमारे पास आलोचनात्मक और प्रमाणित विज्ञान है जोकि प्रयोग तथा सामान्य निर्णय पर आधारित होने के कारण कभी धोखा नहीं देता। हमारा ज्ञान अब लचर नहीं है जैसाकि पहले था और अब हमारे ही मार्ग पर चलने से मनुष्य-जाति के सब प्रश्नों का उत्तर मिल सकेगा।

किन्तु ठीक ऐसी ही बातें तो पुराने धर्माचार्य भी कहा करते थे और निश्चय ही वे मूर्ख नहीं थे, क्योंकि हम जानते हैं कि उनमें से कितने ही प्रकांड बुद्धि के थे। हमारी याद में हीगेल के अनुयायी भी ऐसी बातें कुछ कम विश्वास के साथ नहीं किया करते थे। तथाकथित शिक्षित समाज ने उनके मतों को कुछ कम स्वीकार नहीं किया था। और वे हर्जेन, स्टैंकबिच, वेलिंस्की आदि भी मूर्ख थोड़े ही थे। तो फिर, इस आश्चर्यजनक घटना का क्या कारण था कि बड़े-बड़े बुद्धिमान लोगों ने जनता को ऐसी बेसिर-पैर की खोखली बातों का उपदेश दिया और जनता ने उन्हें आदर-सहित स्वीकार भी किया ? कारण यही था कि इन सिद्धान्तों के बल पर

लोग अपने दोषपूर्ण जीवन को उचित ठहराते थे ।

साकारवादी, आलोचनात्मक और प्रयोगशील वैज्ञानिकों को अपने अन्दर जो विश्वास है और जनता उनके सिद्धान्तों को जिस आदर की दृष्टि से देखती है, उसका कारण क्या अब भी वही है जो पहले था ? यह बात बड़ी विचित्र मालूम होती है कि विकासवाद के सिद्धान्त से लोगों के अन्यायपूर्ण कार्यों को उचित ठहराया जा सकता है और ऐसा प्रतीत होता है मानों विज्ञान का सम्बन्ध केवल वस्तु से है और वह उसीका अध्ययन करता है ।

किन्तु यह बात केवल देखने में ऐसी मालूम पड़ती है। ऐसा ही धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में भी थी। ऐसा जान पड़ता था कि धर्म का सम्बन्ध केवल सिद्धांतों से है, मनुष्य के जीवन से नहीं। दर्शन के विषय में भी ऐसी ही भ्रांति थी। ऐसा लगता था कि उसका सम्बन्ध केवल पार-लौकिक तर्कों से है।

किन्तु ये सब बातें केवल देखने में ऐसी लगती थीं। यही बात व्यापक रूप से हीगेल के सिद्धान्तों और विशेष रूप से माल्थस की विचारधारा के विषय में भी थी।

हीगेल का दर्शन-शास्त्र केवल तार्किक निष्कर्षों से सम्बन्धित जान पड़ता था, लोगों के जीवन से नहीं। ऐसी ही प्रतीति माल्थस की विचार धारा के विषय में भी होती थी। उसका एकमात्र सम्बन्ध वस्तु-सम्बन्धी आंकड़ों से जान पड़ता था, किन्तु वह भी केवल प्रतीत ही होता था।

आधुनिक विज्ञान वस्तुस्थिति की जांच करता है। किन्तु कौन-सी वस्तुस्थिति ? क्या कारण है कि कुछ विशेष वस्तुस्थितियों का ही अध्य-यन किया जाता है, दूसरियों का नहीं ?

आजकल के विज्ञान-वेत्ताओं को बड़ी गम्भीरता और विश्वास के साथ यह कहने का शौक है—"हम केवल वस्तुस्थिति का अध्ययन करते हैं," मानों इन शब्दों का कोई अर्थ हो।

केवल वस्तुस्थिति की जांच करना सम्भव नहीं है, क्योंकि जांच के लिए उपलब्ध पदार्थों की संख्या वस्तुतः अपरिमित है। वस्तुस्थिति की परीक्षा करने से पहले एक ऐसे सिद्धान्त का होना आवश्यक है जिसके

आधार पर असंख्य बातों में कुछ विशेष बातें परीक्षण के लिए चुनी जा सकें। ऐसा सिद्धांत मौजूद है और बड़े ही स्पष्ट रूप से व्यक्त भी किया जा चुका है। फिर भी आजकल के अनेक वैज्ञानिक या तो इसकी अवहेलना करते हुए इसे जानना नहीं चाहते या सचमुच इसे जानते ही नहीं या इसे न जानने का बहाना करते हैं। यही बात समस्त महत्वपूर्ण और निर्देशक सिद्धान्तों के साथ रही है, चाहे वे धार्मिक रहे हों चाहे दार्शनिक।

प्रत्येक मत की नींव सदा उसके सिद्धान्त में होती है और विद्वान् कहे जानेवाले लोग केवल उपलब्ध जानकारी के आधार पर कभी-कभी अनजाने ही नए निष्कर्ष निकाला करते हैं। किन्तु उन सबके पीछे सदा एक मूलभूत सिद्धान्त होता है। यही कारण है कि आधुनिक विज्ञान अपनी जांच के लिए वस्तुस्थिति का चयन सुनिश्चित सिद्धान्त के आधार पर करता है, जिसका कभी तो उसको ज्ञान होता है और कभी नहीं होता और कभी-कभी उसके विद्यमान रहने पर भी वह उसे जानना नहीं चाहता।

वह सिद्धान्त यह है—समस्त मनुष्य-समाज एक शरीर-यन्त्र है; व्यक्ति उस यन्त्र का एक अंग है और समस्त यन्त्र के परिचालन के लिए प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट कर्त्तव्य होता है।

शरीर-यन्त्र को अपने अस्तित्व की अक्षुण्णता के लिए जो-जो क्रियाएं करनी पड़ती हैं, उन्हें उसके विभिन्न तन्तु आपस में बाँट लेते हैं; किसी इन्द्रिय को वे पुष्ट करते हैं और किसीको दुर्बल बनाते हैं और किसी एक के साथ अधिक सहयोग करके समष्टि रूप में सारे शरीर-यन्त्र की आवश्यकताओं की संतोषजनक पूर्ति के लिए उद्योग करते हैं। सामाजिक जन्तु—चीटियां और मधुमक्खियां भी—आपस में अलग-अलग काम बाँट लेते हैं—रानी अंडा देती है, नर गर्भाधान करते हैं और शेष मधु-मक्खियां अपनी समस्त जाति के जीवन के लिए श्रम करती हैं। ठीक इसी प्रकार मानव-समाज में भी उसके विभिन्न अंग अपना अलग-अलग कार्य करते हैं और फिर समस्त समाज की उन्नति के लिए समन्वित भी हो जाते हैं।

अतः मनुष्य-जीवन के नियमों का अनुसंधान करने के लिए शरीर-यन्त्रों के विकास और जीवन-सम्बन्धी नियमों का अध्ययन करना आवश्यक है। शरीर-यन्त्रों के जीवन और विकास में हमें भिन्न-भिन्न नियम

दिखाई देते हैं—(१) प्रत्येक घटना के तात्कालिक परिणाम के अतिरिक्त उसके अन्य परिणाम भी होते हैं, (२) जिन अंगों पर कार्य-विभाजन का सिद्धान्त लागू नहीं होता वे प्रायः दुर्बल होते हैं, (३) विषमता और समता का नियम। ये सब देखने में बड़े निर्दोष मालूम होते हैं, किंतु यदि हम इन प्रेक्षित तथ्यों से निष्कर्ष निकालें तो हमें यह तत्काल पता चल जायगा कि इनकी प्रवृत्ति किस ओर है। इन सबका झुकाव एक ही बात की ओर होता है और वह है मानवता या मानव-समाज को एक शरीर-यन्त्र मानना और उसके परिणामस्वरूप मानव-समाज में रचित कार्य-विभाजन को आवश्यक समझना। चूंकि मानव-समाज में बहुत-सी क्रूरता और घृणा भरी हुई है, इन क्रियाओं को क्रूर या घृणास्पद नहीं समझना चाहिए, बल्कि यह समझना चाहिए कि ये श्रम-विभाजन के व्यापक नियम को सिद्ध करनेवाले असंदिग्ध प्रमाण हैं।

आध्यात्मिक दर्शन-शास्त्र भी हर प्रकार की क्रूरता और घृणा को उचित ठहराया करता था, किन्तु उसका यह कार्य दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित होने के कारण असंदिग्ध नहीं समझा जाता। विज्ञान में यह वैज्ञानिक रूप ग्रहण कर लेता है और इसलिए असंदिग्ध मान लिया जाता है।

ऐसे सुन्दर सिद्धान्त को भला कौन स्वीकार नहीं करेगा ? मानव-समाज को अवलोकन का विषयभर मानने की आवश्यकता है; फिर तो हम नष्ट होते हुए मनुष्यों की कमाई शांतिपूर्वक हड़प सकते हैं और अपनी आत्मा को यह सोचकर सान्त्वना दे सकते हैं कि एक नर्तक, वकील डाक्टर, दार्शनिक, अभिनेता या परमाणुओं के विभिन्न रूपों की जांच करनेवाले या किसी वस्तु के माध्यम की परीक्षा करनेवाले व्यक्ति की हैसियत से हम जो काम करते हैं वह मानव-शरीर-यन्त्र के अंगों की आवश्यक क्रियाएं हैं। जिस तरह यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि मस्तिष्क के तन्तु का पुट्ठों के तन्तुओं के श्रम से लाभ उठाना अन्यायपूर्ण है या नहीं, उसी तरह यह प्रश्न भी नहीं उठ सकता कि दूसरों के श्रम का उपभोग करना मेरे लिए उचित है या नहीं। मैं तो वही कर सकता हूँ जो मुझे भाता है।

तो भला हम एक ऐसे व्यावहारिक सिद्धान्त को कैसे अस्वीकार कर

सकते हैं जो हमें इस योग्य बना देता है कि हम अपनी आत्मा को सदा के लिए जेब में रखकर शान्ति के साथ निरंकुश पशु-जीवन व्यतीत करें और साथ ही यह भी अनुभव करते रहें कि हमें आधुनिक विज्ञान का अटल समर्थन प्राप्त है ? यही वह नया मत है जिसके आधार पर आज-कल मनुष्यों की अकर्मण्यता और क्रूरता को उचित ठहराया जाता है।

: ३० :

कॉम्टे की साकारवादी विचारधारा

इस मत को प्रचलित हुए अभी थोड़े ही दिन हुए हैं—यही कोई ५० वर्ष। इसका मुख्य संस्थापक फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्ट कॉम्टे था। वह सुव्यवस्थित जीवन में विश्वास करनेवाला एक धार्मिक व्यक्ति था। विशाट[1] के शरीर-सम्बन्धी अभिनव अन्वेषणों से प्रभावित होने के कारण कॉम्टे पर मेनेनियस एग्रीप द्वारा बहुत पहले व्यक्त किये गए इस पुराने विचार का गहरा असर पड़ा कि समस्त मानव-समाज, यहांतक कि समस्त मानवता को एक समष्टि, एक शरीर-यंत्र माना जा सकता है और मनुष्य विभिन्न इन्द्रियों के सजीव तंतु माने जा सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक का समष्टि-शरीर के प्रति एक निश्चित कर्त्तव्य होता है। यह विचार कॉम्टे को इतना पसंद आया कि उसने इसके आधार पर एक दर्शन-सिद्धान्त की रचना कर दी। इस सिद्धान्त के प्रवाह में वह इस प्रकार बह गया कि उसे इतना भी स्मरण न रहा कि जिस उपमा के आधार पर उसने अपने सिद्धान्त की नींव डाली है वह कथा-कहानियों के लिए तो उपयुक्त हो सकता है किंतु विज्ञान का उपयुक्त आधार नहीं बन सकता। जैसा कि बहुधा होता है, उसने अपनी इस प्रिय मान्यता को एक स्वयंसिद्ध सूत्र मान लिया और सोचा कि उसके सिद्धान्त की भित्ति अकाट्यतम वैज्ञानिक प्रयोगों पर खड़ी है। उसके सिद्धान्त के अनुसार मानव-समाज एक शारीरिक यंत्र के समान था, अतएव इस बात का ज्ञान कि मनुष्य क्या है और विश्व के साथ उसका कैसा सम्बन्ध होना चाहिए केवल उस यंत्र के गुणों का अध्ययन करने से प्राप्त हो सकता है। इन

---

[1] **प्रसिद्ध फ्रांसीसी शरीर-शास्त्रज्ञ** (१७७१-१८०२)।

गुणों के समझने के लिए मनुष्य अन्य—अर्थात् छोटे-छोटे—शारीरिक यंत्रों का अध्ययन कर सकता था और उनसे परीक्षण के आधार पर निष्कर्ष निकाल सकता था। इसलिए कॉम्टे के मतानुसार सबसे पहली बात तो यह है कि विशेष परीक्षणों के आधार पर निष्कर्ष निकालने की रीति ही सच्ची और वैज्ञानिक रीति है और सच्चा विज्ञान वही है जिसका आधार प्रयोग हो। दूसरी बात यह है कि विज्ञान का उद्देश्य तथा अंतिम लक्ष्य यह नया विज्ञान है जिसमें मनुष्य की कल्पना एक शरीर-यंत्र के रूप में की जाती है। इस नए काल्पनिक विज्ञान का नाम समाज-शास्त्र है। विज्ञान को इस दृष्टिकोण से देखने से साधारणतः ऐसा लगता है मानों मनुष्य का पूर्व ज्ञान गलत था और मानवीय ज्ञान का इतिहास तीन या वस्तुतः दो ही युगों में बंटा हुआ है—(१) दार्शनिक तथा धार्मिक युग—सृष्टि के आरम्भ से लेकर कॉम्टे के अवतरण तक; और (२) सत्य विज्ञान, यानी स्वाभाविक अथवा आधारभूत विज्ञान का वर्त्तमान युग, जिसका आरम्भ कॉम्टे से होता है।

देखने में यह बड़ा सुन्दर लगता है। त्रुटि केवल एक है—वह यह कि सारा भवन रेत पर बना हुआ है, इस निराधार विश्वास पर कि मानव-समाज एक शरीर-यंत्र है।

यह मान्यता एक जबरदस्ती की मान्यता थी क्योंकि हमें मनुष्य-समाज को एक अदृश्य शरीर-यंत्र के रूप में स्वीकार करने का उसी प्रकार अधिकार नहीं है जैसे त्रिदेव की विद्यमानता या अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वीकार करने का।

यह मान्यता इसलिए भी अशुद्ध थी कि मनुष्य-समाज में शरीर-यंत्र के अनिवार्य लक्षण—अर्थात् अनुभूति और ज्ञान-केन्द्र—के विद्यमान न होते हुए भी इसकी परिभाषा गलत तौर पर शरीर-यंत्र के रूप में की गई है। हाथी अथवा कीटाणु को शरीर-यंत्र कहने का एकमात्र कारण यह है कि हम समझते हैं कि उसमें भी ज्ञान-शक्ति और अनुभूति का वैसा ही एकीकरण है जैसा हम स्वयं अपने में अनुभव करते हैं। किंतु मानव-समाज में इस आवश्यक लक्षण का अभाव है। इसलिए मानव-समाज और शरीर में हमें चाहे कितनी ही दूसरी समानताएं दिखाई दें,

उक्त अनिवार्य संकेत के अभाव में मानव-समाज को शरीर-यन्त्र मानना बिलकुल अशुद्ध है।

किन्तु साकारवाद के मूल सूत्र के निराधार और अशुद्ध होने पर भी शिक्षित समुदाय ने उसे बड़े प्रेम से अपनाया। इसका कारण यह था कि उस समय मनुष्य-समाज में प्रचलित हिंसात्मक नियमों को न्याययुक्त सिद्ध करके इस साकारवाद ने अपने आपको उनके लिए बड़ा महत्वपूर्ण बना लिया था। इस सम्बन्ध में सबसे बड़े मार्के की बात यह है कॉम्टे की दो कृतियों—साकारवादी दर्शन तथा साकारवादी राजनीति—में से हमारे शिक्षित समाज ने केवल उस भाग को माना जो नए अनुभावात्मक सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य-समाज की तत्कालीन बुराइयों को उचित बताता था। दूसरा भाग, जिसमें समस्त मानवता को शरीर-यन्त्र मानने के कारण उत्पन्न होनेवाले धार्मिक और नैतिक कर्तव्यों की चर्चा की गई थी, न केवल महत्वहीन बल्कि नगण्य और अवैज्ञानिक भी माना गया।

जो बात कैन्ट[1] के दर्शन-शास्त्र के दो भागों के साथ हुई थी वही कॉम्टे की कृतियों के साथ भी हुई। शुद्ध बुद्धिवाद की आलोचना को तो विद्वद् मंडली ने स्वीकार कर लिया, किन्तु व्यावहारिक बुद्धिवाद की आलोचना को, जिसमें कैन्ट के नैतिक शिक्षण का सार भरा था, अस्वीकार कर दिया। कॉम्टे द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों में से उन्होंने उस भाग को वैज्ञानिक माना जिसमें तत्कालीन बुराइयों का समर्थन किया गया था, किन्तु जनसमुदाय द्वारा स्वीकृत यह दर्शन मिथ्या और अपरिपक्व आधार पर अवलम्बित होने के कारण इतना डांवाडोल था कि स्वयं अपने बल पर टिके रहना उसके लिए असम्भव था। और तब, तथाकथित विज्ञान की अनेक कपोल-कल्पित धारणाओं में से एक ऐसे सिद्धान्त की उत्पति हुई जिसमें न तो कोई नवीनता थी और न सत्य। वह सिद्धान्त यह था कि प्राणी अर्थात् शरीर-यन्त्र न केवल एक दूसरे से उत्पन्न होता है बल्कि एक शरीर-यन्त्र अनेक शरीर-यन्त्रों से उद्भूत होता है; उदा-

---

[1] **इमैन्यूयेल कैंट—लब्धप्रतिष्ठ जर्मन दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता** (१७२४–१८०४)।

हरण के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि कोई मछली या बत्तख बहुत लम्बे अर्से से (मान लीजिए, १,००,००० वर्ष से) किसी एक ही योनि में उत्पन्न होती चली आई हो। यह भी सम्भव है कि एक ही जीव की सृष्टि विभिन्न जीवों से हुई हो। उदाहरण के लिए मधुमक्खियों के एक झुंड से अकेले किसी एक पशु की उत्पत्ति हो सकती है।

यह अशुद्ध और निराधार सिद्धान्त शिक्षित समुदाय द्वारा और भी अधिक उत्साह के साथ अपनाया गया। इस सिद्धान्त को निराधार कहने का कारण यह है कि आज तक किसीने यह नहीं देखा है कि एक विशिष्ट प्रकार का जीव दूसरे जीवों से किस प्रकार आविर्भूत होता है। अतः जीव-योनियों की उत्पत्ति की धारणा कल्पनामात्र रह जाती है और कभी अनुभव-सिद्ध नहीं होती। इस धारणा के अशुद्ध होने का एक दूसरा कारण यह है कि योनि-उत्पत्ति के प्रश्न का यह कहकर समाधान करना कि जीव-योनियां पैतृक वंश-परम्परा के नियमों के अनुसार अत्यन्त दीर्घ-काल में उत्पन्न हुई हैं कोई समाधान नहीं है; बल्कि उसी प्रश्न की एक नए रूप में पुनरावृत्ति मात्र है। इस समस्या का जो हल हजरत मूसा ने बतलाया था उसके अनुसार योनियों की विभिन्नता का कारण ईश्वर की इच्छा और उसकी अनन्त शक्ति है; किन्तु जीव-विकास के सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि योनियों की विभिन्नता, स्वयं अपने आपमें से, दीर्घ-कालीन पैतृक वंश-परम्परा और परिस्थिति की कभी समाप्त न होनेवाली विभिन्न स्थितियों के अनुसार उत्पन्न हुई है। सीधे-सादे शब्दों में जीव-विकास के सिद्धान्त से केवल इतना सिद्ध होता है कि दीर्घ काल में एक वस्तु दूसरी वस्तु से हमारे इच्छानुसार उत्पन्न हो सकती है।

वस्तुतः यह प्रश्न का उत्तर नहीं बल्कि उसका रूपान्तर मात्र है। ईश्वरेच्छा का स्थान घटना-चक्र को दे दिया गया है और अनन्त को शक्ति से हटाकर काल के साथ जोड़ दिया गया है। किन्तु इस नए सिद्धान्त से—जिसे डार्विन के अनुयायियों ने और भी अधिक निराधार और मिथ्या बना दिया—कॉम्टे के पहले सिद्धान्त का समर्थन हुआ और इसलिए वह हमारे युग का दैवी प्रकाश और समस्त शास्त्रों—यहाँतक कि इतिहास, भाषा-विज्ञान और धर्म तक—का आधार बन गया। इससे

भी बड़ी बात यह हुई कि इस सिद्धान्त के संस्थापक डार्विन ने स्वयं स्वीकार किया कि उनके मन में इस सिद्धान्त का प्रादुर्भाव माल्थस के सिद्धान्त के अध्ययन के परिणामस्वरूप हुआ था और उसीसे प्रभावित होकर उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला कि जीवन का आधारभूत नियम यह है कि प्राणीमात्र को—जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित हैं—जीवन के साथ संघर्ष करना पड़ता है। हम देखते हैं कि काहिल लोगों को अपनी स्थिति को भी औचित्यपूर्ण ठहराने के लिए बिल्कुल ऐसी ही वस्तु की आवश्यकता थी।

इस प्रकार दो निर्बल सिद्धान्त, जो पृथक-पृथक अपने पैरों पर खड़े होने में असमर्थ थे, एक-दूसरे का समर्थन करने लगे और स्थायी सिद्धान्त से दिखाई देने लगे। दोनों सिद्धान्तों में वही अर्थ निहित था जो जनता को इतना प्रिय लगता था—अर्थात् यह कि मानव-समाज में जो बुराइयाँ फैली हुई हैं उनके लिए मनुष्य दोषी नहीं ठहराया जा सकता; वर्तमान स्थिति वैसी ही है जैसी होनी चाहिए। बस इस नए सिद्धान्त को लोगों ने अपने आवश्यकतानुकूल अर्थ में पूर्ण विश्वास और अभूतपूर्व उत्साह के साथ अपना लिया और ये ही दो निराधार तथा अशुद्ध धारणाएं, जो लोगों के लिए अंधविश्वास बन गईं, नए विज्ञानवाद का आधार बनीं।

विषय और रूप दोनों ही में यह सिद्धान्त ईसाई सिद्धान्तों से अत्यधिक मिलता-जुलता है। जहांतक विषय का प्रश्न है, दोनों में सादृश्य यह है कि दोनों ही में एक वास्तविक वस्तु को एक विचित्र मिथ्या अर्थ दे दिया जाता है और फिर इसी कृत्रिमता को शोध का विषय बना लिया जाता है।

यह एक विचित्र बात है कि ईसाई धर्म में ईसा को स्वयं ईश्वर माना गया है, यद्यपि वह इस संसार के ही एक प्राणी थे। इसी प्रकार साकारवादी सिद्धान्त के अनुसार सदेह मानव को एक यन्त्र माना गया है। बाह्य रूप से इन दोनों सिद्धान्तों में उल्लेखनीय सादृश्य है क्योंकि दोनों ही में कुछ थोड़े-से व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित विचारधारा को एकमात्र नितान्त सत्य विचारधारा स्वीकार कर लिया गया है। ईसाई धर्म में यह मान लिया गया है कि जो लोग अपनेको ईसा के अनुयायी कहते

हैं उन्हें ईश्वर का दर्शन होना पुनीत और एकान्त सत्य है। इसी प्रकार साकारवादियों का विश्वास है कि जो लोग अपनेको विज्ञानवेत्ता कहते हैं उन्हें विज्ञान का ज्ञान होना असंदिग्ध और सत्य है। जिस प्रकार ईसाई लोग यह स्वीकार करते हैं कि प्रभु के सच्चे ज्ञान का प्रादुर्भाव गिरजा से ही होता है और अपने से पहले के आस्तिकों को वे केवल शिष्टतावश ईसाई धर्म का अवलम्बी मान लेते हैं, उसी प्रकार वैज्ञानिकों का दावा है कि साकारवादी विज्ञान का सूत्रपात कॉम्टे से ही हुआ था और यह तो उनकी भद्रतामात्र है कि वे स्वीकार कर लेते हैं कि उनसे पहले भी कभी विज्ञान का अस्तित्व था और वह भी अरस्तु आदि जैसे कुछ इने-गिने व्यक्तियों में। ईसाई धर्म के अवलम्बियों की ही भांति साकारवादी विज्ञानवेत्ता भी शेष मानव-समाज में ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते और अपने क्षेत्र से बाहरवालों के ज्ञान को एक भूल-मात्र मानते हैं।

यह साम्यता आगे भी दिखाई देती है। जिस प्रकार ईसा और त्रिदेव के देवत्व का समर्थन करने के लिए इस पुराने सिद्धान्त का आश्रय लिया गया कि मानव का पतन होने पर ईसा ने अपने शरीर का त्याग कर उसको मुक्ति दी और जिस प्रकार इसी सिद्धान्त को एक नया अर्थ देकर दोनों के मेल से लोकप्रिय ईसाई धर्म का निर्माण हुआ, उसी प्रकार हमारे युग में कॉम्टे के शरीर-यंत्र-सम्बन्धी मूलभूत सिद्धान्त को प्रेरणा देने के लिए विकासवाद के पुराने सिद्धान्त का सहारा लिया गया और उसे एक नया अर्थ प्रदान कर दोनों के संयोग से लोकप्रिय वैज्ञानिक मत का आविर्भाव किया गया।

दोनों ही क्षेत्रों में पुरानी नीति के समर्थन के लिए नई नीति आवश्यक थी और वह वहींतक समझ में आती है जहाँतक कि उसका आधारभूत नीति से सम्बन्ध है। यदि ईसा के देवत्व में विश्वास करनेवाले व्यक्ति को यह समझ में नहीं आता कि ईश्वर इस पृथ्वी पर अवतरित क्यों हुआ, तो उस अवस्था में मुक्ति का सिद्धान्त इसकी व्याख्या करने के लिए आ उपस्थित होता है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज को यन्त्र माननेवाले व्यक्ति को यदि यह स्पष्ट नहीं होता कि व्यक्तियों के समूह

को शरीर-यन्त्र क्यों माना जाता है तो विकासवाद का सिद्धान्त इसका स्पष्टीकरण कर देता है।

पहले मत और वास्तविकता के बीच विरोध की जो खाई है उसे पाटने के लिए मुक्ति के सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है। ईश्वर पृथ्वी पर मानव की रक्षा के लिए आया, किंतु मानव की रक्षा नहीं हुई, इस विरोध का निराकरण कैसे हो? मुक्ति का सिद्धान्त इसका उत्तर देता है—"ईश्वर ने उन व्यक्तियों की मुक्ति की है जो मुक्ति में विश्वास रखते हैं; यदि आपको इसमें आस्था है तो आपकी भी मुक्ति होगी।"

इसी प्रकार पहले सिद्धान्त और वास्तविकता के विरोधाभास को दूर करने के लिए विकासवाद का सिद्धान्त प्रयोजनीय हैं। मानव-समाज एक यन्त्र है, फिर भी हम देखते हैं कि उसमें यन्त्र का प्रमुख लक्षण नहीं है–इस विरोध को कैसे दूर किया जाय? इसका उत्तर हमें विकासवाद के सिद्धान्त से मिलता है—"मानव एक ऐसा यन्त्र है जो अभी विकास की अवस्था में है। यदि आप इससे सहमत हैं तो आप मानव को एक यन्त्र मान सकते हैं।"

जिस प्रकार त्रिदेव और ईसा के देवत्व-सम्बन्धी धार्मिक विश्वासों को न माननेवाले लोगों के लिए मुक्ति के सिद्धान्त के अर्थ तक को समझ सकना असम्भव है और जिस प्रकार इस अर्थ की व्याख्या केवल इस आधारभूत मत को मानकर ही की जा सकती है कि ईसा स्वयं ईश्वर है - उसी तरह साकारवादी अंधविश्वासों से मुक्त मानव के लिए यह समझना तक असंभव है कि मानव (Species) के आविर्भाव के सम्बन्ध में जो बातें सिखाई जाती हैं उनका वास्तविक मूल किस वस्तु में निहित है और इसका स्पष्टीकरण तभी होता है जब मनुष्य इस आधारभूत सिद्धान्त को ग्रहण कर लेता है कि मानव-समाज एक शारीरिक यन्त्र है।

और जिस प्रकार धार्मिक सिद्धान्तों की सारी बारीकियां केवल मौलिक सिद्धान्तों में विश्वास करनेवाले व्यक्तियों को ही समझ में आती हैं, उसी प्रकार समाज-शास्त्र की समस्त सूक्ष्मताएं—जिनपर आज नए-से-नए और धुरंधर-से-धुरंधर विज्ञानवेत्ता अपना मस्तिष्क खपा रहे हैं—केवल उनमें विश्वास करनेवाले लोगों की समझ में आती है।

दोनों सिद्धान्तों की सदृश्यता एक और बात में भी दिखाई देती है और वह यह कि जो बातें आस्थापूर्वक स्वीकार की जाती हैं और जिनमें आगे छिद्रान्वेषण करने का कोई प्रश्न ही शेष नहीं रहता वे विचित्र-से-विचित्र सिद्धान्तों का आधार बन जाती हैं। इतना ही नहीं बल्कि इन सिद्धान्तों के प्रचारक, जिन्हें अपनेको धार्मिक बातों में पुनीत और वैज्ञानिक बातों में बुद्धिमान मानने अर्थात् अपनेको अचूक समझने के अधिकार पर जोर देने की आदत पड़ गई है, वे बहुत ही मनमाने, अव्यावहारिक और पूर्णतः निराधार निष्कर्ष निकालते हैं और इन्हें दूसरों के सामने बड़ी गम्भीरता और पवित्रता के साथ व्यक्त करते हैं। किन्तु जो लोग आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी विस्तार की बातों पर मतभेद रखते हैं वे निष्कर्षों के विचार पर उतनी ही गम्भीरता और पवित्रता के साथ वादविवाद करते हैं।

उदाहरण के लिए इस सिद्धान्त के महान् पोषक हरबर्ट स्पेन्सर[1] ने अपनी एक प्रारम्भिक पुस्तक में लिखा है—समाज और शरीर-यन्त्र का निम्नलिखित बातों में एक-दूसरे से सादृश्य है—

(क) छोटे आकार में आरम्भ होकर वे अदृश्य रूप में बढ़ते रहते हैं, यहांतक कि कभी-कभी वे अपने मूल आकार से दस हजार गुना बड़े हो जाते हैं।

(ख) आरम्भ में उनकी रूपरेखा इतनी सरल होती है कि कहा जा सकता है कि उनकी कोई रूपरेखा ही नहीं है, किन्तु जैसे-जैसे उनका विकास होता जाता है वैसे-वैसे उनकी जटिलता में वृद्धि होती जाती है।

(ग) प्रारम्भिक और अविकसित काल में इनके विभिन्न भागों में परस्पर निर्भरता नहीं के बराबर होती है, किन्तु क्रमशः ये एक-दूसरे पर अधिक आश्रित होते हैं और अन्त में यह निर्भरना इतनी प्रवल हो उठती है कि प्रत्येक भाग की क्रिया और जीवन शेष भागों की क्रिया और जीवन द्वारा ही सम्भव हो पाता है।

---

[1] **प्रसिद्ध ब्रिटिश दार्शनिक (१८२०–१९३०)—संश्लेषात्मक दर्शन के समर्थक।**

(घ) समाज का जीवन और विकास उसकी विभिन्न इकाइयों के जीवन और विकास से स्वतन्त्र और अधिक दीर्घजीवी होता है। इकाइयों का जन्म, विकास, कार्य, पुनर्जन्म और मरण तो निरंतर चलता ही रहता है, जबकि उनसे बना हुआ समुदाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक जीवित रहता है और अपने ढांचे की सम्पूर्णता और क्रियाशीलता के कारण आकार में निरन्तर वृद्धि पाता रहता है।

इसके बाद हरबर्ट स्पेन्सर शरीर-यन्त्र और समाज के विभेदों की चर्चा करते हुए यह बताने की चेष्टा करते हैं कि ये भेद देखनेभर को हैं पर वास्तव में शरीर और समाज बिलकुल एक जैसे होते हैं।

एक नए व्यक्ति के हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आखिर आप कह क्या रहे हैं? समाज एक शारीरिक यन्त्र क्योंकर है? इनमें समानता कहां से आई? आप कहते हैं कि ऊपर लिखे चार लक्षणों के कारण ही समाज शरीर-यन्त्र से मिलता-जुलता है, लेकिन इसमें तो लेश-मात्र भी सचाई नहीं। आप तो शरीर-यन्त्र के कुछ इनेगिने लक्षणों को ही लेते हैं और उन्हींके अन्तर्गत मानव-समाज की भी गणना कर लेते हैं। पहले तो आप समानता के चार लक्षण दिखाते हैं और फिर भेदों की चर्चा करते हैं। लेकिन आपकी राय में ये भेद सिर्फ दिखावटी हैं, इसलिए आप इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-समाज को शरीर-यन्त्र माना जा सकता है। लेकिन यह तो केवल एक वाक्पटुता हुई; इस आधार पर तो आप जिस वस्तु की भी चाहें शरीर-यन्त्र के लक्षणों के अंतर्गत गणना कर सकते हैं।"

उदाहरण के लिए एक जंगल को ले लीजिए जो मैदान में लगाया जाता है और धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।

(क) स्पेन्सर ने पहली बात यह कही है कि छोटे आकार में आरम्भ होकर ये अदृश्य रूप से बढ़ते रहते हैं...आदि-आदि। यही तो खेतों के साथ भी होता है। बीज धीरे-धीरे मैदान में जड़ जमा लेते हैं और मैदान वृक्षों से भर जाता है।

(ख) स्पेन्सर की दूसरी बात यह है कि प्रारम्भ में ढांचा बिलकुल सरल होता है किंतु बाद में बढ़ता जाता है। ठीक यही तो जंगल के

साथ भी होता है। सबसे पहले केवल कोमल तरु होते हैं और उसके बाद झाड़-झंकाड़। पहले ये सभी सीधे उगते हैं, परन्तु बाद में इनकी शाखाएं एक-दूसरे से लिपट जाती है।

(ग) स्पेन्सर ने तीसरी बात यह कही है कि विभिन्न भागों की परस्पर निर्भरता बढ़ती जाती है, यहांतक कि प्रत्येक भाग का जीवन शेष भागों के जीवन और क्रिया पर आश्रित हो जाता है···। यही वृक्षों के साथ भी होता है। झाड़ियों से वृक्षों के तनों को गर्मी पहुंचती है। इसी प्रकार यदि उन्हें काट डाला जाय तो दूसरे वृक्षों को जाड़े में पाला मार जाय। सीमावर्ती पेड़ों से जंगल की हवा से रक्षा होती है और बीज-वाले पेड़ों का उत्पादन-कार्य जारी रहता है। लम्बे और पत्तीदार वृक्ष छाया प्रदान करते हैं और एक वृक्ष का जीवन दूसरे वृक्ष के जीवन पर आश्रित होता है।

(घ) स्पेन्सर की चौथी मान्यता यह है कि भिन्न-भिन्न भागों का नाश हो सकता है किंतु उनसे बनी हुई सम्पूर्णता अमर रहती है···। यही बात जंगल के लिए भी कही जा सकती है। कहावत भी है कि जंगल किसी एक वृक्ष के लिए रुदन नहीं करता।

शरीर-यन्त्र के सिद्धान्त के समर्थक साधारणतः जो उदाहरण देते हैं उसकी भी यही बात है। वे कहते हैं कि शरीर से यदि आप भुजा को काट डालें तो वह भुजा नष्ट हो जाती है। हम कहते हैं कि किसी वृक्ष को जंगल की छाया और भूमि से हटा दीजिए और वह नष्ट हो जायगा।

इस सिद्धान्त में और ईसाई सिद्धान्त व विश्वास के आधार पर संस्थापित सभी दूसरे सिद्धान्तों में एक मार्के की समानता है। वह यह कि ये सिद्धान्त तर्क द्वारा खंडित नहीं किये जा सकते। सैद्धान्तिक रूप से यह प्रमाणित करके कि हमें एक जंगल को भी शरीर-यन्त्र मानने का अधिकार है हम समझते हैं कि हमने वैज्ञानिकों के सामने उनकी परि-भाषा की अशुद्धता प्रकट कर दी है, किन्तु यह बात लेशमात्र भी सत्य नहीं हैं। वैज्ञानिक लोग शरीर-यन्त्र की जो परिभाषा करते हैं वह इतनी अनिश्चित और लचीली होती है कि वे उसके अन्तर्गत जो चाहें वही

सम्मिलित कर सकते हैं। वे जंगल को भी एक यन्त्र मान सकते हैं। जंगल भी तो एक दूसरे को क्षति न पहुँचानेवाले भिन्न-भिन्न अंगों की शान्तिपूर्ण क्रिया-प्रतिक्रिया ही है; वह भी तो एक ऐसी समाविष्ट वस्तु है जिसके पृथक-पृथक अंगों का एक-दूसरे से घनिष्ठ संयोग हो सकता है और जो मधुमक्खियों के झुंड की तरह एक बन सकते हैं।

इसके उत्तर में आप कह सकते हैं कि तब तो उस जंगल के पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी—जिनकी एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है किन्तु जो एक-दूसरे को नष्ट नहीं करते—यहांतक कि उस जंगल के वृक्ष भी शरीर-यन्त्र माने जा सकते हैं।

वैज्ञानिक लोग आपकी इस मान्यता को भी स्वीकार कर लेंगे। उनके सिद्धान्त के अनुसार जीवित पदार्थों का हर वह समन्वय जिसके पृथक-पृथक अंगों की आपस में प्रतिक्रिया होती रहती है किन्तु जो एक दूसरे को नष्ट नहीं करते, एक शरीर-यन्त्र माना जा सकता है। आप जिन पदार्थों में भी चाहें, पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग की मान्यता कर सकते हैं और कह सकते हैं कि जिस चीज को भी चाहें उसीके विकास से दीर्घ काल में मनचाही वस्तु उत्पत्ति हो सकती है।

प्रभु के त्रिदेव रूप में विश्वास करनेवाले लोगों के सामने यह सिद्ध करना असम्भव है कि भगवान के तीन रूप नहीं हैं, फिर भी यह बताना तो सम्भव है ही कि उनका मत ज्ञान पर नहीं बल्कि धार्मिक विश्वास पर आधारित है और यदि वे यह कहते हैं कि भगवान तीन हैं तो हम यह भी साधिकार कह सकते हैं कि भगवान १७½ हैं।

इतने ही विश्वास के साथ बल्कि और भी अधिक विश्वास के साथ साकारवादी और विकासवादी विज्ञान के समर्थकों को भी यही उत्तर दिया जा सकता है। उस विज्ञान के आधार पर तो कोई कुछ भी प्रमाणित कर सकता है। लेकिन सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि यही साकारवादी विज्ञान वैज्ञानिक प्रणाली को सत्य ज्ञान का संकेत मानता है और जिसे वह वैज्ञानिक प्रणाली कहता है उसकी उसने स्वयं परिभाषा भी कर दी है। वास्तव में जिसे वह वैज्ञानिक प्रणाली कहकर पुकारता है वह और कुछ नहीं बल्कि साधारण बुद्धि है और यही साधारण बुद्धि

पद-पद पर उसकी त्रुटियां दिखाती है।

जो लोग साधु-संतों के पद पर ग्रासीन थे उन लोगों ने जैसे ही यह अनुभव किया कि उनमें अब साधुत्व की कोई बात शेष नहीं रह गई है और वे अब अभिशापित हो गए हैं वैसे ही उन्होंने अपनेको (पोप और धर्मसभा की भांति) पुनीत ही नहीं बल्कि महापुनीत कहना आरम्भ कर दिया। उसी प्रकार, जैसे ही विज्ञान ने देखा कि अब उसमें कोई तर्कसंगत बात नहीं रह गई है वैसे ही उसने अपनेको तर्कसंगत तथा 'वैज्ञानिक' या 'शास्त्रीय' विज्ञान कहना आरम्भ कर दिया।

: ३१ :

श्रम-विभाजन की भ्रामक धारणा

कहा जाता है कि श्रम-विभाजन का नियम तो संसार के सभी पदार्थों में पाया जाता है; इसलिए उसका मानव-समाज में भी होना अनिवार्य है। बहुत सम्भव है कि बात ऐसी हो; किंतु इसके बावजूद यह प्रश्न तो बना रहता है कि क्या श्रम-विभाजन ठीक वैसा ही होना चाहिए जैसा कि वह आज के मानव-समाज में पाया जाता है ? यदि श्रम-विभाजन की कोई एक प्रणाली लोगों को अनुचित और अन्यायपूर्ण प्रतीत हो तो फिर किसी भी विज्ञान के लिए यह प्रमाणित करना सम्भव नहीं कि यही प्रणाली—जिसे लोग अनुचित और अन्यायपूर्ण समझते हैं—जारी रहनी चाहिए।

ईसाई धर्म ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है। बहुत सम्भव है कि ऐसा ही हो भी; किंतु यह प्रश्न तो शेष रह ही गया था—"ईश्वर ने यह शक्ति किसको दी है—कैथरीन[1] को या भूगोश्योफ़[2] को ?" निस्संदेह धर्म की कोई भी व्याख्या इस शंका का

[1] रूस की महारानी कैथरीन द्वितीय (महान्), राज्यकाल—१७६१ से १७९६।

[2] भूगोश्योफ़ ने १७७२ से १७७५ तक एक बड़े ही भयंकर किसान-विद्रोह का नेतृत्व किया था। इसने कितने ही नगरों पर अधिकार कर लिया था।

समाधान नहीं कर सकती।

इसी प्रकार आत्मा के विकास में विश्वास करनेवाले दर्शन-शास्त्र ने बताया था कि राज्य और कुछ नहीं, व्यक्तित्व के ही विकास का एक रूप है। किंतु इससे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला—"क्या नीरो[1] और चंगेजखां[2] के राज्य को व्यक्तित्व के विकास का प्रतिरूपक माना जा सकता है ?" निस्संदेह उच्च-से-उच्च दर्शन-वाणी भी इस शंका को नहीं मिटा सकती।

यही बात विज्ञान पर भी लागू होती है। वैज्ञानिकों के मतानुसार श्रम-विभाजन शरीर-यंत्रों अर्थात मानव-समाज के जीवन का एक अनिवार्य आधार है। किंतु मानव-समाज में हम किस वस्तु को इंद्रियों का श्रम-विभाजन मानें ? कृमि-तंतुओं के श्रम-विभाजन का अध्ययन विज्ञान चाहे जितना भी करे उसका यह कार्य मनुष्य को यह बात मानने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता कि जिस श्रम-विभाजन को उसकी बुद्धि और आत्मा अंगीकार नहीं करती वह न्यायपूर्ण है।

शरीर के जिन तंतुओं की हम खोज-बीन करते हैं उनमें श्रम-विभाजन का हमें चाहे कितना भी अकाट्य प्रमाण क्यों न मिले, यदि हमारी बुद्धि बिलकुल मारी नहीं गई है तो हम यही कहेंगे कि किसी मनुष्य को जन्म-भर सूती कपड़ा ही बुनते रहना अर्थात एक ही प्रकार के कार्य में जुटे रहना प्रयोजनीय नहीं है; इस प्रकार की व्यवस्था श्रम-विभाजन नहीं बल्कि मनुष्य पर अत्याचार है।

स्पेंसर[3] और दूसरे लोग कहते हैं कि जुलाहों का एक पूरा-का-पूरा

---

[1] रोम के कुख्यात सम्राट् क्लाडियस सीजर नीरो (ईसा पूर्व ३७–६८) का १४ वर्ष का शासन-काल विश्व के इतिहास में क्रूरता और व्यभिचार के लिए प्रसिद्ध है।

[2] मंगोलिया का प्रसिद्ध बर्बर शासक, जिसने दो बार चीन पर आधिपत्य जमाया और तुर्कों को यूरोपीय सीमा से बाहर निकलने पर बाध्य किया—(११६२–१२२७)।

[3] प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०–१९०३)।

वर्ग है, इसलिए उसकी क्रियाएं अवश्य ही इंद्रियों के श्रम-विभाजन पर आधारित होंगी। किंतु यह तो ठीक वही बात हुई जो धार्मिक आचार्य कहा करते थे। धर्मवेत्ताओं के कथनानुसार इस संसार में एक शक्ति है, इसलिए वह ईश्वरप्रदत्त है चाहे वह कैसी भी क्यों न हो। इसी प्रकार स्पेंसर आदि के कहने का अर्थ यह हुआ कि चूंकि इस संसार में जुलाहे है इसीलिए श्रम-विभाजन का भी यही उचित रूप है। इस तर्क में कुछ तथ्य हो सकता था यदि उपर्युक्त शक्ति और जुलाहों की उत्पत्ति स्वयं उत्पन्न हुई होती। किंतु हम जानते हैं कि वे स्वयं नहीं हुए हैं बल्कि हमने उन्हें जन्म दिया है। इसलिए हमें यह देखना होगा कि हमने उस शक्ति को ईश्वर के इच्छानुसार उत्पन्न किया है या स्वयं अपनी इच्छा से। और इसी प्रकार यह भी देखना होगा कि हमने इन जुलाहों को इंद्रिय-सम्बन्धी नियम के अनुसार जन्म दिया है या किसी और वस्तु के आधार पर।

लोग खेतीबारी करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, जैसा कि सब लोगों के लिए करना उचित है। मान लीजिए कि इनमें से एक आदमी लुहार की धौंकनी जगा लेता है और अपने हल की मरम्मत आप कर लेता है। उसे ऐसा करते देख उसका पड़ोसी उसके पास आता है और कहता है कि मेरे हल की मरम्मत कर दो, इसके बदले में मैं तुम्हें काम या रुपया दूंगा। इसी तरह फिर कोई तीसरा आदमी आता है, फिर चौथा और सिलसिला आगे चल पड़ता है। अब इन लोगों में आपसे आप श्रम-विभाजन की स्थापना हो जाती है और एक आदमी लुहार का काम ले बैठता है। इसी तरह मान लीजिए कि कोई दूसरा आदमी अपने बच्चों को अच्छी तरह से पढ़ा-लिखा लेता है, जिसे देखकर और लोग भी उसके पास अपने बच्चे लाकर पढ़ाने को कहते हैं। अब वह आदमी अध्यापक बन बैठता है। लेकिन स्मरण रखिए कि ये लुहार और अध्यापक दोनों ही अस्तित्व में केवल इसलिए आए कि समाज ने उन्हें लुहारी और अध्यापन का कार्य करने को कहा और वे लुहार और अध्यापक उसी समय तक रह सकते हैं जबतक कि समाज उन्हें लुहारी और अध्यापन का कार्य करने के लिए कहता रहे। अब यदि ऐसा हो जाय कि बहुत-से

लुहार और अध्यापक पैदा हो जायं और उनके काम की दूसरों को आवश्यकता न रह जाय तो ऐसी दशा में साधारण बुद्धि यही कहती है कि वे लोग फौरन इस पेशे को छोड़कर फिर से खेतीबारी करने लग जायंगे। जहां-कहीं भी उचित श्रम-विभाजन की व्यवस्था के भंग होने का कोई कारण नहीं होता वहां सदा ऐसा ही होता भी है।

जो लोग ऐसा करते हैं वे अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की प्रेरणा ही से करते हैं। अतएव हम लोग, जिन्हें भगवान् ने बुद्धि और अन्तरात्मा प्रदान की है, इस प्रकार के श्रम-विभाजन को उचित मानते हैं। किंतु यदि स्थिति ऐसी हो जाय कि लुहार दूसरों को अपना काम करने के लिए विवश कर सकें और घोड़े की नाल बनाने का काम उस समय भी जारी रखें जब नालों की किसीको आवश्यकता ही न हो और इसी प्रकार यदि अध्यापक अपने अध्यापन का कार्य उस समय भी चलाते रहें जब कोई पढ़नेवाला ही न हो तो बुद्धि और अन्तरात्मा से विभूषित प्रत्येक दर्शक को यही लगेगा कि यह तो श्रम-विभाजन नहीं बल्कि दूसरे लोगों के श्रम का शोषण है, क्योंकि इस प्रकार के कार्य उस कसौटी पर खरे नहीं उतरते जो श्रम-विभाजन के औचित्य को परखने का एकमात्र साधन है। कसौटी यह है कि लोग जो काम करते हैं उसकी मांग दूसरे आदमियों में हो और लोग उसके लिए स्वेच्छा से पारिश्रमिक देने को तैयार हों। फिर भी वैज्ञानिक लोग इसी शोषण को श्रम-विभाजन कहते हैं।

लोग ऐसी चीजें बनाते हैं जिनकी दूसरों को आवश्यकता नहीं होती, फिर भी वे चाहते हैं कि उनके इस कार्य के बदले उनका भरण-पोषण किया जाय। इतना ही नहीं वे तो यह भी कहते हैं कि श्रम-विभाजन के नियमों के अनुकूल होने के कारण उनका यह कार्य उचित है।

हमारे ही देश में नहीं, बल्कि सभी स्थानों में जिस सबसे बड़े दूषण का जनता को दुःख उठाना पड़ता है वह है उस देश की सरकार और उसके अंतर्गत कार्य करनेवाले अनगिनत अधिकारी। अंग्रेजों के कथनानुसार हमारे आज के आर्थिक कष्ट का कारण 'आवश्यकता से अधिक उत्पादन' है। अर्थात्, उनका कहना है कि ऐसे पदार्थों का अत्यधिक

परिमाण में उत्पादन होता है जिन्हें कोई चाहता नहीं या जिनके सम्बन्ध में लोगों को यह समझ में नहीं आता कि इनका क्या किया जाय। यह सब उस विचित्र भावना का परिणाम है जो हमारे मस्तिष्क में श्रम-विभाजन के सम्बन्ध में बैठी हुई है।

यदि कोई मोची लगातार ऐसे जूते बनाता रहे जिनकी बहुत दिनों से किसीको आवश्यकता ही नहीं रह गई है और यदि वह यह सोचे कि उसके इस कार्य के बदले उसका भरण-पोषण करना लोगों का कर्त्तव्य है तो हमें बड़ा आश्चर्य होगा। किंतु जो लोग शासन-व्यवस्था, गिरजा, विज्ञान और कला से सम्बन्धित हैं उनके लिए क्या कहा जाय ? वे तो जनता के लिए कोई भी ग्राह्य या उपयोगी वस्तु नहीं बनाते। उनकी बनाई चीजों की किसीको आवश्यकता नहीं, फिर भी वे श्रम-विभाजन की दुहाई देते हुए बड़ी निर्भीकता के साथ कहते हैं कि हमें अच्छा खाना और कपड़ा मिले।

ऐसे जादूगर तो हो सकते हैं जिनके खेलों को जनता पसंद करे और उन्हें खूब खिलाए-पिलाए; लेकिन ऐसे जादूगरों की तो कल्पना तक नहीं की जा सकती जिनके तमाशे किसीको पसंद न हों और फिर भी वे अपनी करामातों के बदले निर्भीकतापूर्वक बढ़िया खाने-पीने की मांग करें। किंतु आज सरकारी लोग, गिरजा में काम करनेवाले और विज्ञान या कला के विशेषज्ञ, संसार के सभी लोग यही तो कर रहे हैं और यह सब श्रम-विभाजन की मिथ्या कल्पना का ही तो परिणाम है—एक ऐसी कल्पना जो मनुष्य की अन्तरात्मा से उद्‌भूत नहीं हुई है बल्कि उन निष्कर्षों पर अवलम्बित है जिन्हें वैज्ञानिक लोगों ने एक स्वर से स्वीकार कर लिया।

श्रम-विभाजन तो सदा रहा है और अब भी है, किंतु वह उचित तभी होता है जब उसकी रूपरेखा का निर्णय मनुष्य की बुद्धि और अन्तरात्मा करती है, न कि केवल उसके प्रचलन को देखकर ही उसे स्वीकार कर लिया जाता है। सभी मनुष्यों की बुद्धि और अन्तरात्मा इस रूपरेखा का निर्णय बड़े ही सरल और असंदिग्ध रूप में एक स्वर के साथ करती हैं—वह यह कि श्रम-विभाजन उचित तभी होता है जब किसी एक व्यक्ति की विशेष क्रिया की दूसरे लोगों को इतनी आवश्यकता होती है कि वे

न केवल उससे उस कार्य को करने को कहते हैं बल्कि उसकी सेवाओं के बदले स्वेच्छापूर्वक उसका भरण-पोषण भी करने को तत्पर हो जाते हैं। किंतु यदि कोई व्यक्ति अपने बचपन से लेकर तीस वर्ष की आयु तक दूसरों के सहारे जीवनयापन करता हुआ यह वचन देता रह सकता है कि पढ़-लिखकर मैं आपके लिए कोई उपयोगी काम करूंगा—ऐसा कार्य जो कोई उससे करने के लिए नहीं कहता—और यदि तीस वर्ष की आयु के बाद से मृत्यु पर्यन्त भी वह इसी प्रकार जीवन बिताता रह सकता है और ऐसे कार्यों के करते रहने का वचन देता रह सकता है जिसे लोग उसे करने को नहीं कहते, तो यह श्रम-विभाजन नहीं माना जा सकता और वास्तव में यह श्रम-विभाजन है भी नहीं। यह तो शक्तिशालियों द्वारा निर्बलों के श्रम का शोषण मात्र है। यह तो वही डकैती है जिसे धर्माचार्य 'ईश्वरीय विधान' कहकर पुकारते थे, जिसे बाद में दार्शनिकों ने 'जीवन का आवश्यक रूप' कहकर पुकारा और जिसे आज वैज्ञानिक लोग इंद्रियों का श्रम-विभाजन कहते हैं। यही वह एकमात्र तथ्य है जिसमें आज के सत्ताधारी विज्ञान का सारा महत्व निहित है।

आज का विज्ञान हमारी अकर्मण्यता के लिए प्रमाण-पत्र देने लगा है, क्योंकि अकेले उसीको अपनी शोधशाला में बैठकर इस बात का निर्णय करने का अधिकार है कि समाज-रूपी शरीर-यंत्र में कौन-सा कार्य इन्द्रिय-सम्बन्धी नियमों के अनुसार हो रहा है और कौन-सा उसके विरुद्ध। इसका आशय तो यह हुआ कि इस बात का निर्णय हर आदमी स्वयं अपना बुद्धि और अन्तरात्मा से पूछकर नहीं कर सकता, यद्यपि सत्य यह है कि उसकी बुद्धि और अन्तरात्मा का निर्णय कहीं अधिक सच्चा और तात्कालिक होता है।

जिस प्रकार पहले धर्माचार्यों के सम्बन्ध में और बाद में सरकारी अधिकारियों के बारे में यह संदेह नहीं किया जा सकता था कि समाज के लिए वे ही सबसे अधिक आवश्यक हैं उसी प्रकार आज वैज्ञानिकों के सम्बन्ध में ऐसा लगता है कि उनकी क्रियाएं शरीर-यंत्र के नियमों के बिलकुल अनुकूल हैं अर्थात् वैज्ञानिक और कलाकार ही शरीर-यंत्र के सबसे बहुमूल्य मेधा-तन्तु हैं। लेकिन भगवान् इनका भला करें! इसमें

तो कोई बुराई नहीं कि ये लोग भी पुराने जमाने के पुरोहितों और दार्शनिकों की तरह लोगों पर शासन करें और खायें-पियें, मौज उड़ायें; किंतु शर्त यह है कि वे उनकी तरह जनता को कुमार्ग पर न ले जायं।

चूंकि मनुष्य तर्कशील व्यक्ति है इसलिए वह सदा अच्छे और बुरे में अन्तर करता आया है और इस दिशा में अपने-पूर्वजों के अनुभव से भी लाभ उठाता रहा है। मनुष्य बुद्धि से संघर्ष करता रहा है, सत्य और सर्वोत्तम मार्ग को ढूंढ़ता रहा है और धीरे-धीरे किंतु दृढ़ता के साथ उस मार्ग पर बढ़ता रहा है। उसके इस मार्ग में बाधा डालने के लिए बहुत-से भ्रम खड़े किये जाते रहे हैं ताकि उसे बहकाया जा सके कि वह जो कुछ भी कर रहा है ठीक नहीं है और उसे पुराने लोगों की तरह से ही जीवन बिताते रहना चाहिए। सबसे पहले तो ईसाई धर्म के वे पुराने भयंकर भ्रम सामने आए जिनसे मनुष्य ने बड़े ही संघर्ष और श्रम के पश्चात् अपनेको धीरे-धीरे मुक्त किया; किंतु उनसे पूरी तरह से पिंड छूटने से पहले ही एक नया धोखा आ खड़ा हुआ और वह था राज्य-दर्शन का धोखा। मनुष्य ने इस जाल को भी भंग किया किंतु अब एक नया तथा और भी अधिक भयंकर छल उसके मार्ग में बाधा देने के लिए आ खड़ा हुआ है और वह है विज्ञान का छल।

यह नया छल भी वैसा ही है जैसे कि पुराने थे; बस इतनी विशेषता अवश्य है कि हमारी अपनी और पूर्वजों की बुद्धि और अन्तरात्मा के स्थान पर एक वाह्य वस्तु का प्रयोग होने लगा है। इस बाह्य वस्तु को धर्म-शास्त्रों में 'दैवी ज्ञान' कहा जाता था और इसीको अब विज्ञान में 'निरीक्षण' कहा जाता है। विज्ञान की चाल यह है कि मानवीय बुद्धि और अन्तरात्मा की भयंकरतम कर्त्तव्यच्युतियों की तरफ ध्यान आकर्षित करके वह बुद्धि और अन्तरात्मा के प्रति मनुष्य के विश्वास को नष्ट कर देना चाहता है और अपने इस भ्रमजाल को एक वैज्ञानिक सिद्धान्त का बाना पहनाकर यह विश्वास दिलाना चाहता है कि वाह्य-तत्व का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य उन असंदिग्ध तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर लेता है जो उसके समक्ष मनुष्य-जीवन के नियमों को स्पष्ट कर देते हैं। इसके फलस्वरूप मनुष्य का मानसिक अधःपतन हो जाता है। चूंकि उसे यह विश्वास उत्पन्न हो

जाता है कि प्रत्येक वस्तु का निर्णय निरीक्षण के आधार पर ही होना उचित है—यद्यपि वास्तव में यह निर्णय बुद्धि और अन्तरात्मा द्वारा होना चाहिए—इसलिए उसकी अच्छे और बुरे को समझने की चेतना नष्ट हो जाती है और वह अच्छाई और बुराई की उस व्याख्या को समझने में असमर्थ हो जाता है जो उससे पहले का समाज करता आया था। उसकी धारणा यह हो जाती है कि ये सब बातें व्यक्तिगत और अन्य बातों पर आश्रित हैं, इसलिए इनका परित्याग कर देना चाहिए; सत्य का ज्ञान किसी एक व्यक्ति की बुद्धि या तर्कशक्ति से नहीं होता, क्योंकि मनुष्य से भूल हो सकती है। उसके कथनानुसार सत्य को समझने का एक दूसरा मार्ग है जो कि अचूक और बिलकुल यंत्रवत है। यह मार्ग है तथ्य का अध्ययन करना। तथ्य का अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए अर्थात् साकारवाद और विकासवाद के उन दो सिद्धान्तों के आधार पर, जो निराधार हैं किन्तु हमारे समक्ष असंदिग्ध सत्य कहकर प्रस्तुत किये जाते हैं।

आज का विज्ञान, जिसका इतना बोलबाला है और जिसकी गम्भीरता गिरजा-धर्म से कम भ्रामक नहीं है, यह घोषणा करता है कि जीवन-संबंधी सभी प्रश्नों का एकमात्र हल प्रकृति—विशेषतः शरीरयंत्रों—के तथ्यों का अध्ययन करना है। इस घोषणा का न तो अबतक प्रतिकार ही हुआ है और न सच पूछिए तो उसकी आलोचना करने की ही चेष्टा की गई है। उसकी नवीनता से प्रभावित होकर कुछ खिलवाड़ी नवयुवक प्राकृतिक विज्ञान के इन तथ्यों का अध्ययन करने दौड़ पड़ते हैं और उस मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं जो प्रचलित सिद्धान्त के अनुसार हमें जीवन-सम्बन्धी प्रश्नों के स्पष्टीकरण की ओर ले जानेवाला एकमात्र मार्ग है। किंतु ये विद्यार्थी इसका जितना ही अध्ययन करते हैं उतना ही वे जीवन की समस्याओं को हल करने की न केवल सम्भावना से बल्कि कल्पना तक से दूर हटते चले जाते हैं। और जितना ही वे अपने निरीक्षण पर अवलम्बित न रहकर दूसरों के निरीक्षण के आधार पर बताई गई बातों को विश्वासपूर्वक ग्रहण करने के आदी बनते जाते हैं उतना ही आन्तरिक सत्य उनकी आंखों से ओझल होता चला

जाता है और उतना ही वे अच्छे और बुरे को समझने की अपनी चेतना को खोते चले जाते हैं तथा अपने पूर्ववर्त्ती मानव-समाज द्वारा निर्धारित अच्छाई-बुराई की व्याख्या को समझ सकने की उनकी शक्ति लुप्त होती चली जाती है। इसी प्रकार जितना ही वे विज्ञान के अनर्गल सिद्धान्त का अनुकरण करते जाते हैं—जिसका कि मनुष्य के लिए कोई महत्त्व नहीं होता—उतना ही वे बिलकुल अन्धकारपूर्ण निरीक्षण के टूटे-फूटे खंडहरों में खोए फिरते हैं और उतना ही वे स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने की अपनी शक्ति को ही नहीं खो बैठते बल्कि अपने सिद्धान्त की सीमा से बाहर दूसरे लोगों के नवीन विचारों को समझने की क्षमता से भी हाथ धो बैठते हैं। सबसे बड़े महत्त्व की बात तो यह है कि अपनी आयु के सर्वोत्कृष्ट वर्ष वे जीवन अर्थात श्रम के प्रति अनभ्यस्त बनने में बिता देते हैं और अपनी स्थिति को न्यायसंगत मानने के आदी हो जाते हैं, जबकि शरीर से वे बिलकुल निरर्थक पंगु बन जाते हैं। दार्शनिकों और तालमद[1] के अनुयाइयों की तरह उनकी मेधा-शक्ति का लोप हो जाता है, वे मानसिक जनखे बन जाते हैं और जैसे-जैसे उनकी बुद्धि मन्द होती जाती है वैसे-वैसे उनके मन में एक प्रकार की आत्मविश्वास की भावना उदित होती है जो उन्हें सरल, स्पष्ट और मानवीय विचार-शैली को पुनः अपना सकने की सम्भावना से सदा के लिए वंचित कर देती है।

: ३२ :

बुद्धिजीवियों के थोथे वचन

श्रम-विभाजन मानव-समाज में सदा रहा है और कदाचित सदा रहेगा; किन्तु प्रश्न श्रम-विभाजन की विद्यमानता का नहीं बल्कि उस कसौटी का है जिसपर कसकर हम श्रम-विभाजन को खरा मान सकते हैं। यदि हम निरीक्षण को कसौटी मानें तो इसका अर्थ यह है कि हमें अन्य सभी कसौटियां अस्वीकार्य हैं और समाज में प्रचलित जो कोई भी

---

[1]यहूदी कानूनों और पौराणिक कथाओं के संग्रह का नाम तालमद है।

श्रम-विभाजन हमें उचित दिखाई देगा उसीको हम ठीक मानने को तैयार हो जायंगे। वास्तव में यही वह दिशा है जिधर आज का सत्ताधारी विज्ञान हमें ले जा रहा है।

"श्रम विभाजन ! कुछ लोग मानसिक और आत्मिक श्रम में संलग्न हैं, तो कुछ शारीरिक श्रम में"—यह बात लोग कितने विश्वास के साथ कहते हैं। वास्तव में वे ऐसा ही विश्वास भी करना चाहते हैं और समझते हैं कि इस संसार में सभी लोगों की सेवाओं का एक-दूसरे से बिलकुल ठीक विनिमय हो रहा है। किन्तु आज जो श्रम-विभाजन प्रचलित है वह वास्तव में बलात्कार और शोषण का ही सरल और अत्यन्त पुराना रूप है।

लोग कहते हैं—"तू या तुम लोग (क्योंकि एक आदमी को खिलाने के लिए प्रायः अनेक आदमियों की आवश्यकता होती है) मुझे खाना खिलाओ, कपड़े दो, मेरे लिए वे सभी कठोर कार्य करो जो मैं तुमसे करने के लिए कहूं और जिनको तुम मेरे लिए बचपन से ही करते आए हो। अगर तुम ऐसा करोगे तो इसके बदले मैं तुम्हारे लिए वह मानसिक कार्य करूंगा जिसके करने में मैं समर्थ हूं और जिसका मुझे अभ्यास है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं तुम्हें आत्मिक भोजन दूंगा।" यह लेखा-जोखा मालूम तो बिलकुल ठीक होता है और वास्तव में ठीक है भी, बशर्ते कि सेवाओं का यह विनिमय स्वेच्छापूर्वक हो और जो लोग शारीरिक भोजन देते हैं उन्हें आत्मिक भोजन प्राप्त करने से पहले उसे देने के लिए विवश न होना पड़े। आत्मिक भोजन का उत्पादक कहता है—"मैं तुम्हें आत्मिक भोजन दे सकूं, इसके लिए तुम मुझे खाना-कपड़ा दो और मैं जो गंदगी करूं उसे साफ करो। किंतु शारीरिक भोजन के उत्पादक को यह सब काम कोई मांग उपस्थित किये बिना ही करना पड़ता है और यदि उसे आत्मिक भोजन न भी मिले तो भी उसे शारीरिक भोजन देना ही होता है। यदि सेवाओं का विनिमय स्वेच्छापूर्वक होता तो दोनों की स्थिति एक समान होती।

हम मानते हैं कि मनुष्य के लिए आत्मिक भोजन भी उतना ही आवश्यक है जितना कि शारीरिक भोजन; किन्तु विद्वान् और कलाकार

कहते हैं—"इसके पहले कि हम जनसाधारण को आत्मिक भोजन दें हम चाहते हैं कि वे हमें शरीरिक भोजन दें।" यदि वे ऐसा कह सकते हैं तो क्या शारीरिक भोजन के उत्पादक यह नहीं कह सकते कि इसके पहले कि हम शारीरिक भोजन दें हमें आत्मिक भोजन की आश्श्यकता है और जबतक वह नहीं मिलेगा तबतक हम कार्य नहीं कर सकते ?

वैज्ञानिक और कलाकार कहते हैं—"इसके लिए कि मैं आत्मिक भोजन तैयार कर सकूं मुझे एक हल चलानेवाले लुहार, मोची, बढ़ई, ईंट पाथनेवाले, भंगी और दूसरे लोगों की सेवाओं की आवश्यकता है।" इसी तरह हर मजदूर को यह कहने का अधिकार है—"इसके पहले कि मैं तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए कार्य आरम्भ करूँ मुझे तुम्हारे आत्मिक कार्य का लाभ मिल जाना चाहिए। मुझे अपने कार्य के लिए शक्ति प्राप्त करने के निमित्त धार्मिक शिक्षा, सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन, वैज्ञानिक प्रयोगों के लाभ और कला से उत्पन्न आनन्द और सन्तोष की आवश्यकता है। मेरे पास इतना समय नहीं कि जीवन के अर्थ की मैं स्वयं व्याख्या करूं—यह व्याख्या तुम स्वयं करके दो। मेरे पास इसके लिए भी समय नहीं कि मैं सामाजिक जीवन के लिए उन नियमों का निर्माण करूं जिनसे न्याय का उल्लंघन रोका जा सकता है—उन्हें तुम स्वयं मुझे बनाकर दो। इसी प्रकार मेरे पास अर्थशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, रसायनशास्त्र और शिल्पविद्या के अध्ययन में लगाने के लिए समय नहीं है—मुझे तो ऐसी पुस्तकें दे दो जो मेरे औजारों, मेरी कार्य-प्रणाली, मेरे निवासस्थान और गरमी तथा प्रकाश प्राप्त करने के साधनों को सुधारने की युक्ति बता सकें। काव्य, संगीत और शिल्पकला में व्यस्त रहने के लिए भी मेरे पास समय नहीं, मुझे तो कला से उद्भूत होनेवाली वे प्रेरणाएं और संतोष प्रदान कर दो जिनकी जीवन को आवश्यकता है।" कलाविद और विज्ञानवेत्ता कहते हैं—"मजदूर लोग हमारे लिए जो काम कर देते हैं उसे वे न करें तो हम अपनी आवश्यक और महत्वपूर्ण समस्याओं पर ध्यान नहीं दे सकेंगे।" किंतु मजदूर कहता है कि यदि मुझे मेरी बुद्धि और अन्तरात्मा की मांग के अनुसार धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती, मेरे श्रम को सुरक्षित रखने के लिए उचित राज्य-व्यवस्था प्राप्त

नहीं होती, मेरे कार्य को सुविधा प्रदान करनेवाला ज्ञान और मेरे श्रम को सुख देनेवाला कला का आनन्द प्राप्त नहीं होता तो मैं हल चलाने, खाद ढोने और गंदगी की सफाई करने के उन कामों को नहीं कर सकता जो कम महत्त्वपूर्ण और आवश्यक नहीं है। मजदूर यह भी कहता है कि आत्मिक भोजन के रूप में तुमने अबतक मुझे जो कुछ भी दिया है वह मुझे अनुकूल नहीं पड़ता मैं तो समझ नहीं सकता कि इससे किसीका क्या भला हो सकता है। इसलिए जबतक मुझे अपने लिए उपयोगी भोजन नहीं मिलता – जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए—तबतक मैं तुमको वह शारीरिक भोजन नहीं दे सकता जोकि मैं उत्पन्न करता हूँ।

अगर सभी मजदूर लोग ऐसा कहने लगें तो कैसा रहे ? आप अच्छी तरह से जानते हैं कि ये बातें कोरी मजाक की नहीं बल्कि सीधी-सादी न्याय की बातें होंगी। यदि मजदूर ऐसा कहें तो उनकी यह बात मानसिक कार्यकर्त्ताओं से कहीं अधिक न्यायसंगत होगी, क्योंकि श्रमजीवियों का काम बुद्धिजीवियों के काम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य होता है और जहां बुद्धिजीवियों को अपने वचन के अनुसार श्रमजीवियों को आत्मिक भोजन देने में कोई अड़चन नहीं पड़ती वहां श्रमजीवियों को शारीरिक भोजन देने में कठिनाई पड़ती है क्योंकि वह भोजन स्वयं उसके लिए पर्याप्त नहीं होता।

यदि हम-जैसे बुद्धिजीवियों के समक्ष इस प्रकार की सरल और न्याय-संगत मांगें रखी जायं तो हम उनका क्या उत्तर देंगे ? हम उन्हें किस प्रकार संतुष्ट करेंगे ? क्या हम उन्हें इधर-उधर की धार्मिक पुस्तकें और भिन्न-भिन्न मठों और गिरजाघरों से प्रकाशित परचे देकर उनकी धार्मिक शिक्षा की मांग को पूरा कर देंगे ? क्या हम कानूनी पुस्तकों, अदालतों के विभिन्न निर्णयों और अनेकानेक कमेटियों और कमीशनों के नियमों को उपस्थित करके उनकी सामाजिक न्याय की भूख मिटा सकेंगे ? इसी प्रकार क्या हम उनकी ज्ञान की पिपासा को नक्षत्रों और ग्रहों की बनावट, आकाशगंगा की नापतौल, शुष्क रेखागणित, सूक्ष्म यंत्रों द्वारा किये गए शोधों, आत्म-अनात्मवाद के झगड़ों और वैज्ञानिक विद्यालय की कार्रवाइयों द्वार संतुष्ट कर सकेंगे ? और फिर हम उनकी कलात्मक मांगों की पूर्ति

कैसे करेंगे ? पुश्किन,[1] डोस्टोवस्की,[2] तुर्गनेव[3] और टाल्सटाय से ? फ्रांस के या अपने देश के ही चित्रकारों के उन चित्रों से जिनमें नंगी औरतों, साटन, मखमल, प्राकृतिक दृश्य आदि के चित्रण किये गए हैं ? वैगनर[4] या अपने ही यहां के किसी संगीतज्ञ के संगीत से ?—इनमें से कोई भी वस्तु न उनके अनुकूल पड़ती, न पड़ सकती है, चूंकि हमें दूसरों के श्रम का प्रयोग करने का अधिकार मिल गया है और आत्मिक भोजन के उत्पादन का हमपर कोई अनिवार्य उत्तरदायित्व नहीं है इसलिए वह उद्देश्य जो हमारे कार्यों का होना चाहिए हमारी आंखों से बिलकुल ओझल हो गया है। हम यह जानते तक नहीं कि श्रमजीवियों की आवश्यकता क्या है ? हम उनके जीवनयापन के ढंग को, उनके दृष्टिकोण को और उनके बोलने के तरीकों को भूल गए हैं। हम खुद मजदूर तक कों भूल गए हैं और हम उनका ठीक उसी तरह से अध्ययन करते हैं जैसे कोई किसी दुर्लभ जाति या नवज्ञात अमरीका का अध्ययन करता है।

इस प्रकार अपने लिए शारीरिक भोजन की मांग करते हुए हमने अपने ऊपर आत्मिक भोजन प्रदान करने का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया है।

किंतु एक काल्पनिक श्रम-विभाजन के फलस्वरूप—जिसने हमें न केवल कार्य करने से पहले भोजन करने की अनुमति दे रखी है बल्कि जिसके अनुसार हम पीढ़ियों तक बिना कुछ उत्पादन किये ही खूब मौज उड़ा सकते हैं—हमने अपने भरण-पोषण के बदले में देने के लिए ऐसी चीजें तैयार की हैं जो कि केवल विज्ञान और कला के लिए उपयोगी प्रतीत होती हैं, किंतु जो उन लोगों के लिए बिलकुल निरर्थक, अग्राह्य और घृणास्पद हैं और जिनके श्रम का शोषण हमने बदले में आत्मिक भोजन

---

[1] प्रख्यात रूसी कवि और साहित्यकार (१७९९–१८३०)

[2] रूस के महानतम उपन्यासकारों में से एक (१८२१–८१)

[3] प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार और कहानीकार (१८१८–८३)

[4] यूरोप का क्रांतिकारी संगीतज्ञ (१८१३–८३)

देने का बहाना करके कर लिया है। अपने कंधों पर हमने जो उत्तरदायित्व ग्रहण किया है उसे अंधतावश हमने अपनी आँखों से इतना ओझल कर दिया है कि हम भी भूल गए हैं कि हम जो कार्य कर रहे हैं उसका उद्देश्य क्या है; यहांतक कि जिन लोगों की सेवा करने का भार हमने लिया था उन्हींको अपनी वैज्ञानिक और कलात्मक क्रिया का विषय बिना लिया है। हम उनका अध्ययन करते हैं और अपने विनोद और मनोरंजन के लिए उनके जीवन का चित्रण करते हैं। इस बात को हम बिलकुल भूल गए हैं कि हमें उनका अध्ययन और चित्रण नहीं बल्कि उनकी सेवा करनी चाहिए ।

अपने कंधों पर ग्रहण किये हुए उत्तरदायित्वों को हमने इतना अधिक भुला दिया है कि हम यह नहीं देख पाते कि विज्ञान और कला के क्षेत्रों में हमने जो कुछ भी करने की जिम्मेदारी ली थी उसे हमने नहीं दूसरों ने किया है और हमारा अपना स्थान भरा हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि जिस समय हम कभी शरीर-यंत्रों की आकस्मिक उत्पत्ति, कभी अध्यात्मवाद, कभी परमाणुओं के रूप, कभी विभिन्न अंगों की स्वयंभू पुनरुत्पत्ति और कभी वनस्पतियों व प्राणियों के जीवन-सम्बन्धी आचार-तत्वों आदि के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क कर रहे थे—ठीक वैसे ही जैसे कि दार्शनिक लोग वर्जिन मेरी के निर्दोष, मूलभूत पाप-कर्म से अछूते जन्म के सम्बन्ध में वादविवाद करते थे—जन-साधारण को आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता हुई और जो लोग विज्ञान तथा कला के क्षेत्र में असफल होकर तिरस्कृत हो चुके थे उन्होंने एकमात्र आर्थिक लाभ के लिए चिन्तित रहनेवाले व्यापारियों के आदेश पर जनता को आत्मिक भोजन देना आरम्भ कर दिया और तबसे वे निरंतर ऐसा करते आ रहे हैं। यूरोप के अन्य भागों में प्रायः चालीस वर्षों में और रूस में भी पिछले लगभग दस वर्षों में करोड़ों पुस्तकें, चित्र और गानों की किताबें जन-साधारण में छापकर बांटी गई हैं और लोगों के सामने प्रदर्शन किये गए हैं। जन-साधारण इन्हें देखते हैं, गाते हैं और अपना आत्मिक भोजन प्राप्त करते हैं। इस भोजन को देने का उत्तरदायित्व तो हमने लिया था, किंतु उन्हें यह मिलता है किसी और से; और हम जो इस आत्मिक भोजन को

प्रदान करने के नाम पर अपनी अकर्मण्यता को उचित ठहराते हैं, चुपचाप बैठे-बैठे आंखें फाड़े देखते रहते हैं। किंतु हमें इस तरह आंखें फाड़कर नहीं देखना चाहिए क्योंकि हमारे पक्ष की अंतिम दलील भी लोप होती जा रही है। हम सोचते हैं कि हमने किसी एक विषय में विशेषता प्राप्त की है, इसलिए हमारा कार्य भी एक विशेष प्रकार का है। हम सोचते हैं कि हम जनता के मस्तिष्क हैं. जनता हमें भोजन देती है, हमने उसे शिक्षित बनाने का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया है और यही एकमात्र कारण है कि हमने अपनेको श्रम से मुक्त कर लिया है—लेकिन प्रश्न तो यह है कि हमने श्रमजीवियों को क्या सिखाया है और क्या सिखा रहे हैं ? वे एक वर्ष, दस वर्ष, सैकड़ों वर्षों से प्रतीक्षा करते आ रहे हैं और अब भी हम वादविवाद ही कर रहे हैं और उन लोगों को भुलाकर स्वयं अपनेको सिखा और एक-दूसरे का मनोरंजन कर रहे हैं। हम उन्हें इतना अधिक भूल गए हैं कि दूसरे लोगों ने उन्हें सिखाना और उनका मनोरंजन करना आरम्भ कर दिया है। मजे की बात तो यह है कि हमें इस बात का पता भी नहीं चला। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमलोग जनता का परोपकार करने की जो बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं वह केवल एक निर्लज्ज बहाना मात्र है।

: ३३ :

पथभ्रष्ट वैज्ञानिक और कलाकार

एक समय था जब हमारे समाज के जीवन की बागडोर धर्माचार्यों के हाथों में थी। गिरजा-धर्म ने लोगों के कल्याण का वचन दिया और इसके बहाने से अपनेको मानव-समाज के जीवन-संघर्ष में योग देने से मुक्त कर लिया। किंतु ज्योंही ऐसा हुआ, धर्म के ठेकेदार अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित हो गए और जनता भी उस धर्म की ओर से विमुख हो गई। गिरजा-धर्म के विनाश का कारण स्वयं उसकी त्रुटियां या भूलें नहीं थीं, बल्कि यह कि उसके अनुयायियों ने कौन्सटैन्टाइन[1] के राज्यकाल में सरकारी अधिकारियों का योग पाकर श्रम के नियमों का परित्याग कर दिया था और उसके फलस्वरूप उनमें जो अकर्मण्यता और विला-

सिता घुसी उसीने ईसाई धर्म में त्रुटियों को जन्म दिया। ज्योंही गिरजा के धर्माचार्यों को श्रम से मुक्ति मिली त्योंही उन्होंने उस मानव-समाज के हित का ध्यान छोड़ दिया जिसकी सेवा का भार उन्होंने अपने कंधों पर लिया था और स्वयं अपनी चिन्ता में संलग्न हो गए। इसीके फलस्वरूप वे अकर्मण्यता और विलासिता के शिकार बने। इसके बाद राज्यतंत्र ने लोकजीवन के नेतृत्व का भार ग्रहण किया। उसने जनता को न्याय, शांति, सुरक्षा, सुव्यवस्था और उसकी आत्मिक तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का वचन दिया और इसके बदले जिन लोगों ने राज्य की सेवा की उन्हें जीवन के संघर्ष से मुक्ति मिल गई। और जैसे ही सरकारी कर्मचारी दूसरों के श्रम का शोषण करने में समर्थ बने वैसे ही उन्होंने भी वही करना आरम्भ कर दिया जो गिरजा के कर्मचारियों ने किया था। उनके कार्य का लक्ष्य लोक-कल्याण नहीं बल्कि राज्य का कल्याण बन गया और रोम, फ्रांस, इंगलैंड, रूस और अमरीका में सभी राज्य-कर्मचारियों ने—शासक से लेकर छोटे-से-छोटे अफसर और कार्यकर्त्ता तक ने अपने को अकर्मण्यता और आलस्य में डुबो दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य पर से लोगों का विश्वास उठ गया और आज हम सभी जगह अराजकता को जानबूझकर एक आदर्श के रूप में उपस्थित किये जाते देख रहे हैं। जनता की आँखों में राज्य के लिए आकर्षण न रह जाने का एकमात्र कारण यह था कि उसके कर्मचारियों ने दूसरे के श्रम का शोषण करना अपना अधिकार समझा।

यही बात वैज्ञानिकों और कलाकारों ने भी राज्य कर्मचारियों की सहायता से की है। उन्होंने भी अकर्मण्य बनने और दूसरों के श्रम का शोषण करने का अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की और अब वे भी अपने कर्त्तव्य से च्युत हो गए हैं। वास्तव में इनसे भी भूल केवल इसलिए हुई कि श्रम-विभाजन के अशुद्ध सिद्धान्त को स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने दूसरों के श्रम का शोषण करना अपना अधिकार मान लिया और वे स्वयं अपने कर्त्तव्य के अर्थ को भूल गए। उन्होंने लोकहित को अपने

---

[1] **रोम का सम्राट् कोन्सटेन्टाइन महान्** (२२७–३३७)

कार्यों का लक्ष्य न मानकर विज्ञान और कला के रहस्यमय कल्याण को अपना ध्येय माना। अपने पूर्वजों की भांति उन्होंने भी अकर्मण्यता और विलासिता के समक्ष सिर झुका दिया यद्यपि वह विलासिता उतनी शारीरिक नहीं जितनी बौद्धिक थी।

कहा जाता है कि विज्ञान और कला ने मानव-समाज के लिए बहुत कुछ किया है। यह बिलकुल ठीक भी है। ईसाई धर्म और राज्यतंत्र ने भी मानव-समाज को बहुत-कुछ दिया था किंतु ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि उन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया और उनके कर्मचारियों ने जीवन-यापन के लिए निरंतर श्रम करते रहने के उस मानवीय कर्त्तव्य को भुला दिया जो सभी मनुष्यों के लिए एक समान है; बल्कि ऐसा इन सब बातों के बावजूद हुआ था।

इसी प्रकार विज्ञान और कला ने भी मानव-समाज को बहुत-कुछ दिया है किंतु इसका कारण यह नहीं था कि श्रम-विभाजन का बहाना लेकर वैज्ञानिकों और कलाकारों ने श्रमजीवियों की पीठ पर सवारी की, बल्कि असलियत यह थी कि उनके ऐसा करने के बावजूद मानव-समाज को लाभ पहुंचा। रोम का जनतंत्र शक्तिशाली था, इसलिए नहीं कि उसके नागरिक विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने में समर्थ थे, बल्कि इसलिए कि वहां के कुछ नागरिक बड़े ही योग्य थे।

और यही बात कला और विज्ञान की भी है। इसमें सन्देह नहीं कि कला और विज्ञान ने मानव-समाज को बहुत-कुछ प्रदान किया है किंतु इसका कारण यह नहीं है कि उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों को पहले कभी-कभी और आज सदा अपने श्रम से मुक्त रखने का अवसर प्राप्त है; बल्कि इसका कारण यह है कि ये लोग बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे और उन्होंने श्रम से मुक्त होने के अवसर से लाभ न उठाकर मानव-समाज को आगे बढ़ाया। जो विद्वान् और कलाविद् झूठे श्रम-विभाजन के आधार पर दूसरों के श्रम से लाभ उठाने का अधिकार मांगते हैं वे सच्चे विज्ञान और सच्ची कला की सफलता में योग नहीं दे सकते, क्योंकि झूठ सत्य को जन्म नहीं दे सकता।

हम लोग बुद्धिजीवियों को खा-पीकर मस्त, मोटे या दुर्बल देखने के

इतने आदी हो गए हैं कि हमें किसी विद्वान् या कलाकार का हल जोतना या खाद ढोना बर्बरतापूर्ण मालूम होता है। हमें ऐसा लगता है कि उसकी सारी विद्वत्ता नष्ट हो जायगी या खाद की गाड़ी में ही छिन्न-भिन्न हो जायगी और उसके हृदय में जो महान कलात्मक मूर्त्तियां विद्यमान हैं वे खाद से गंदी हो जायंगी। किंतु जब हम यह देखते हैं कि एक वैज्ञानिक अर्थात् सत्य को सिखानेवाला जनसेवक जिस कार्य को स्वयं कर सकता है उसे करने के लिए वह दूसरों को विवश कर रहा है और अपना आधा समय स्वादिष्ट भोजन को खाने, धूम्रपान करने, गप्पें लड़ाने, वाक्-विनोद करने, अखबारों और उपन्यासों को पढ़ने और थियेटर जाने में बिता देता है तो हमें बिलकुल आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि हम उसे ऐसा करते देखने के बिलकुल अभ्यस्त हो गए हैं। हम किसी दार्शनिक को किसी जलपानशाला, थियेटर या नाच में देखकर चकित नहीं होते और न हमें यही जानकर ताज्जुब होता है कि हमारी आत्मा को सुख पहुँचाने-वाले और ऊंचा उठानेवाले कलाकार यदि अधिक बुरा काम नहीं करते तो कम-से-कम शराब पीने, ताश खेलने और दुश्चरित्र स्त्रियों की संगति में अपना जीवन अवश्य व्यतीत करते हैं।

विज्ञान और कला बड़े सुन्दर वस्तुएं हैं और यही तो कारण है उन्हें विलासिता के संसर्ग से दूषित नहीं होने देना चाहिए अर्थात् वैज्ञानिकों और कलाकारों को अपनेको इस मानवीय कर्त्तव्य से मुक्त नहीं करना चाहिए कि उन्हें स्वयं अपने और दूसरों के जीवन के लिए श्रम करना आवश्यक है। कला और विज्ञान ने मानव-समाज को उन्नति के पथ पर बढ़ाया है। यह बिलकुल ठीक है, किंतु इसका कारण यह नहीं है कि वैज्ञानिकों और कलाकारों ने श्रम-विभाजन की दुहाई देकर अपने वचन और कर्म से लोगों को बलात्कार का प्रयोग करना सिखाया है और उन्हें दूसरों की निर्धनता और यातना से लाभ उठाने की शिक्षा दी है या प्रकृति के साथ होनेवाले उस संघर्ष में, जिसका सभी मनुष्यों को सामना करना पड़ता है, स्वयं अपने हाथ से कार्य करने के सर्वप्रथम और अत्यन्त असं-दिग्ध मानवीय कर्त्तव्य से मुक्त रहने का पाठ पढ़ाया है।

: ३४ :

क्या विज्ञान और कला जनता के लिए नहीं हैं ?

"लेकिन आज के दिन हम विज्ञान की जो असाधारण उन्नति देखते हैं वह केवल इस श्रम-विभाजन का ही तो फल है और उसका यही तो कारण है कि विज्ञानवेत्ता और कलाकार अपना भोजन आप उत्पन्न करने की आवश्यकता से मुक्त कर दिए गए हैं"—यह है वह उत्तर जो बुद्धिजीवी देते हैं। वे कहते हैं—"यदि हरएक व्यक्ति के लिए हल जोतना अनिवार्य होता तो हमें इतनी अद्‌भुत सफलता न मिल पाती जितनी कि आज मिली है; आज न तो वह उल्लेखनीय उन्नति दिखाई देती जिसके कारण प्रकृति पर मनुष्य के अधिकार में इतनी वृद्धि हुई है और न नक्षत्र-सम्बन्धी अन्वेषण ही हो पाते जिन्होंने मनुष्य के मस्तिष्क पर इतना शक्तिशाली प्रभाव डाला है और हजारों का आना-जाना सुरक्षित बना दिया है—और न हमें आज के स्टीमर, रेल, आश्चर्यजनक पुल, सुरंगें, भाप से चलनेवाले एंजिन, तार, फोटो, टेलीफोन, सीने की मशीनें, फोनोग्राफ, बिजली, दूरदर्शी यंत्र, रश्मि-विश्लेषण यंत्र, सूक्ष्मदर्शी यंत्र, क्लोरोफार्म, विषनाशक औषधियां और कारबोलिक एसिड ही दिखाई देते। इस प्रकार के जिन पदार्थों पर आज हमारे युग को गर्व है, उन्हें में यहां गिनाने की चेष्टा नहीं करूँगा। यह काम तो आज प्रायः सभी समाचारपत्रों और लोकप्रिय पुस्तकों में हो रहा है और उनमें आज के युग की सफलताओं के प्रशंसा के खूब पुल बांधे जा रहे हैं। हम अपनी ये प्रशंसाएं इतनी अधिक करते हैं और हम अपनी सफलताओं पर इतने अधिक आह्लादित होते हैं कि हमें जूल्स वर्न[1] की तरह इस बात का पक्का विश्वास हो गया है कि विज्ञान और कला ने जितनी उन्नति हमारे काल में की है उतनी कभी नहीं की और चूंकि यह आश्चर्यजनक सफलता श्रम-विभाजन के फलस्वरूप मिली है इसीलिए यह कैसे सम्भव है कि हम उसकी सराहना न करें।

---

[1] विस्मयकारी कहानियां लिखनेवाला यूरोप का एक अत्यन्त लोकप्रिय कहानीकार (१८२८-१९०५)

मान लिया कि वर्तमान युग में हमने जो उन्नति की है वह वास्तव में अत्यन्त उल्लेखनीय, आश्चर्यजनक और असाधारण है। यह भी मान लिया कि हमारे लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि हम ऐसे असाधारण युग में रह रहे हैं; लेकिन हमें इन सफलताओं के मूल्य को आत्म-संतुष्टि की तुला पर नहीं आंकना चाहिए, बल्कि श्रम-विभाजन के उसी सिद्धान्त की कसौटी पर कसना चाहिए जिसके समर्थन में ये बातें बखानी जाती हैं। दूसरे शब्दों में हमें आज की सफलताओं का मूल्य इस आधार पर आंकना चाहिए कि वैज्ञानिकों के बौद्धिक श्रम से उन लोगों को कितना लाभ पहुँचा है, जिन्हें वैज्ञानिकों और कलाकारों को श्रम से मुक्त करने के लिए स्वयं श्रम करना पड़ता है। निस्संदेह ये सारी सफलताएं अत्यन्त अद्‌भुत हैं, किन्तु किसी दुर्भाग्य के कारण—जिसे वैज्ञानिक लोग स्वयं स्वीकार करते हैं—इन सफलताओं से अभी तक श्रमजीवियों की स्थिति सुधरी नहीं बल्कि हीनतर ही बनी हुई है। यह ठीक है कि आज का मजदूर पैदल चलने के बजाय रेलगाड़ी से आ-जा सकता है, किन्तु इन रेलों के ही कारण तो उसके जंगल जला दिए गए हैं, उसकी रोटी उसकी आँखों से दूर हटा दी गई है और वह ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया गया है कि एक प्रकार से वह रेल के मालिकों का दास बन गया है।

इसी तरह यह तो सत्य है कि भाप के इंजिनों और मशीनों की कृपा से आज मजदूर लोग छपे हुए रद्दी सूती कपड़े खरीद सकते हैं किन्तु इन इंजिनों और मशीनों ने उनकी घर बैठी रोजी छीन ली है और उन्हें मिल-मालिकों का पूरी तरह से दास बना दिया है। ऐसे ही यदि यह सत्य है कि आज मजदूरों को टेलीफोन का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता है—यद्यपि उनकी आर्थिक स्थिति उन्हें ऐसा करने की अनुमति नहीं देती—तो यह भी तो छिपा नहीं कि इस टेलीफोन की ही महिमा से उसकी फसल कीमत के बढ़ते ही—और बेचारे को यह मालूम हुए बिना ही कि उसकी फसल की कहीं मांग है—फौरन पूंजीपतियों द्वारा खरीद ली जाती है। यही बात टेलीफोन, दूरदर्शी यन्त्रों, काव्य-पुस्तकों, उपन्यासों, थियेटरों, नाचों, संगीतों, चित्र-प्रदर्शनियों आदि की भी है। ये सब चीजें आज विद्यमान तो हैं किन्तु इनसे श्रमजीवियों के जीवन में

रत्तीभर भी सुधार नहीं हुआ है, क्योंकि दुर्भाग्यवश ये सभी उसकी पहुंच से बाहर हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन आश्चर्यजनक आविष्कारों और कलामय कृतियों ने यदि अभी तक श्रमजीवियों के जीवन को क्षति नहीं पहुँचाई है तो कम-से-कम उनके जीवन में सुधार करने में वे बिलकुल असफल अवश्य रही हैं—और इस बात से वैज्ञानिक भी सहमत हैं।

अतः यदि हम विज्ञान और कला की सफलता की वास्तविकता को अपनी खुशियों के आधार पर नहीं बल्कि उसी मापदंड से नापें जिससे श्रम-विभाजन का समर्थन किया जाता है अर्थात यदि हम यह देखें कि इन सफलताओं से मजदूरों को वास्तव में कितना लाभ हुआ है तो हम देखेंगे कि हम इतनी तत्परता के साथ जो हर्ष और संतोष प्रदर्शित करते हैं उसके लिए कोई दृढ़ आधार नहीं है। माना कि एक किसान रेल की सवारी करता है, उसकी स्त्री छपा हुआ सूती वस्त्र खरीदती है, उनके झोंपड़े में लकड़ी के दीवट के बजाय लैम्प जलता है और किसान अपनी सिगरेट दियासलाई से जलाता है। माना कि यह सब है तो सुविधाजनक, किन्तु इतने ही से हमें यह कहने का अधिकार कहां मिल जाता है कि रेलों और कारखानों से जनता का कल्याण हुआ है ? यदि किसान रेल में यात्रा करता है और लैम्प, छपे हुए सूती कपड़े और दियासलाइयां खरीदता है, तो इसका कारण यह है कि उसे ऐसा करने से रोकना असम्भव है। यह बात तो हम सभी लोग जानते हैं कि रेलों और कल-कारखानों का निर्माण मजदूर जनता के कल्याण के लिए नहीं किया गया है। ऐसी दशा में इन आकस्मिक सुविधाओं को, जिनसे कि किसान संयोगवश लाभ उठा लेते हैं, रेलों आदि की उपयोगिता के प्रमाणस्वरूप क्यों उपस्थित किया जाय ? हम सभी लोग जानते हैं कि यदि रेलों और कारखानों का निर्माण करनेवाले विशेषज्ञों और पूंजीपतियों को मजदूरों का कुछ ध्यान आया भी होगा तो केवल यह सोचने के लिए कि उनसे किस प्रकार अधिक-से-अधिक मेहनत कराई जाय और—जैसा कि हम स्वयं रूस में और यूरोप तथा अमरीका में भी देख चुके हैं—उन्हें अपने इस कार्य में पूर्ण सफलता मिली है।

यों तो हर बुरी चीज में कोई-न-कोई अच्छाई होती है। किसी अग्नि-दुर्घटना के बाद हम सुलगते हुए कोयलों से अपना शीत भगा सकते हैं और अपनी सिगरेटें भी जला सकते हैं; लेकिन हम यह कैसे कह सकते हैं कि आग लगाना उपयोगी है। हमें कम-से-कम अपनेको धोखे में नहीं रखना चाहिए। रेलों और फैक्टरियों के निर्माण और मिट्टी के तेल और दियासलाइयों के उत्पादन के पीछे जो उद्देश्य छिपा हुआ है उसे हम अच्छी तरह से जानते हैं। इंजीनियर लोग रेलों को या तो सरकार के लिए सैनिक कार्यों के निमित्त बनाते हैं या पूंजीपतियों के लिए आर्थिक उद्देश्यों की परिपूर्त्ति की दृष्टि से। इसी तरह वे मशीन मिल-मालिक के लिए या स्वयं अपने लाभार्थ या पूंजीपति के लाभ की दृष्टि से बनाते हैं। वे जो-कुछ भी बनाते या सोचते हैं, सरकार या पूंजीपति और धनाढ्य व्यक्तियों के लाभ के लिए करते हैं। उनके आविष्कारों में से जो सबसे अधिक चातुर्यपूर्ण होते हैं—जैसे तोप, टारपीडो एकान्त कारावास की कोठरियां, तार आदि—उनका उद्देश्य या तो प्रत्यक्ष रूप से जनता को क्षति पहुंचाना होता है या ऐसे पदार्थों का उत्पादन करना जो न केवल अनुपयोगी होते हैं बल्कि जनता की पहुंच से भी बाहर होते हैं, जैसे कि बिजली की रोशनी, टेलीफोन और विलासिता बढ़ानेवाले अन्य असंख्य यंत्र। उनका उद्देश्य ऐसी वस्तुओं का निर्माण करना ही होता है जिनसे लोगों को भ्रष्ट किया जा सकता है और उन्हें अपनी बची-खुची पूंजी को पानी की तरह बहा डालने को प्रेरित किया जा सकता है, जैसे सबसे पहले वोडका, शराब, बियर, अफीम, तम्बाकू और फिर बाद में छपे हुए सूती कपड़े, रूमाल और ऐसी-ही-ऐसी हर तरह की छोटी-मोटी चीजें।

यदि वैज्ञानिकों के आविष्कार और इंजीनियरों के काम जनता के लिए कभी-कभी उपयोगी सिद्ध होते हैं—जैसे कि रेल, छपे हुए सूती कपड़े, लोहे के बर्तन, हंसिया आदि—तो इससे यही प्रमाणित होता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु एक-दूसरे से सम्बन्धित है और प्रत्येक क्षतिपूर्ण कार्य से भी उन लोगों तक को लाभ होने की सम्भावना हो सकती है जिनके लिए ये क्रियाएं साधारणतः हानिकारक होती हैं।

वैज्ञानिक और कलाकार अपनी क्रियाओं को जनता के लिए उपयोगी होने का दावा तभी कर सकते हैं जब वे मजदूरों की सेवा करना अपना लक्ष्य बना लें—ठीक उसी तरह जैसे आज उन्होंने सरकारों और पूंजीपतियों की सेवा को अपना ध्येय मान रखा है । हम भी उनके कार्यों की उपयोगिता को तभी स्वीकार कर सकते हैं जब वे जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति को अपना ध्येय मानें । किन्तु उनमें से एक भी ऐसा नहीं करता ।

वैज्ञानिक लोग तो अपने उन पुनीत कार्यों में लगे हुए हैं जिनसे वनस्पति तथा प्राणियों के जीवन के आधारतत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है और तारकों के दृष्टक विश्लेषण आदि फलीभूत होते हैं, किन्तु किस प्रकार की कुल्हाड़ी से या किस ढंग के कुल्हाड़ी के हत्थे से काटने का काम सबसे अच्छा हो सकता है, किस तरह की आरी सबसे अच्छा काम देती है, किस ढंग से आटा सबसे अच्छा गूंधा जा सकता है, किस तरह के आटे का प्रयोग करना चाहिए, किस तरह उसका खमीर उठाया जाय, किस तरह आग जलानी चाहिए, किस तरह चूल्हा सुलगाना चाहिए, क्या खाना और क्या पीना चाहिए, किस तरह का कुकुरमुत्ता खाया जा सकता है और किस तरह उसकी सब्जी सबसे अच्छी तरह बनाई जा सकती है, इनसब प्रश्नों पर विज्ञान कभी ध्यान नहीं देता, यद्यपि सच पूछिए तो ये सब विज्ञान के ही काम हैं ।

मैं जानता हूँ कि विज्ञान की व्याख्या ही यह है कि वह एक निरर्थक वस्तु है, किन्तु ऐसा कहना एक अत्यन्त धृष्टतापूर्ण बहाना मात्र है । विज्ञान का काम लोगों की सेवा करना है । हमने तार, टेलीफोन और फोनोग्राफ तो बनाए हैं, किन्तु लोगों के वास्तविक जीवन और कार्यों में हमने क्या उन्नति की है ? यह कि हमने बीस लाख जन्तुओं का पता लगा लिया है ? किन्तु क्या हमने बाइबिल के युग के बाद से किसी एक भी नए पशु को फालतू बनाया है ? आज जितने भी पशु हैं वे तो उससे भी पहले के पालतू बनाए हुए हैं । हिरण, बारहसिंगा, तीतर, बटेर आदि ये सब अभी जंगली अवस्था में ही हैं । हमारे वनस्पति विज्ञानवेत्ताओं ने तन्तु का पता लगा लिया है और तन्तु के अन्दर वनस्पति तथा प्राणियों

के जीवन के आधारतत्त्व का और इस तत्त्व के अन्दर किसी अन्य वस्तु का और उस अन्य वस्तु के भीतर भी किसी दूसरी वस्तु को ढूंढ निकाला है। स्पष्टतः अभी यह क्रम बहुत दिनों तक समाप्त नहीं होगा, क्योंकि उसका कोई अन्त हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि वैज्ञानिक अपना ध्यान उन पदार्थों पर नहीं दे पाते जिनकी जनता को आवश्यकता है। और फिर, प्राचीन मिस्री और यहूदी काल से—जबकि गेहूं और मसूर की खेती पहले से ही हुआ करती थी—आजतक हमने आलू को छोड़कर जनता के खाद्य पदार्थों में एक पौधे की भी वृद्धि नहीं की और आलू भी हमें विज्ञान ने नहीं दिया है। विज्ञान ने तो पनडुब्बियों को नष्ट करनेवाले गोलों, शौचालयों के लिए नालियों आदि का आविष्कार किया है। लेकिन हमारे चर्खे, किसान स्त्रियों के करघे, गांव के हल, कुल्हाड़ी, मूसल, हेंगी, जुआ और बाल्टी आदि आज भी उसी अवस्था में हैं, जिस अवस्था में रूरिक[1] के समय में थे और यदि इनमें कुछ परिवर्तन हुआ भी है तो वह वैज्ञानिकों ने नहीं किया है।

यही बात कला के सम्बन्ध में भी सत्य है। आज अनगिनत लोग उच्चकोटि के लेखक माने जाते हैं। हमने उनका बड़ी सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण किया है, उनपर ढेरों आलोचनाएं लिखी हैं और उन आलोचनाओं की आलोचनाएं और फिर उनकी आलोचनाएं की हैं। हमने चित्रों के संग्रह किये हैं, कला की सभी शैलियों का ध्यानपूर्वक मनन किया है और इतने वृन्दवादनों तथा नाट्यसंगीतों का आविष्कार किया है कि उन्हें सुनना स्वयं हमारे लिए कठिन हो गया है। किन्तु हमने लोकगाथाओं और लोकगीतों में क्या वृद्धि की है? हमने जनता को कौन-से चित्र और कौन-से संगीत दिये हैं? जन-साधारण के लिए तो पुस्तकें और तस्वीरें निकोल्स की गली[2] में तैयार होती हैं और तूला[3] में

---

[1] रूस का प्रथम राजकुमार (८३०—८७९ ई०)

[2] यह गली मास्को के बीचोंबीच है जहां टॉलसटॉय के समय में किसानों आदि के लिए सस्ती पुस्तकें बिका करती थीं।

[3] मास्को का संगीत-केन्द्र।

बाजे आदि बनते हैं; लेकिन इनके निर्माण में बुद्धिजीवियों ने कोई भाग नहीं लिया है।

सबसे अधिक स्पष्ट और आश्चर्य की बात तो यह है कि विज्ञान और कला के जिन विभागों को जनता के लिए उपयोगी होना चाहिए उनके ही कार्य की दिशा गलत है और इस गलत दिशा के कारण वे उपयोगी न होकर हानिकारक सिद्ध होते हैं। इंजीनियर, डाक्टर, अध्यापक, कलाकार, लेखक इन सभीको स्वयं अपने पेशे के कारण जनता की सेवा करनी चाहिए, किन्तु वास्तव में होता क्या है ? आज की जो प्रवृत्ति है उससे लोगों को उल्टे हानि पहुंच रही है।

इजीनियरों और मिस्त्रियों को काम करने के लिए पूंजी चाहिए, बिना पूंजी के वे कुछ नहीं कर सकते, उनका सारा ज्ञान ही कुछ इस प्रकार का होता है कि उसे व्यवहार में लाने के लिए उन्हें पूंजी और काफी मजदूरों की आवश्यकता है। स्वयं अपने खर्च के लिए उन्हें प्रतिवर्ष कम-से-कम १५०० से २००० रूबल तक चाहिए और यही कारण है कि वे गांव में नहीं रह सकते, क्योंकि वहां कोई उन्हें इतना पारिश्रमिक नहीं दे सकता। अर्थात् उनका पेशा ही उन्हें जनता की सेवा करने से रोकता है। अंकगणित का उच्च ज्ञान होने के कारण वे किसी पुल के मेहराब का आकार निश्चित कर सकते हैं, किसी मोटर की शक्ति और कार्यक्षमता को आंक सकते हैं और ऐसे-ऐसे ही दूसरे कार्य भी कर सकते हैं; किन्तु जब उनके सामने किसान की मेहनत की सीधी-साधी समस्याएं आ खड़ी होती हैं तो वे मानों किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। हल और बैलगाड़ी का सुधार किस तरह से किया जाय और नदी, नालों से खेतों को पानी किस तरह से पहुँचाया जाय ये सब बातें ऐसी हैं जिन्हें वे छोटे-से-छोटे किसान से भी कम जानते और समझते हैं। उन्हें तो बड़े-बड़े कारखाने चाहिए, अपनी आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करनेवाले व्यक्ति चाहिए और इतना ही नहीं बल्कि विदेशों से मंगाई हुई मशीनें चाहिए और तब जाकर वे कोई प्रबन्ध कर सकते हैं। किंतु आज जो लाखों मजदूरों की दशा है उसमें वे किसी प्रकार का भी सुधार करने में असमर्थ हैं और उनके अपने पेशे,

अपनी आदतें और आवश्यकताएं ऐसी हैं जो उन्हें ऐसे काम के लिए बिलकुल असमर्थ बना देती हैं ।

डाक्टरों की स्थिति तो और भी खराब है । उनकी कल्पित विद्या भी कुछ इस प्रकार की है कि वे केवल उन्हीं लोगों को आरोग्य प्रदान कर सकते हैं जो स्वयं कुछ नहीं करते और दूसरों के श्रम पर अधिकार जताते हैं । वैज्ञानिक रूप से काम करने के लिए उनको अनगिनत प्रकार के कीमती औजारों, दवाओं, स्वास्थ्यप्रद कमरों, भोजन, जल आदि की आवश्यकता होती है । उन्हें अपनी तनख्वाह तो चाहिए ही, साथ-ही-साथ उन्हें ये खर्चे भी चाहिए, ताकि एक रोगी को अच्छा करने में वे उन सैकड़ों व्यक्तियों को भूखा मार सकें जो इन खर्चों को बरदाश्त करते हैं । उन्होंने राजधानियों में ऐसे लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों की देख-रेख में रहकर अध्ययन किया है जो केवल उन लोगों की चिकित्सा करते हैं जिन्हें वे अस्पतालों में रख सकते हैं या जो चिकित्सा कराते समय उन यंत्रों को खरीद सकते हैं जिनकी चिकित्सा के लिए आवश्यकता है और जो फौरन जलवायु परिवर्तन के लिए एक छोर से दूसरे छोर पर जा सकते हैं । इन लोगों की विद्या कुछ इस प्रकार की होती है कि छोटे स्थानों और गांवों में काम करनेवाले डाक्टरों को हर समय यह शिकायत बनी रहती है कि उन्हें किसानों और मजदूरों की चिकित्सा करने के साधन प्राप्त नहीं हैं, और वे इतने निर्धन हैं कि रोगियों को स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों में नहीं रख सकते । साथ-ही-साथ ये डाक्टर यह भी शिकायत करते हैं कि उनके पास अस्पताल नहीं हैं, वे सारे काम को अकेले नहीं कर सकते, उन्हें और अधिक सहकारी डाक्टर और, शिक्षित सहयोगी चाहिए, इस सबका मतलब क्या है ? इसका मतलब यह है कि जीवन-निर्वाह के साधनों की कमी ही जनसाधारण की सबसे बड़ी विपदा है, इसीके कारण उन्हें बीमारियां होती हैं, इसीके कारण बीमारियां फैलती हैं तथा इसीके कारण उनकी चिकित्सा नहीं हो पाती और विज्ञान है कि श्रम-विभाजन का झंडा लहराकर अपने सहकारियों को इन लोगों की सहायता के लिए बुलाता है । उसने अपनेको पूर्णरूप से धनिकों के अनुकूल बना लिया है और फलस्वरूप उसे केवल उन लोगों की चिकित्सा करने की चिन्ता रहती है जो सर्वसम्पन्न हैं । ये दवाएं और

तरीके वे उन लोगों को भी बताते हैं जिनके पास खर्च करने को फूटी कौड़ी भी नहीं है। किन्तु डाक्टरों के पास साधन नहीं है और इसलिए ये साधन इन किसानों से प्राप्त किये जाने चाहिए जो बीमार पड़ते हैं और साधनों की कमी के कारण अच्छे नहीं किये जाते।

जन-चिकित्सा के समर्थक सदा यही कहते रहते हैं कि अभी इस विद्या का बहुत ही कम विकास हुआ है और स्पष्टतः ऐसी ही बात है भी; क्योंकि—भगवान् बचाए—यदि यह विद्या अधिक विकसित हुई और (जैसा कि प्रस्ताव किया जाता है) एक-एक जिले में दो-दो डाक्टरों, दाइयों और शिक्षित महिला सहकारियों के बजाय बीस-बीस लोग जनता के सिर पर बोझ बनाकर भेजे गए तो फिर शीघ्र ही वह अवस्था आ जायगी जब कोई व्यक्ति नीरोग करने के लिए रह ही नहीं जायगा। चिकित्सा-शास्त्र के समर्थक जनता को वैज्ञानिक ढंग से डाक्टरी सहायता पहुँचाने की जो बात किया करते हैं वह बिलकुल ही भिन्न प्रकार की होती है और इस प्रकार की चिकित्सा-पद्धति अभी आरम्भ भी नहीं हुई। इसका सूत्रपात तभी हो सकता है जब वैज्ञानिक लोग, शिल्पवेत्ता या डाक्टर श्रम-विभाजन को उचित नहीं समझेंगे अर्थात् आज दूसरे लोगों के श्रम का जो शोषण किया जाता है उसे अनुचित मानेंगे और जनता को वे जो सहायता देते हैं उसके बदले लाखों रूबल तो दूर रहा एक हजार या पाँच सौ रूबल मांगना भी अपना अधिकार नहीं समझेंगे, बल्कि मजदूरों और किसानों के बीच उन्हीं-जैसी परिस्थियों में रहकर जनता की मिस्त्रीगिरी, इंजीनियरी, सफाई और दवा-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में अपने ज्ञान का उपयोग करेंगे। किन्तु इस समय तो वैज्ञानिक लोग, जो मजदूर जनता के श्रम के भरोसे जीवन-निर्वाह करते हैं, जनता के जीवन की स्थिति को बिलकुल भूल गए हैं। वास्तव में उनकी इस स्थिति की वे उपेक्षा करते हैं और इसपर क्रोध प्रकट करते हैं कि उनका मिथ्या ज्ञान जनसाधारण के व्यवहार में नहीं आता।

इंजीनियरिंग की तरह चिकित्सा का क्षेत्र भी अभी अछूता है। श्रमजीवियों की वर्तमान वास्तविक अवस्था को दृष्टि में रखते हुए श्रम के समय का किस प्रकार सबसे अच्छा विभाजन किया जाय, किस प्रकार

अपनेको सबसे अधिक पोषण दिया जाय, कौन-सा वस्त्र किस रूप में, कब और कैसे पहनने से सबसे मनोरम दिखाई देगा, किस प्रकार पैरों को ढंककर रखा जाय, किस प्रकार ठंड और सील से बचा जाय, किस प्रकार बच्चों को अच्छी तरह नहलाया-धुलाया और भोजन दिया जाय—ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिनपर अभी तक विचार नहीं किया गया है। यही बात वैज्ञानिक शिक्षकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। विज्ञान ने भी शिक्षण की व्यवस्था कुछ ठीक इसी ढंग से कर रखी है कि वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार केवल धनिकों को ही शिक्षा मिल पाती है और इंजीनियरों तथा डाक्टरों की भांति ये शिक्षक भी अनायास ही पैसे के आगे सिर झुका देते हैं। रूस में तो ये लोग विशेष रूप से सरकार के दास बन जाते हैं।

इसके सिवा और हो ही क्या सकता है। आज की आदर्श व्यवस्थाओं से विभूषित स्कूल—जिनमें बेंचें, ग्लोब, नक्शे पुस्तकालय, विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए कार्य-सूची आदि होते हैं—ऐसे होते हैं जिनसे गांव का खर्चा दुगुना हो जाता है। साधारणतः स्कूल जितने ही वैज्ञानिक ढंग से सुव्यवस्थित होते हैं उतने ही वे अधिक खर्चीले होते हैं। विज्ञान का प्रबन्ध है ही ऐसा।

आजकल लोगों को काम के लिए अपने बच्चों की जरूरत पड़ती है और लोग जितने अधिक निर्धन होते हैं उतनी ही अधिक उनकी यह आवश्यकता होती है। विज्ञान के समर्थक कहते हैं कि शिक्षा से अब भी लोगों को लाभ होता है और जब यह विज्ञान और भी विकसित हो जायगा तो और भी अच्छा रहेगा। किन्तु यदि शिक्षा का विकास हुआ और एक जिले में बीस स्कूलों के बदले सौ वैज्ञानिक स्कूल स्थापित हो गए और यदि इन स्कूलों के लिए जनसाधारण को व्यय करना पड़ा तो वे और भी निर्धन हो जायंगे और उन्हें बच्चों से मेहनत कराने की और अधिक आवश्यकता पड़ेगी।

'तो फिर क्या किया जाय ?' लोग पूछते हैं। उत्तर मिलता है कि सरकार स्कूल स्थापित करेगी और शिक्षा को अनिवार्य बना देगी, जैसा-कि यूरोप में होता है। किन्तु रुपया तो फिर भी जनसाधारण से ही लिया

जायगा जिन्हें और भी अधिक परिश्रम करना पड़ेगा तथा जिन्हें और भी कम अवकाश मिलेगा । अतः अनिवार्य शिक्षा सफल नहीं हो सकेगी। ऐसी अवस्था में शिक्षकों के लिए मुक्ति का एक ही मार्ग रह जायगा, वह यह कि वे मजदूरों-जैसा जीवन बितायें और उन्हें शिक्षा प्रदान करने के बदले में मजदूर लोग जो कुछ भी स्वेच्छा से दें वही स्वीकार करें। अपनी इस गलत प्रवृत्ति के कारण विज्ञानवेत्ता जनता की सेवा नहीं कर पाते, जो कि उनका कर्त्तव्य है। हमारे बुद्धिजीवियों की यह प्रवृत्ति कला के क्षेत्र में तो और भी स्पष्ट हो जाती है। कला को स्वभावतः जनता के लिए सुलभ होना चाहिए। विज्ञान तो इस मूर्खतापूर्ण बहाने की आड़ ले भी सकता है कि विज्ञान विज्ञान के लिए काम कर रहा है और जब वैज्ञानिक लोग विज्ञान का पूर्ण तरह से विकास कर लेंगे तो वह जनता की भी पहुंच के भीतर आ जायगा। किन्तु कला—यदि वह सच्ची कला है तो —ऐसी होनी चाहिए कि सब लोग, विशेष रूप से वे लोग जो उसकी सृष्टि करते हैं, उसतक आसानी से पहुंच जायं। किन्तु स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। आज कलाकारों पर स्पष्ट रूप से यह दोषारोपण किया जा सकता है कि वे न जनता की सेवा करना चाहते हैं और न ऐसा करने में समर्थ ही हैं।

चित्रकार को अपनी महाकृतियों की रचना के लिए इतनी बड़ी चित्रशाला चाहिए जिसमें ऐसे कम-से-कम चालीस बढ़ई या मोची एक साथ बैठकर काम कर सकें जो आज या तो स्थानाभाव के कारण ठिठुर रहे हैं या किसी बन्द गन्दी जगह में पड़े-पड़े घुट-घुटकर मर रहे हैं। इतना ही काफी नहीं है, उस चित्रकार को प्रकृति, पोशाक और यात्रा की भी आवश्यकता है। कला-विद्यापीठ ने जन-साधारण से जमा किये हुए लाखों रूबल कला को प्रोत्साहन देने के लिए व्यय किये हैं; किन्तु कला-कृतियां केवल महलों में लटकती हैं, जनता तो इन्हें न समझती है न चाहती है।

इसी तरह संगीतज्ञों को अपने महान् संगत का प्रदर्शन करने के लिए सफेद नेकटाई की एक विशेष ढंग की पोशाक पहने हुए लगभग २०० व्यक्तियों को एकत्र करने की आवश्यकता पडती है और एक नृत्य-संगीत

के लिए लाखों रूबल खर्च करने पड़ते हैं। फिर भी यदि जन-साधारण को कभी कला की इस रचना को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो भी जाय तो भी उसमें बेचैनी और क्लान्ति के अतिरिक्त और किसी भावना की उत्पत्ति नहीं होगी।

लेखों और कहानियों के सम्बन्ध में तो यह सोचा जा सकता है कि उन्हें किन्हीं विशेष परिस्थितियों, रंगशालाओं, प्राकृतिक दृश्यों; वृंद-वादकों और अभिनेताओं की आवश्यकता नहीं है। किंतु हम देखते हैं कि एक लेखक को भी अपने महाग्रन्थ के निर्माण के लिए आरामदेह मकान और जीवन-सम्बन्धी समस्त मनोरंजनों के अतिरिक्त कितने ही अन्य उपकरणों की भी आवश्यकता है, जैसे यात्रा, राजमहल, अध्ययन-शाला, थियेटर, संगीत आदि। यदि लेखक स्वयं नहीं कमा पाते तो उन्हें पेंशन दी जाती है जिससे कि वे पहले की अपेक्षा अच्छा लिख सकें। किंतु अंततः परिणाम वही निकलता है। उनकी जिन रचनाओं का हम इतना आदर करते हैं वे जनता के लिए कूड़े का ढेर मात्र होती है, क्योंकि उसे इनकी आवश्यकता ही नहीं।

अब मान लीजिए कि वैज्ञानिकों और कलाकारों की इच्छा के अनुसार आत्मिक भोजन उत्पन्न करनेवालों की संख्या बढ़ा दी जाय और हर गांव में एक चित्रशाला बनाना, एक वृन्दवादन की स्थापना करना और कलाकार जैसी परिस्थिति को आवश्यक समझते हैं वैसी परिस्थिति में एक लेखक रखना अपरिहार्य कर दिया जाय, तो फिर क्या हो ? मैं समझता हूं कि श्रमजीवी लोग इन निरर्थक व्यक्तियों का पेट भरने के लिए विवश होने से पहले इस बात की शपथ ले लेंगे कि वे न कभी कोई चित्र देखेंगे, न संगीत सुनेंगे, न कोई कविता या कहानी पढ़ेंगे।

लेकिन पूछा जा सकता है कि कलाकार जनता की सेवा क्यों न करें ? हर झोंपड़े में मूर्तियां और चित्र होते हैं। हर किसान मर्द और हर किसान औरत गाती है। उसमें से बहुतों के पास तो बाजे भी होते हैं और ये सब कहानियां कहते हैं और कविताओं का पाठ करते हैं और कितने ही तो पढ़ते भी हैं। ऐसी अवस्था में क्या कारण है कि ये दो चीजें,

जो एक-दूसरे के लिए ताले और ताली की तरह बनाई गई हैं, एक-दूसरे से इतनी अधिक पृथक हो गई हैं कि उन्हें मिलाने की अब कोई सम्भावना ही दिखाई नहीं देती है।

किसी चित्रकार से जरा यह तो कहिए कि वह चित्रशाला, नग्न नमूनों और वेशभूषाओं के बिना ही सस्ती तस्वीरें बनाया करे ! वह तत्काल आपको उत्तर देगा कि यह तो कला का परित्याग है। इसी तरह किसी संगीतज्ञ से कहकर देखिए कि वह हारमोनियम या सितार बजाकर गांव की स्त्रियों को गाना सिखाया करे। किसी कवि या लेखक से कहकर देखिए कि वह काव्य, उपन्यास या व्यंग लिखना छोड़कर निरक्षर जनता की समझ में आने योग्य गीत, पुस्तकें, कथाएं और परियों की कहानियां लिखा करे ! ये सब-के-सब आपको उत्तर देंगे कि आप पागल हो गए हैं। किन्तु क्या यह और भी बड़ा पागलपन नहीं है कि जिन लोगों ने हमारा पालन-पोषण किया है, जो हमें खाना और कपड़ा देते हैं उन्हें आध्यात्मिक भोजन देने का विश्वास दिलाकर हमने अपनेको श्रम से मुक्त तो कर लिया है किन्तु अब अपने वचन को इतना भूल गए हैं कि हमें उन लोगों के योग्य भोजन तैयार करने की कला ही याद नहीं रह गई है और हम अपनी इस कर्त्तव्यच्युति को अपना एक विशेष गुण मानने लगे हैं ?

'लेकिन ऐसा तो सभी जगह होता है,' उत्तर में कहा जाता है। यदि ऐसा सभी जगह होता है तो वह निस्संदेह अमानुषिक है और उस समय तक अमानुषिक रहेगा जबतक कि लोग श्रम-विभाजन का बहाना लेकर और जनसाधारण को आत्मिक भोजन का वचन देकर उनके श्रम के प्रतिफल को स्वयं हड़पते रहेंगे। विज्ञान और कला से जनसाधारण की सेवा तभी सम्भव है जब वैज्ञानिक और कलाकार जनसाधारण के साथ जनसाधारण के समान ही जीवन बितायें और बदले में कुछ मांगे बिना ही उन्हें अपनी वैज्ञानिक और कला-सम्बन्धी सेवाएं समर्पित करें—ऐसी सेवाएं जिन्हें स्वीकार और अस्वीकार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता जनसाधारण को हो।

: ३५ :

झूठा दावा

यह कहना कि विज्ञान और कला की क्रियाओं से मानव-समाज की उन्नति में सहायता मिलती है ऐसा ही कहने-जैसा है कि धार पर बहती हुई नौका में बैठे हुए लोगों का ऊटपटांग ढंग से पतवार पटकना उसकी गति में सहायक होता है। सत्य यह है कि इस क्रिया से नौका की गति में रुकावट भर पड़ती है। आज का तथाकथित श्रम-विभाजन अर्थात् दूसरों के परिश्रम के प्रतिफल को बलात् हड़प जाने की प्रवृत्ति—जो कि हमारे युग के वैज्ञानिकों और कलाकारों के क्रियाकलाप का आवश्यक आधार बन गई है—सदा से ही मानव-समाज की प्रगति की मंदता का मुख्य कारण रही है और अब भी है। इसका प्रमाण हमें स्वयं वैज्ञानिकों के इस कथन में मिलता है कि सम्पत्ति का असमान वितरण होने के कारण विज्ञान और कला की सफलताओं से लाभ उठाना मजदूरों की क्षमता से बाहर है।

मार्के की बात तो यह है कि कला और विज्ञान में जितनी सफलता मिल रही है उसके अनुपात में सम्पत्ति-विभाजन का यह अनौचित्य घट नहीं रहा है, बल्कि बढ़ता ही जा रहा है। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है, क्योंकि धन का अनुचित विभाजन उस श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का परिणाम मात्र है जो वैज्ञानिक और कलाकार लोग अपने स्वार्थ के लिए सिखाते फिरते हैं। विज्ञान श्रम-विभाजन का समर्थन यह कहकर करता है कि यह तो एक अपरिवर्तनीय नियम है। वह यह देखता है कि श्रम-विभाजन पर आधारित धन-विभाजन अनुचित और अमंगलकारी होता है, फिर भी यह दावा करता है कि उसके कार्यों से (जिनमें श्रम-विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है) मानव-समाज को लाभ होगा। इसका तो अर्थ यह हुआ कि जो लोग दूसरों के श्रम का उपभोग करते हैं वे यदि ऐसा बहुत अधिक समय तक और दिन-प्रति-दिन अधिक मात्रा में करते जायं तो सम्पत्ति का यह अनुचित विभाजन अर्थात् दूसरों के श्रम का शोषण समाप्त हो जायगा।

कुछ लोग ऐसे हैं जो एक सतत गतिशील झरने के पास खड़े होकर उसके जलप्रवाह को प्यासे लोगों की ओर से मोड़ने का प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भी दावा यह करते हैं कि वे ही उस जल को उत्पन्न करते हैं और थोड़े ही समय में सबके लिए प्रचुर मात्रा में जल एकत्र हो जायगा। किंतु यह जल तो सदा प्रवाहित होता रहा है और अब भी अबाध रूप से बहता हुआ समस्त मानव-समाज की तृष्णा को शान्त करता है। निस्सन्देह वह उन लोगों के उद्यम के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं हुआ जो स्रोत के पास खड़े होकर जल-प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करते रहते हैं। असलियत तो यह है कि उनकी चेष्टाओं के बावजूद यह जल बहता और फैलता ही रहता है।

एक सच्चे गिरजाघर का अस्तित्व सदा रहा है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि ऐसे व्यक्ति सदा पाए जाते रहते हैं जो अपने समय के उच्चतम सत्य के सम्बन्ध में एकमत रहे हैं और उनका संगठन सदा ही उस गिरजे से भिन्न रहा है जो अपनेको गिरजा कहने का दावा करता है। इसी प्रकार विज्ञान और कला का भी अस्तित्व इस संसार में सदा रहा है, किन्तु यह विज्ञान और कला वह नहीं है जो आज अपनेको विज्ञान और कला कहकर पुकारते हैं

जो लोग अपनेको एक विशेष काल के विज्ञान और कला का प्रतिनिधि मानते हैं वे सदा यह समझते हैं कि उन्होंने बड़े-बड़े आश्चर्यजनक कार्य किये थे और अब भी कर रहे हैं। वे यह भी समझते हैं कि उनसे विलग होकर न किसी सच्चे विज्ञान और कला का अस्तित्व कभी था और न अब है। यह धारणा पूर्वकाल के भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों और कलाकारों की रही है और आज के भी वैज्ञानिकों और कलाकारों की है।

: ३६ :

विज्ञान और कला की प्राचीनता

"किंतु विज्ञान और कला को अस्वीकार करने का अर्थ यह है कि आप उस वस्तु को अस्वीकार कर रहे हैं जिसपर मानव-समाज का

जीवन आश्रित है।"—यह उत्तर मुझे लोग सदा दिया करते हैं और मेरे तर्कों को इसी तरह कुछ विचार किये बिना ही टाल देते हैं। वे मेरे सम्बन्ध में कहते हैं—"अरे वह तो विज्ञान और कला को नहीं मानता, वह तो चाहता है कि मनुष्य एक बार फिर अपनी जंगली अवस्था में रहने लगे, इसलिए उसकी बातों को सुनने और उससे वाद-विवाद करने से क्या लाभ ?"

किंतु यह मेरे प्रति अन्याय है। यही नहीं कि मैं विज्ञान की (अर्थात मानव-समाज के तर्कसंगत कार्य-कलाप की) और कला की (अर्थात उक्त तर्कसंगत कार्य-कलाप की अभिव्यक्ति की) अवहेलना नहीं करता, बल्कि मैं जो कुछ भी कहता हूं विज्ञान और कला की खातिर ही कहता हूं, ताकि वर्तमान युग की भ्रामक शिक्षा की कृपा से आज मानव-समाज जिस जंगली अवस्था की ओर बड़ी तेजी के साथ बढ़ा जा रहा है उससे वह बच सके। मेरे तर्क-वितर्क का एकमात्र उद्देश्य यही है।

मानव-समाज के लिए विज्ञान और कला उतने ही आवश्यक हैं जितने अन्न, जल और वस्त्र--बल्कि इनसे भी अधिक आवश्यक हैं। किन्तु उनके आवश्यक होने का कारण यह नहीं है कि हम उन्हें ऐसा समझते हैं, बल्कि केवल यह कि वे वास्तव में मानव-समाज के लिए आवश्यक हैं। यदि लोग सूखी घास मनुष्य के शारीरिक उपभोग के लिए तैयार करते हैं तो मेरा केवल यह मान लेना कि वह मनुष्य का खाद्य पदार्थ है उसे खाद्य पदार्थ नहीं बना सकता। मुझे यह नहीं कहना चाहिए कि अगर सूखी घास एक आवश्यक खाद्य पदार्थ है तो उसे आप खाते क्यों नहीं। खाद्य पदार्थ आवश्यक तो होता है, किन्तु मैं जो चीज खाने को कह रहा हूं वह शायद खाने लायक नहीं है।

यही बात विज्ञान और कला के साथ भी हुई है। हम समझते हैं कि यदि किसी यूनानी शब्द के साथ 'लॉजी' अर्थात 'शास्त्र' शब्द जोड़ दें और उसे विज्ञान कहने लगें तो वह विज्ञान हो जायगा। इसी प्रकार हम सोचते हैं कि यदि किसी अश्लील कार्य को—जैसे कि नग्न स्त्रियों के नृत्य को—किसी यूनानी शब्द से सम्बन्धित करने लगें और उसे कला कहकर पुकारने लगें तो वह कला हो जायगा। किंतु हम इस प्रकार की

बातें चाहे कितनी भी क्यों न कहें, विज्ञान और कला के नाम पर आजकल हम जिन कार्यों में संलग्न हैं—जैसे कि कीटाणुओं की गणना करना, आकाश-गंगा के रासायनिक अंगों का अन्वेषण करना, जलपरियों और ऐतिहासिक दृश्यों का चित्रण करना या कहानियां और नाटक लिखना—ये सब कार्य उस समय तक विज्ञान या कला नहीं हो सकते जबतक कि वे लोग जिनके लिए ये किये जाते हैं इन्हें स्वेच्छा से इस रूप में स्वीकार न कर लें। अभी तक ये इस रूप में स्वीकार नहीं किये गए हैं।

खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने का अधिकार यदि केवल कुछ इने-गिने लोगों के हाथों में हो और शेष लोगों को इस अधिकार से वंचित कर दिया जाय या ऐसा करना उनके लिए असम्भव कर दिया जाय तो मैं समझता हूं कि भोजन के गुण में न्यूनता आ जायगी। यदि अन्न के उत्पादन का एकाधिकार रूसी किसानों को दे दिया जाय तो काली रोटी, क्वास, आलू और प्याज के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न ही न हो, क्योंकि ये ही खाद्य पदार्थ उन्हें प्रिय तथा अनुकूल हैं। इसी प्रकार यदि विज्ञान और कला का एकाधिकार भी किसी जाति विशेष को सौंप दिया जाय तो मानव-समाज के इन श्रेष्ठतम कार्यों की भी ऐसी ही दशा हो जायगी। अन्तर केवल यह होगा कि खाद्य पदार्थ—अर्थात् शारीरिक भोजन—तो प्रकृति से कुछ भिन्न नहीं होगा, क्योंकि काली रोटी और प्याज दोनों ही अधिक स्वादिष्ट न होते हुए भी स्वास्थ्यदायक तो हैं ही; किंतु मानसिक भोजन में अत्यधिक अन्तर पड़ने की सम्भावना रहेगी और कुछ लोगों को ऐसे मानसिक भोजन पर दीर्घ काल तक आश्रित रहना पड़ेगा जो उनके लिए न केवल नितान्त अनावश्यक बल्कि हानिकारक और विषपूर्ण भी होगा। वे अफीम खा-खाकर और शराबें पी-पीकर धीरे-धीरे अपनी मृत्यु तक बुला लेंगे और जनता को भी इन्हींका उपयोग करने को कहेंगे।

हमारे साथ यही बात हुई है और इसका कारण यह है कि वैज्ञानिकों और कलाकारों को एक विशिष्ट पद प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अब विज्ञान और कला सम्पूर्ण मानव-समाज की तर्कसंगत प्रवृति के प्रतिरूपक नहीं रह गए हैं, बल्कि उन इने-गिने व्यक्तियों की क्रियाएं बन गए

हैं जिनको इनपर एकाधिकार प्राप्त है और जो अपनेको वैज्ञानिक और कलाकार कहने का अभिमान करते हैं। इन लोगों ने विज्ञान और कला की मूल भावना को ही विकृत बना दिया है। वे अपने कर्त्तव्य के अर्थ को भूल गए हैं और अपना सारा समय केवल कुछ थोड़े-से आलस्यपूर्ण उपभोक्ताओं का मनोरंजन करने में तथा उन्हें उस मानसिक क्लान्ति से, जो दिन-रात उन्हें सताती रहती है, मुक्ति दिलाने में व्यतीत करते हैं।

इस भूमण्डल पर मानव के जन्म लेने के समय से ही विज्ञान उसके पास अपने स्पष्टतम और अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ में विद्यमान रहा है। वह विज्ञान, जिसे हम सब मनुष्यों का ज्ञान कह सकते हैं, इस संसार में सदा रहा है और अब भी है! सच पूछिए तो इसके बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह न तो हमें आक्रमण करने को कहता है न रक्षात्मक युक्तियाँ ही सिखाता है। बात केवल इतनी हैं कि ज्ञान का क्षेत्र इतना विविध है और उसमें लोहा उत्पन्न करने के ज्ञान से लेकर देवी-देवताओं की हलचलों तक के ज्ञान की इतनी बातें सम्मिलित हैं कि मनुष्य उनमें खो जाता है और अपना मार्ग उस समय तक नहीं ढूँढ पाता जबतक उसको यह निर्णय करने के लिए कोई संकेत न मिल जाय कि इनमें से कौन-सी बातें उसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन-सी बातें कम महत्त्व की हैं। यही कारण है कि मानवीय बुद्धिमत्ता का परम लक्ष्य सदा से ही उस संकेत को प्राप्त करने का रहा है जिससे विदित हो सके कि हमारे ज्ञान का क्रम क्या होना चाहिए अर्थात् उसमें से कौन-सी बात पहले आनी चाहिए और कौन-सी बाद में। वास्तव में यही वह ज्ञान है जो दूसरे प्रकार के ज्ञान का निर्देशन करता है और जिसे मनुष्य सदा ही वास्तविक अर्थ में विज्ञान कहता आया है। इस प्रकार का विज्ञान मानव-समाज में जंगली अवस्था में से निकलने के बाद से सदा से ही विद्यमान रहा है और आज भी है।

मानव-समाज के उत्पत्ति-काल से ही ऐसे शिक्षकों का प्रादुर्भाव होता आया है जो विज्ञान का उसके वास्तविक अर्थ में निर्माण करते रहे हैं; अर्थात् मनुष्य को वह ज्ञान प्रदान करते रहे हैं जिससे वह जान सके कि उसे किस वस्तु की सबसे अधिक आवश्यकता है। इस प्रकार का विज्ञान

हमें सदा यह बताता रहा है कि प्रारब्ध क्या है और इसीलिए वह प्रत्येक मनुष्य को उसके सच्चे कल्याण का ज्ञान कराता रहा है। यही वह विज्ञान है जो ऊपर लिखे हुए संकेत का काम करता है और हमें यह निश्चय करने में सहायता देता रहा है कि दूसरे प्रकार के ज्ञान का और उसे व्यक्त करनेवाली क्रिया—अर्थात् कला--का कितना महत्त्व है।

मनुष्य के भविष्य और कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले आधारभूत विज्ञान को जिस प्रकार के ज्ञान से सबसे अधिक सहायता मिली और जिस प्रकार का ज्ञान उसके सबसे निकटतम आया वही जनता की दृष्टि में सबसे उच्च माना गया और जिस प्रकार के ज्ञान सबसे कम उपयोगी थे उन्हें सबसे निम्न स्तर पर स्थान मिला। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा, सुकरात, ईसा और मुहम्मद का विज्ञान इसी प्रकार का था। विज्ञान होता भी इसी प्रकार का है और हम-जैसे कथित शिक्षितों को छोड़कर सभी लोग ऐसे ही विज्ञान को समझते रहे हैं और अब भी समझते हैं।

इस प्रकार के विज्ञान को न केवल सदा समस्त विज्ञानों में प्रथम पद मिलता आया है बल्कि अकेले इसीसे दूसरे विज्ञानों का महत्त्व भी आंका जाता रहा है। और इस महत्ता का यह कारण नहीं है कि कुछ धूर्त्त प्रचारकों और शिक्षकों ने इसे यह महत्ता प्रदान की—जैसी कि आजकल के कथित शिक्षित व्यक्तियों की मान्यता है—बल्कि इसका कारण यह है कि मनुष्य के भाग्य और कल्याण-सम्बन्धी विज्ञान के बिना किसी दूसरे विज्ञान या कला का मूल्यांकन या चुनाव हो ही नहीं सकता और न उसके फलस्वरूप विज्ञान का अध्ययन ही हो सकता है, क्योंकि जिन-जिन विषयों से विज्ञान का सम्बन्ध है उनकी संख्या अपरिमित है। यह एक ऐसी बात है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने आन्तरिक अनुभवों से जान सकता है। इस बात का ज्ञान प्राप्त किये बिना कि समस्त मानव-जीवन का भविष्य और कल्याण किस वस्तु में निहित है दूसरे प्रकार के विज्ञान और कला केवल निरर्थक और हानिकारक मनोरंजन मात्र रह जाते हैं, जैसा कि आज हम लोगों में हो रहा है। मनुष्य-समाज का अस्तित्व तो बहुत पुराना है, किंतु ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसके भविष्य और कल्याण का निर्देशन करनेवाला विज्ञान न रहा हो। यह सत्य है कि बाह्य दृष्टि से मानव-

कल्याण-सम्बन्धी विज्ञान का स्वरूप बौद्धों, ब्राह्मणों, यहूदियों, ईसाइयों और कनफ्यूशियस तथा लाओ-त्ज़ के अनुयायियों में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है—यद्यपि इन महापुरुषों के उपदेशों पर विचार करते ही पता चल जाता है कि उनका सार एक ही है—किंतु हमें जहां-कहीं भी जंगली अवस्था से निकले हुए मनुष्य मिलते हैं वहीं हमें यह विज्ञान भी मिलता है और आज एकाएक ऐसा लग रहा है कि जिस विज्ञान ने अबतक समस्त मानवों के ज्ञान का पथ-प्रदर्शन किया है उसीको हम आज समस्त वस्तुओं की उन्नति में बाधक समझने लगे हैं।

लोग मकान बनाते हैं; एक शिल्पी एक तरह का नक्शा तैयार करता है तो दूसरा दूसरी तरह का और तीसरा तीसरी तरह का। इन नक़्शों में थोड़ा-बहुत अन्तर तो अवश्य होता है किंतु वे होते सभी ठीक हैं, क्योंकि उन्हें बनानेवाले सभी शिल्पियों के समक्ष एकमात्र यही विचार होता है कि यदि नक्शे के अनुसार कार्य हुआ तो मकान अवश्य बन जायगा। कनफ़्यूशियस, बुद्ध, मूसा और ईसा ऐसे ही शिल्पी थे।

किंतु कुछ लोग अकस्मात आकर हमें यह विश्वास दिलाते हैं कि मुख्य वस्तु किसी नक्शे का बनाना नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार मकान का निर्माण कर लेना है। इस 'किसी तरह' को ही ये लोग सर्वश्रेष्ठ विज्ञान कहकर पुकारते हैं, ठीक वैसे ही जैसे पोप अपनेको सबसे पुनीत कहकर पुकारते हैं। जिस विज्ञान से मनुष्य के भविष्य और कल्याण का निर्णय होता है उसी विज्ञान को लोग अस्वीकार करते हैं और इस अस्वीकृति को ही विज्ञान मानते हैं। मानव के सृष्टि-काल से ही बड़े-से-बड़े बुद्धिवेत्ता पैदा हुए हैं जो अपने तर्क और अपनी आत्मा की पुकार से संघर्ष करते हुए सदा अपने से यही प्रश्न पूछते रहे हैं कि अकेले उनका ही नहीं बल्कि समस्त मानव-समाज का भविष्य और कल्याण किस वस्तु में निहित है। वे इसी प्रश्न पर विचार करते रहे हैं कि जिस शक्ति ने हमें उत्पन्न किया और जो हमारा पथ-प्रदर्शन करती है वह हममें से प्रत्येक मनुष्य से क्या चाहती है और हमारे मन में स्वयं अपने तथा समस्त संसार के कल्याण के लिए जो आकांक्षा छिपी हुई है उसे संतुष्ट करने के लिए हमें क्या करना चाहिए।

वे अपने-आपसे यह प्रश्न करते रहे हैं—"मैं 'सम्पूर्ण' हूं और फिर भी 'अनन्त अपरिमित' का अंश हूं। अपने ही जैसे दूसरे अंशों से मेरा क्या सम्बन्ध है ? अर्थात् मेरा व्यष्टि और समष्टि से क्या सम्बन्ध है ?"

अपनी आत्मा तथा बुद्धि की पुकार के आधार पर और इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि उनके पूर्वजों तथा समकालीन व्यक्तियों ने भी अपने-आपसे यही प्रश्न पूछकर क्या उत्तर दिया था, इन महान् शिक्षकों ने एक ऐसा सिद्धान्त निर्धारित किया है जो सबके लिए अत्यंत सरल,स्पष्ट, बोधगम्य और व्यवहार-योग्य है।

इस प्रकार के उच्च-से-उच्च और निम्न-से-निम्न कोटि के व्यक्ति हुए हैं। संसार उनसे भरा पड़ा है। ये सभी लोग अपने से यही प्रश्न करते हैं— 'हमारी आत्मा और बुद्धि में समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए जो आकांक्षा भरी हुई है उसका हम वैयक्तिक हित की भावना से कैसे मेल मिलावें ?" इस सामान्य मूल भावना से धीरे-धीरे किंतु निरन्तर जीवन के ऐसे नए रूपों का निर्माण हो रहा है जो हमारी बुद्धि और आत्मा की पुकार के अधिक अनुकूल होते हैं।

अचानक एक नए वर्ग के लोगों का प्रादुर्भाव होता है और वे कहते हैं—"यह सब वाहियात है, इसे त्याग देना चाहिए; यह तो निष्कर्ष निकालने की वह प्रणाली है जिनमें किसी सर्वसम्मत स्वीकृत सिद्धान्त को आधार मान लिया जाता है और जो धार्मिक तथा दार्शनिक युगों के लिए ही ठीक थी।" लोग यह कहते तो हैं किंतु अभी तक कोई यह समझ नहीं पाया है कि निष्कर्ष निकालने की इस प्रणाली में और उस प्रणाली में जिसमें पृथक-पृथक उदाहरणों को देखकर व्यापक नियम निर्धारित किये जाते हैं, अन्तर क्या है !

इस नए वर्ग के लोग यह भी कहते हैं कि आन्तरिक अनुभूति के आधार पर मनुष्य अबतक जो कुछ भी जान पाया है, जीवन-धर्म की चेतना के सम्बन्ध में—जिसे नए वर्ग के लोग शारीरिक क्रिया कहकर पुकारते हैं—मनुष्य ने एक-दूसरे को जो कुछ भी बताया है और सृष्टि के आरम्भ से आज तक बड़े-बड़े विद्वानों ने इस दिशा में जितनी भी सफलता प्राप्त की है, वह सब कूड़ा-कर्कट और महत्त्वहीन है।

इस नई विचारधारा के अनुसार ऐसा लगता है जैसे हम शरीर-यंत्र के एक तंतु हों और हमारी तर्कसंगत क्रिया का एकमात्र उद्देश्य हमारी शारीरिक क्रिया का निर्णय करना है तथा ऐसा करने के लिए हमको केवल अपने चारों ओर फैले हुए जगत का निरीक्षण मात्र करने की आवश्यकता है। यह बात कि हम एक ऐसे तंतु हैं जो सोचता है, दुःख उठाता है, बोलता है, समझता है और इसलिए हम अपने ही जैसे बोलने-वाले दूसरे तंतु से यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या वह भी हमारी ही तरह से दुःख और सुख का अनुभव करता है और इस प्रकार यह निश्चय करता है कि हमारा अनुभव कहांतक ठीक है; यह बात कि हमसे पहले के तंतु जिस प्रकार जीवित रहते थे, दुःख-सुख का अनुभव करते थे, विचार करते थे और बोलते थे तथा इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे हम लाभ उठा सकते हैं; यह बात कि हमसे पहले के तंतुओं ने अपने जो अनुभव व्यक्त किये हैं उनसे सहमत होने के कारण लाखों दूसरे तंतु भी हमारे इन विचारों का समर्थन करते हैं और इन सबसे बड़ी बात यह है कि हम स्वयं एक जीवित तंतु हैं और अपने प्रत्यक्ष अनुभव से अपने कर्त्तव्यों के औचित्य और अनौचित्य को समझते हैं—ये सब बातें निरर्थक हैं, निष्कर्ष निकालने की यह एक बहुत ही दोषयुक्त और अशुद्ध प्रणाली है। सच्चा वैज्ञानिक ढ़ंग यह है—यदि हम जानना चाहते हैं कि हमारा व्यक्तिगत कर्त्तव्य क्या है अर्थात् यह जानना चाहते हैं कि हमारा ही नहीं बल्कि मानव-समाज और सारे संसार का कर्त्तव्य और हित किस वस्तु में निहित है तो हमको सबसे पहले अपनी आत्मा और बुद्धि की आवाज को सुनना बन्द करना होगा, हमको उन बातों पर विश्वास करना छोड़ना होगा जो मानव-समाज के महान शिक्षक अपनी बुद्धि और अपनी आत्मा के सम्बन्ध में कह गए हैं, हमको इन सब बातों को नगण्य समझकर नए सिरे से विचार करना होगा। ऐसा करने के लिए हमको एक खुर्दबीन के द्वारा छोटे-छोटे कीड़ों और क्रिमियों के तंतुओं की हरकत को देखना होगा। इससे भी आसान ढंग यह है कि जिन लोगों को निर्दोष होने का प्रमाणपत्र मिल चुका है वे इन वस्तुओं के सम्बन्ध में कुछ भी कहें उसीपर विश्वास कर लिया जाय। छोटे-छोटे कीड़ों और

तंतुओं को देखकर या जो कुछ दूसरों ने देखा है उसे पढ़कर हमको इन तंतुओं के सम्बन्ध में अपनी मानवीय भावनाओं के आधार पर यह अनुमान लगाना होगा कि वे क्या चाहते हैं, किस बात के लिए प्रयत्नशील हैं और उन्हें क्या सोचने तथा समझने का अभ्यास है। इन्हीं बातों से, जिनका कि एक-एक शब्द अशुद्ध है, हमको तुलनात्मक आधार पर यह निश्चय करना होगा कि हम क्या करते हैं, हमारा कर्त्तव्य क्या है और हमारा तथा हम-जैसे दूसरे तंतुओं का भला किस बात में है ? अपनेको समझने के लिए हमको न केवल द्रष्टव्य क्रिमियों का बल्कि उन लघुतम जंतुओं का भी अध्ययन करना होगा जिन्हें हम मुश्किल से देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमको एक जीव का दूसरे जीव के रूप में परिवर्तित होने की क्रिया को भी देखना होगा, जिसे न तो अबतक कोई देख सका है और न जिसे हम निश्चय ही कभी देख सकेंगे।

यही बात कला की भी है। जहां कहीं भी सच्चा विज्ञान विद्यमान रहा है वहां कला सदा से ही मनुष्य के कर्त्तव्य और हित के लिए ज्ञान की अभिव्यक्ति करती रही है। मनुष्य के जिन सम्पूर्ण कार्य-कलापों से भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान का उपार्जन होता है उनमें से लोग सृष्टि के आरम्भ-काल से ही उस प्रधान क्रिया को चुनते आए हैं जिससे मनुष्य के कर्त्तव्य और कल्पना का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के प्रतिफल की अभिव्यक्ति ही कला कहलाती रही है। मानव-जीवन के आरम्भ काल से ही ऐसे मनुष्य होते आए हैं जो मानव-जाति के कर्त्तव्य और कल्याण के उपदेशों के प्रति विशेष रूप से जागरूक और उत्सुक रहे हैं तथा जिन्होंने अपनेको कर्त्तव्यच्युत करनेवाली भ्रांतियों के विरुद्ध हर प्रकार से संघर्ष किया है। उन्होंने इस संघर्ष की यातनाओं का भी बखान किया है और नेकी की विजय पर आशा तथा बुराई की विजय पर निराशा व्यक्त की है और भावी सुख के प्रति हर्ष की अभिव्यक्ति की है।

सृष्टि के आरम्भ से ही सच्ची कला का—जिसका सदा ही अत्यधिक सम्मान होता रहा है—एकमात्र उद्देश्य यही रहा है कि वह मनुष्य के कर्त्तव्य और कल्याण की अभिव्यक्ति करे। कला ने तो आरम्भ से लेकर आज तक सदा ही उस जीवनोपदेश का अनुगमन किया है जो बाद में

धर्म के नाम से पुकारा गया और सच पूछिए तो सदा केवल इसी प्रकार की कला का सम्मान भी हुआ है। किन्तु जब से मनुष्य के कर्त्तव्य और कल्याण का ज्ञान करानेवाले विज्ञान के स्थान पर एक ऐसे विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है जो विश्व की समस्त बातों का ज्ञान प्राप्त कराने का दावा करता है—अर्थात् जबसे विज्ञान का असली अर्थ और उद्देश्य नष्ट हो गया है और सच्चे विज्ञान को लोग घृणापूर्वक धर्म के नाम से पुकारने लगे हैं—तभी से कला का मनुष्य की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया के रूप में लोप हो गया है।

जबतक हमारे कर्त्तव्य और कल्याण का निर्देशन धर्म की ओर से होता रहा तबतक कला धर्म की सेवा में ही लीन रही और सच्ची कला बनी रही, किंतु जबसे वह धर्म का साथ छोड़कर विज्ञान की सेविका बनी तबसे उसकी महत्ता जाती रही है और यद्यपि आज भी वह अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा के आधार पर यह मूर्खतापूर्ण दावा करती है कि कला कला के लिए है, तथापि उसने मनुष्य को वांछनीय पदार्थ जुटानेवाले एक व्यवसाय का रूप ग्रहण कर लिया है और वह अनिवार्य रूप से नाखून रंगने और शृंगार करने की कलाओं में घुलमिल गई है। मार्के की बात तो यह है कि इन सौंदर्य-प्रसाधनों के उत्पादक भी अपनेको कलाकार कहने का उतना ही अधिकारी मानते हैं जितने आज कल के कवि चित्रकार और संगीतज्ञ।

हम अपने लम्बे अतीत पर दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि पिछले हजारों वर्षों में लाखों और करोड़ों व्यक्तियों के बीच में से कन्फ्यूशियस, बुद्ध, सोलन, सुकरात, सुलेमान, होमर, ईसइया और दाऊद जैसे कुछ थोड़े-से ही विशिष्ट व्यक्ति हुए हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्ति इस संसार में बहुत कम हुए हैं, यद्यपि उनका जन्म किसी जाति विशेष में नहीं अपितु जनसाधारण में ही हुआ था। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि आत्मिक भोजन को उत्पन्न करनेवाले इस प्रकार के सच्चे वैज्ञानिक और कलाकार अत्यन्त दुर्लभ हैं और मानव-समाज उनका इतना जो सम्मान करता आया है वह अकारण नहीं है। किंतु आज ऐसा लगता है कि जैसे विज्ञान और कला की ये महान विभूतियां हमारे लिए निरर्थक हो

गई हैं, जैसे आज विज्ञान और कला के उत्पादक श्रम-विभाजन के निमयानुसार कारखानों में पैदा किये जा सकते हैं और सृष्टि के आरम्भ से अब तक जितने भी वैज्ञानिक और कलाकार हुए हैं उनसे कहीं अधिक वैज्ञानिक और कलाकार हम दस वर्ष में पैदा कर सकते हैं। आजकल तो वैज्ञानिकों और कलाकारों का जैसे एक संघ-सा खुल गया है, जहां मनुष्य जाति के लिए जितने भी आत्मिक भोजन की आवश्यकता है वह सब एक निर्दोष ढंग पर तैयार कर लिया जाता है। और यह आत्मिक भोजन इतने अधिक परिणाम में तैयार कर लिया गया है कि अब पहले के प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों को स्मरण करने तक की आवश्यकता नहीं रह गई है। कहा जा सकता है कि उनका कार्य तो धार्मिक और दार्शनिक युग का काम था, इसलिए उसे मिटा देना चाहिए; सच्चे तर्क-संगत कार्य को आरंभ हुए तो अभी पचास वर्ष ही बीते हैं और इन पचास वर्षों में हमने इतने महान्पुरुष उत्पन्न कर लिये हैं कि आज अकेले एक जर्मन विश्वविद्यालय में इतने विद्वान् हैं जितने समस्त संसार में नहीं हुए। विज्ञान भी हमने इतने उत्पन्न कर लिये हैं—सौभाग्यवश इन्हें उत्पन्न करना आसान भी है क्योंकि हमें तो केवल किसी यूनानी संज्ञा के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़कर उसे बनी-बनाई तालिकाओं में श्रेणी-बद्ध करने भर की आवश्यकता है और फिर तो वह आपसे आप विज्ञान बन जाती है—कि न केवल हमारे लिए इन समस्त विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है बल्कि किसी एक व्यक्ति के लिए उन सबका नाम तक याद रखना सम्भव नहीं, उनके नाम से ही एक मोटा कोष तैयार हो सकता है और नए विज्ञानों का तो दिन-प्रति-दिन प्रादुर्भाव हो ही रहा है। बहुत-से विज्ञान ऐसे बनाए गए हैं जिनसे हमें फिनलैंड के उस अध्यापक की स्मृति हो आती है जो एक जमींदार के लड़कों को फ्रांसीसी भाषा की बजाय फिनिश भाषा पढ़ाया करता था। उसने पढ़ाया तो खूब लेकिन दुःख इस बात का है कि उसके सिवाय और कोई उसका एक शब्द भी नहीं समझा। अन्य सभी लोग उसे एक निरर्थक कूड़ा समझते हैं। किंतु इसका भी एक जवाब है। कहा जा सकता है वैज्ञानिक ज्ञान की समस्त उपयोगिता को लोग समझ नहीं पाते, क्योंकि लोग अब भी धार्मिक युग की बताई गई बातों के प्रभाव में हैं—

वही मूर्खतापूर्ण युग जब संसार के सभी लोग—हिब्रू, चीनी, हिन्दू और यूनानी, सभी अपने महान उपदेशकों द्वारा बताई गई समस्त बातों को समझते थे।

जो कुछ भी हो, सत्य यह है कि विज्ञान और कला का अस्तित्व सदा से ही मनुष्य-समाज में रहा है और जब वे अपने सच्चे स्वरूप में विद्यमान थे तब जनता को उनकी आवश्यकता थी और वह उन्हें समझ भी लेती थी। आज हम एक ऐसी वस्तु के पीछे पड़े हुए हैं जिसे हम कहते तो विज्ञान और कला हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि हम आज जो कुछ भी कर रहे हैं उसे विज्ञान अथवा कला कहलाने का अधिकार नहीं है।

: ३७ :

कष्ट-सहन बिना सच्ची सेवा असम्भव

लोग मुझे जवाब देते हैं—"लेकिन आप तो विज्ञान और कला की एक दूसरी परिभाषा मात्र दे रहे हैं, जो पहले से भी अधिक संकीर्ण है और जिससे विज्ञान सहमत नहीं है। और फिर शेष बातें इससे बाहर कब हैं ? संसार में अब भी गैलीलियो[1], ब्रूनो[2], होमर[3], माइकेल आंजेलो, बीथोवेन और वैगनर जैसे महान वैज्ञानिकों और कलाकारों तथा उनके अतिरिक्त उन छोटे-छोटे विज्ञान-वेत्ताओं और कलाविदों की भी हलचल जारी हैं, जिन्होंने अपना समस्त जीवन ही विज्ञान और कला की सेवा में लगा दिया है।"

यह बात प्रायः इसलिए कही जाती है कि पहले के और आज के वैज्ञानिकों तथा कलाकारों के बीच एक कड़ी स्थापित की जा सके। ऐसा करते समय लोग श्रम-विभाजन के उस विशेष नए सिद्धान्त को भूलने का प्रयत्न करते हैं, जिसके आधार पर आज विज्ञान और कला को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

सबसे पहली बात यह है कि प्राचीन और वर्तमान कार्यकर्त्ताओं के

---

[1] इटली का जगद्विख्यात खगोल-वेत्ता

[2] इटल ३. प्रसिद्ध यूनानी कवि।

बीच ऐसी कोई कड़ी स्थापित करना असम्भव है। जिस प्रकार प्रारम्भिक ईसाइयों के पवित्र जीवन और आजकल के पोपों के जीवनों में कोई तारतम्य नहीं है, उसी प्रकार गैलीलियो, शेक्सपियर और बीथोवेन जैसे व्यक्तियों के कार्यों की टिंडल, विक्टर ह्यूगो और वैगनरजैसे व्यक्तियों के कार्यों से कोई समता नहीं है। जिस प्रकार प्राचीनयाल के पुनीत धर्म-पिता पोपों के साथ अपना कोई सम्बन्ध मानना स्वीकार नहीं करते उसी प्रकार प्राचीन काल के प्रमुख विज्ञानवेत्ता आज के वैज्ञानिक नेताओं के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने से इंकार कर देते हैं।

दूसरी बात यह है कि विज्ञान और कला स्वयं को जो महत्त्व देने लगे हैं उससे हमें उनके ही द्वारा संस्थापित एक अत्यन्त स्पष्ट मापदण्ड मिल गया है जिससे हम यह निश्चय कर सकते हैं कि विज्ञान और कला का उद्देश्य पूरा हो रहा है या नहीं। इस प्रकार हम स्वेच्छा से नहीं बल्कि एक स्वीकृत मापदण्ड के अनुसार यह निश्चय कर सकते हैं कि जो वस्तु अपनेको विज्ञान और कला कहती है उसे ऐसा कहने का अधिकार है या नहीं।

पुराने जमाने में मिस्र और यूनान के धर्माचार्य ऐसे रहस्यपूर्ण कार्य किया करते थे जिनका भेद उनके सिवा और किसीको न मालूम होता था और वे कहते थे कि इन रहस्यों में ही समस्त विज्ञान और कला सन्निहित है, किंतु हम उनके कार्यों द्वारा जनता को पहुंचाए गए लाभ को आधार मानकर यह निर्णय नहीं कर सकते थे कि उनका विज्ञान सही है, क्योंकि वे स्वयं उन्हें दैवी मानते थे। किंतु अब हमारे सामने एक बिलकुल ही स्पष्ट और सरल मापदण्ड है जिसमें किसी दैवी तत्त्व को स्थान नहीं। समाज अथवा मानव-जाति के कल्याण के लिए आज विज्ञान और कला मनुष्य के मानसिक कार्य करने को तत्पर हैं। अतः हमें इस बात का अधिकार है कि हम केवल ऐसे कार्यों को 'विज्ञान और कला' का नाम दें जिनके सामने उक्त लक्ष्य हो और जो उसे प्राप्त करें।

इसलिए वे विद्वान् और कलाकार, जो दण्डविधान और नागरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का निर्णय करते हैं, जो नए अस्त्र-शस्त्रों और विस्फोटकों का अन्वेषण करते हैं और जो अश्लील नाटक

अथवा उपन्यास लिखते हैं, वे अपनेको चाहे कुछ भी कहें, हमें उनके ऐसे कार्यों को विज्ञान और कला कहने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि उन कार्यों का लक्ष्य समाज अथवा मानव-जाति का कल्याण करना नहीं होता बल्कि इसके विपरीत वे मानव-जाति को हानि पहुंचाते हैं। अतः यह सब विज्ञान या कला नहीं है। इसी प्रकार वे विद्वान्, जो अपने सरल स्वभाव के कारण अपना सारा जीवन सूक्ष्मदर्शक और दूरदर्शक यन्त्रों द्वारा दिखाई पड़नेवाले तत्त्वों आदि के अध्ययन में लगा देते हैं अथवा वे कलाकार जो प्राचीन स्मारकों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने, चित्र बनाने या मधुर राग-रागनियां और कविताएं रचने में लगे हुए हैं, वे अपने आपको चाहे कुछ भी क्यों न कहें, उत्साही होते हुए भी वे वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार वैज्ञानिक और कलाकार नहीं कहे जा सकते। इसके कई कारण हैं—पहले तो उनके 'विज्ञान विज्ञान के लिए' और 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त पर किये गए कार्यों में मानवीय कल्याण का उद्देश्य नहीं होता और दूसरे हम उनके कार्यों को समाज और मानवता के लिए कल्याणप्रद नहीं पाते। यह बात कि उनके कार्य से कभी-कभी कुछ व्यक्तियों का मनोरंजन और लाभ हो जाता है हमें इस बात की बिलकुल अनुमति नहीं देती कि स्वयं उनकी ही वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार हम उन्हें वैज्ञानिक और कलाकार समझें।

ठीक इसी प्रकार जो लोग बिजली से प्रकाश, गर्मी अथवा शक्ति प्राप्त करने के नए प्रयोग करते हैं या नए रासायनिक प्रयोगों से बारूद अथवा सुन्दर रंग तैयार करते हैं या शास्त्रीय संगीत शुद्ध रूप से प्रस्तुत करते हैं या रंगमंच पर अच्छा अभिनय करते हैं और सुन्दर चित्र बना सकते हैं या मनोरंजक उपन्यास लिख सकते हैं—वे अपनेको कुछ भी कहें, उनके कार्य को—जिसका उद्देश्य धनी वर्गों की नीरसता को दूर करना मात्र है—विज्ञान और कला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनके कार्य का लक्ष्य शरीर-यन्त्र के मानसिक कार्य की भाँति समस्त मानव-जाति का कल्याण नहीं होता। इसका एकमात्र उद्देश्य तथाकथित कला के आविष्कारों और उत्पादनों से व्यक्तिगत लाभ, सुविधाएं और धन

प्राप्त करना ही होता है। अतः ऐसे कार्य को दूसरे प्रकार के स्वार्थरत व्यक्तिगत कार्यों—जैसे रेस्तोरां खोलना, घुड़सवारी करना, वेश्यावृत्ति करना आदि—से किसी प्रकार भी पृथक नहीं किया जा सकता। इन कार्यों का लक्ष्य केवल जीवन के आनन्द में अभिवृद्धि करना है और ये विज्ञान और कला की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आते। विज्ञान और कला से तो हमें श्रम-विभाजन के आधार पर मानव-जाति अथवा समाज के कल्याण का आश्वासन मिलता है।

विज्ञान ने विज्ञान और कला की जो परिभाषा बताई है वह बिलकुल सही है; किंतु दुर्भाग्यवश आज के विज्ञान और कला की हलचलें उसके अन्तर्गत नहीं आतीं। उनके कुछ प्रतिनिधि ऐसे कार्य कर रहे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से हानिकारक हैं, कुछ व्यर्थ का परिश्रम कर रहे हैं और कुछ ऐसे कार्य कर रहे हैं जो महत्त्वहीन हैं और जिनसे केवल धनिकों का ही लाभ हो सकता है।

शायद ये सभी लोग नेक आदमी हैं, लेकिन वे उन कामों को नहीं करते जिन्हें करने का उन्होंने अपनी परिभाषा के अनुसार ठेका लिया है। अतः उन्हें अपनेको विज्ञानवेत्ता और कलाकार समझने का उतना ही कम अधिकार है जितना कि अपने उत्तरदायित्वों का पालन न करनेवाले आज के धर्माचार्यों को अपनेको सत्य के ठेकेदार और उपदेशक कहने का है।

आज जो लोग विज्ञान और कला में लगे हुए हैं वे अपने कर्त्तव्य का पालन क्यों नहीं करते या कर सकते, यह समझना कुछ मुश्किल नहीं है। वे अपने कर्त्तव्यों का पालन इसलिए नहीं कर पाते कि उन्होंने अपने कर्त्तव्यों को अधिकार बना लिया है।

वैज्ञानिक और कलात्मक कार्य अपने वास्तविक अर्थों में तभी फलप्रद हो सकते हैं, जब वे अधिकारों की चिंता त्यागकर केवल कर्त्तव्यों का ध्यान रखें। उनकी एकमात्र इसी विशेषता के कारण मानवता उनका इतना अधिक सम्मान करती है।

जो लोग वास्तव में मानसिक परिश्रम करके दूसरों की सेवा करना चाहते हैं, उन्हें ऐसा करते समय सदा यातनाएं सहनी पड़ती हैं। जिस प्रकार प्रसव-पीड़ा के पश्चात ही शिशु का जन्म होता है, उसी प्रकार

यातनाओं को सहन करने के बाद ही आध्यात्मिकता का निर्माण होता है।

विचारकों और कलाकारों के भाग्य में उत्सर्ग और कष्ट का होना अनिवार्य है, क्योंकि उनका उद्देश्य मानव का कल्याण होता है। मनुष्य दुःखी होते हैं, वे कष्ट भोगते हैं और मर जाते हैं। ठहरने और अपने में फिर से स्फूर्ति लाने का अवकाश किसे मिलता है?

विचारक और कलाकार किसी एकान्त चोटी पर जाकर नहीं बैठ जाते, जैसाकि प्रायः हम समझ लेते हैं। उनके चित्त में तो सदा चिन्ता और खलबली मची रहती है। वे ऐसी बातों को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते हैं जो मनुष्य के लिए वरदान सिद्ध हो सकती हैं और उसे यातनाओं से बचा सकती हैं। किंतु अभी तक वे इन बातों का पता नहीं लगा पाए हैं और सम्भव है कि कल तक ऐसा करने के लिए बहुत देर हो जाय—सम्भव है तबतक मनुष्य की जीवन-लीला ही समाप्त हो जाय।

वह व्यक्ति कभी विचारक और कलाकार नहीं हो सकता जिसने किसी ऐसी संस्था में शिक्षा, योग्यता और उपाधि ग्रहण की हो जो दावा तो करती है विद्वानों और कलाकारों को जन्म देने का किंतु वास्तव में पैदा करती है विज्ञान और कला की हत्या करनेवालों को। सच्चा कलाकार और विद्वान तो वह है जो यह सोचता ही नहीं और न प्रकट ही करता कि उसकी अन्तरात्मा में क्या है। वह तो उन कार्यों को किये बिना रह ही नहीं सकता जिन्हें करने के लिए दो प्रबल शक्तियां—आंतरिक आवश्यकता और जनता की मांग—उसे प्रेरित करती रहती है।

जो लोग मोटे-ताजे और आत्म-संतुष्ट हैं तथा छक-छककर जीवन के आनन्दों का उपभोग करते हैं वे विचारक और कलाकार हो ही नहीं सकते।

जिस प्रकार मानसिक कार्य और उसकी अभिव्यक्ति की वास्तव में दूसरों को आवश्यकता है, उसकी साधना मनुष्य के लिए सबसे अधिक कठिन और कष्टकारी है। धर्मशास्त्र के शब्दों में वह उसके लिए सूली का तख्ता है। यदि किसीमें इसके लिए लगन है तो उसका एकमात्र और असंदिग्ध लक्षण यह है कि वह स्वार्थ का त्याग कर देता है और स्वयं

में निहित शक्तियों का दूसरे के लाभार्थ व्यवहार करने में अपनेको निछावर कर देता है ।

यह तो सम्भव है कि हम बिना कष्ट उठाए यह सिखला सकें कि संसार में कितने कीट-पतंग हैं, या सूर्य के धब्बों की जांच कर सकें या उपन्यास तथा संगीत-नाटक की रचना कर सकें; किन्तु दूसरों को यह बताना कि उनके कल्याण का मार्ग आत्मत्याग और परोपकार में निहित है और साथ-ही-साथ इस सिद्धान्त का बलपूर्वक प्रतिपादन करना कष्ट उठाए बिना असम्भव है ।

ईसाई धर्म के आचार्यों में जबतक सहन-शक्ति और कष्ट उठाने की क्षमता थी तबतक उसका अस्तित्व बना रहा, किंतु जब वे भोग-विलास में पड़कर आलसी बन गए तो उनका शिक्षण-कार्य समाप्त हो गया ।

जैसा कि किसान कहते हैं—"पहले सोने के पुजारी और लकड़ी के कमंडलु हुआ करते थे; किंतु अब कमंडलु सोने के हो गए हैं और पुजारी लकड़ी के ।"

ईसा-मसीह का सूली पर प्राण देना निष्प्रयोजन नहीं था; बलिदान-पूर्ण कष्ट-सहन सबपर विजय प्राप्त कर लेता है ।

आज विज्ञान और कला को सब प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हैं और वे प्रामाणिक हैं, फिर भी लोगों को एकमात्र यही चिन्ता लगी रहती है कि उनके लिए और अधिक सुविधाओं की व्यवस्था की जाय, अर्थात् उन्हें ऐसा बना दिया जाय कि उनसे मानव-जाति की सेवा हो ही न सके ।

सच्चे विज्ञान और सच्ची कला के दो निश्चित लक्षण होते हैं; पहला आंतरिक—अर्थात विज्ञानवेत्ता तथा कलाकार अपने कर्त्तव्य का पालन लाभ के लिए नहीं वरन आत्म-त्याग के लिए करते हैं; और दूसरा वाह्य—अर्थात विज्ञान और कला के विशेषज्ञों के कार्य उन सब व्यक्तियों की समझ में आ सकते हैं जिनकी भलाई को दृष्टि में रखकर वे किये जाते हैं ।

मनुष्य चाहे किसी भी वस्तु को अपने पेशे और हित का प्रतिनिधि क्यों न माने, विज्ञान उसकी शिक्षा अवश्य देगा और कला उस शिक्षा को अभिव्यक्त करेगी । सोलन और कन्फ्यूसियस के आध्यात्मिक सिद्धान्त

हों, चाहे मूसा और ईसा के धार्मिक उपदेश—वे सभी विज्ञान हैं। इसी प्रकार एथेन्स के भवन हों, चाहे दाऊद के भजन और चाहे गिरजाघर की पूजा—ये सब कला हैं; किंतु पदार्थ के चौथे अंश का अध्ययन करना और रासायनिक मिश्रणों को क्रमबद्ध करना कभी विज्ञान नहीं रहा है और न होगा। हमारे युग में सच्चे विज्ञान का स्थान धर्म-शास्त्रों ने और सच्ची कला का स्थान रीति-रिवाजों और राजकीय समारोहों ने ले लिया है। जनता को इनमें से किसीमें भी विश्वास नहीं है और कोई भी इन्हें गम्भीरता के साथ ग्रहण नहीं करता। लेकिन हमारे यहां जिसे विज्ञान और कला कहा जाता है वह आलसी विचारकों और भावुकों की उपज है और उसका उद्देश्य इसी प्रकार के दूसरे आलसी विचारकों और भावुकों पर प्रभाव डालना है। ये चीजें जनता की समझ में नहीं आतीं और न उसके काम की ही होतीं, क्योंकि इनमें जन-कल्याण की कोई भावना नहीं होती।

मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही हमें सर्वत्र और सदैव एक ऐसा सिद्धान्त दिखाई देता है जो छलपूर्वक अपनेको विज्ञान कहता है और जो जनता को जीवन का अर्थ समझाने के बजाय छिपाता है। यही बात मिस्रियों, हिंदुओं, चीनियों और कुछ सीमा तक यूनानियों में थी और बाद में रहस्यवादियों, ज्ञानवादियों और तन्त्रवादियों में आई। फिर यह मध्य-युग के अध्यापकों और रसायनवेत्ताओं में विद्यमान रही और इस प्रकार हमारे युग तक चली आई।

हमारे लिए तो यह विशेष सौभाग्य की बात है कि हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जब अपनेको विज्ञान कहनेवाली विचारधारा न केवल दोषरहित है बल्कि—जैसाकि हमें निरन्तर आश्वासन दिया जाता है—असाधारण रूप से सफल भी है। क्या इस सौभाग्य का कारण यह नहीं कि मनुष्य स्वयं अपनी कुरूपता को न तो स्वीकार कर सकता और न करेगा? फिर ऐसा क्यों हुआ कि जब अन्य विज्ञानों, नीतिशास्त्रों आदि में शब्दों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया, हम विशेष रूप से इतने सौभाग्यशाली बने रहे?

स्मरण रखिए कि संकेत बिलकुल उसी प्रकार के हैं। हममें वही

आत्म-संतुष्टि और अंध-आश्वासन विद्यमान है कि हम और केवल हम सच्ची राह पर हैं और उसपर चलनेवाले पहले ही राही हैं; वही आशा भरी हुई है कि हम कोई-न-कोई असाधारण बात खोज निकालेंगे; और इन सबसे अधिक हममें हमारी पोल खोलनेवाला वही लक्षण विद्यमान है अर्थात् यह कि हमारा सारा ज्ञान हममें ही केन्द्रित होकर रह जाता हैं जबकि जनता न उसे समझती है न स्वीकार करती है और न उसकी आवश्यकता ही है। हमारी स्थिति ही बड़ी करुणाजनक है। किन्तु क्यों न उसका उसी रूप में सामना किया जाय जिस रूप में वह है।

अब समय आ गया है कि हम चेतें और अपने चारों ओर देखें। हमारी अवस्था बिलकुल उन मुंशियों और फ़ारीसियों जैसी हैं जो मूसा की गद्दी पर बैठ गए हों और जिन्होंने स्वर्ग की कुंजी अपने हाथ में ले ली हो। किंतु जो न स्वयं उसमें घुसते हों और न दूसरों को घुसने देते हों। हमलोग, जो अपनेको विज्ञान और कला के पुजारी मानते हैं, सबसे बड़े प्रपंची हैं। हमें इस पद पर बने रहने का उतना भी अधिकार नहीं है जितना कि मक्कार-से-मक्कार और दुराचारी-से-दुराचारी धर्माचार्य को होता है। हमें इस ऊंची स्थिति पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं है, हमने उसे कपट से प्राप्त किया है और अब हम उसे छल से कायम रख रहे हैं।

मूर्तिपूजक पुजारी और हमारे अपने तथा कैथोलिक सम्प्रदाय के धर्माचार्य चाहे कितने भी दुराचारी क्यों न हों या रहे हों, अपनी स्थिति के कारण उन्हें यह श्रेय तो प्राप्त हुआ ही कि उन्होंने और कुछ नहीं तो कम-से-कम जनता को जीवन की शिक्षा देने और मुक्ति का मार्ग बताने का विचार तो किया। हमने उन्हें पीछे धकेल दिया है और यह सिद्ध करके कि वे धोखेबाज थे स्वयं उनका स्थान ग्रहण कर लिया है, किन्तु हम जनता को जीवन का तरीका नहीं सिखाते बलिक साफ-साफ शब्दों में कहते हैं कि इन सब बातों को सीखने का प्रयत्न करने से कोई लाभ नहीं। फिर भी हम जनता का सत निचोड़ लेते हैं और बदले में अपने बच्चों को यूनानी और लैटिन व्याकरण की उल्टी-सीधी बातें सिखाते हैं जिससे कि हमारी भांति वे भी पंगु बने रहें।

हम कहते हैं कि पहले जाति-विभाजन था, किन्तु अब नहीं है लेकिन ऐसा क्यों है कि कुछ व्यक्ति और उनके बच्चे तो काम करते हैं और कुछ व्यक्ति और उनके बच्चे नहीं करते ? किसी हिन्दू को लाइये जो हमारी भाषा नहीं जानता और उसे रूढ़ियों से चली आती हुई हमारी जीवन-प्रणाली का अध्ययन करने को कहिए। वह उसमें भी वही दो मुख्य, स्पष्ट जातियां देखेगा जो उसके अपने समाज में विद्यमान हैं; एक वह जाति जो काम करती है और दूसरी वह जो काम नहीं करती। जैसा कि उनमें है, हममें भी काम न करने का अधिकार एक विशेष प्रेरणा से मिलता है जिसे हम विज्ञान और कला और आमतौर पर 'शिक्षा' कहते हैं। आज हमारी आंखों पर जिस पागलपन का परदा छाया हुआ है और जिसके कारण हम इतनी स्पष्ट और असंदिग्ध बातें भी नहीं देख पाते उसका एकमात्र कारण यही शिक्षा है और इसी शिक्षा के कारण हमारी बुद्धि भ्रमित हो गई है।

हम अपने भाइयों को चूसते रहते हैं, फिर भी अपनेको ईसाई, दयालु और शिक्षित मानते हैं और समझते हैं कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं वह पूर्ण रूप से औचित्यपूर्ण है।

: ३८ :

तब फिर हम क्या करें ?

'तब फिर हम क्या करे ? हमें करना क्या चाहिए ?' यह प्रश्न—जिसमें यह स्वीकारोक्ति निहित है कि हमारे जीवन का ढंग गलत और बुरा है साथ ही यह संकेत भी है कि उसे बदलना असम्भव है—मैं सब तरफ से सुनता हूँ और यही कारण है कि मैंने अपनी पुस्तक का नाम भी यही चुना है।

इस प्रश्न के सम्बन्ध में मैंने जो कष्ट झेले हैं, जो खोज की है और जो हल निकाला है, उसीका मैंने इस पुस्तक में वर्णन किया है। मैं भी दूसरों ही जैसा एक इन्सान हूँ और यदि मैं अपने आस-पास के किसी साधारण जन से किसी बात में भिन्न हूँ भी तो मुख्यतः इसमें कि मैंने दुनिया में झूठे उपदेशों के प्रचार में उससे अधिक योग दिया है, मुझे

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA

सत्ताप्राप्त विचारोंवाले व्यक्तियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसा मिली है और इस कारण मेरा दिमाग अधिक फिर गया है और मैं दूसरों की अपेक्षा अधिक पथ-भ्रष्ट हो गया हूँ।

और इसलिए मैं सोचता हूं कि मैंने अपने लिए जो हल निकाला है, वह उन सभी ईमानदार व्यक्तियों के लिए ठीक होगा जो स्वयं से यही प्रश्न करते हैं। सबसे पहला प्रश्न है—"हम क्या करें ?" इसका मैंने स्वयं को यह उत्तर दिया—"मुझे अपने से या दूसरों से झूठ नहीं बोलना चाहिए और न सत्य से भयभीत होना चाहिए, चाहे उसका कुछ भी परिणाम क्यों न निकले। यह बात हम सब जानते हैं कि दूसरों से झूठ बोलने का क्या अर्थ है। फिर भी हम सुबह से शाम तक लगातार झूठ बोलते रहते हैं। 'घर पर नहीं हैं', जबकि हम घर पर होते हैं; 'बहुत खुशी हुई', जबकि हमें बिलकुल खुशी नहीं होती; 'आदर सहित', जब कि हममें आदर की कोई भावना नहीं होती; 'मेरे पास पैसा नहीं है', जबकि हमारे पास खूब पैसा होता है, आदि-आदि। हम यह तो जानते हैं कि दूसरे व्यक्तियों से झूठ बोलना—विशेषकर कुछ विशेष बातों में—बुरा होता है, किन्तु स्वयं से झूठ बोलने में हमें जरा भी डर नहीं लगता। हम यह सोचने की चेष्टा ही नहीं करते कि दूसरों से बोले गए सबसे बुरे, निकृष्ट और छलपूर्ण झूठ का भी परिणाम उस झूठ की तुलना में कुछ नहीं होता जो हम स्वयं से बोलते हैं और जिसके आधार पर हम अपने सारे जीवन की रूपरेखा बनाते हैं। इसलिए यदि हम इस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं कि हम क्या करें तो हमें स्वयं अपने से इस प्रकार झूठ बोलने का अपराधी नहीं होना चाहिए।

किन्तु जब हमारे सारे काम, हमारा सारा जीवन झूठ पर टिका है और हम बड़ी सावधानी से इस असत्य को दूसरों के सामने और स्वयं अपने सामने भी सत्य कहकर रखते हैं तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न का उत्तर देना कैसे सम्भव हो सकता है ? झूठ न बोलने का मतलब है सत्य से न डरना; बुद्धि और अन्तरात्मा के निष्कर्षों को स्वयं से छिपाने के लिए बहाने न खोजना और जब दूसरे इस प्रकार के बहाने बनाएं तो उन्हें स्वीकार न करना; अपने चारों ओर के व्यक्तियों से

मतभेद रखने में भयभीत न होना; इस बात से न घबराना कि हमारी बुद्धि और अन्तरात्मा जो कुछ कहती है उसे माननेवाला कोई दूसरा नहीं; इस बात से भी न डरना कि सत्य हमें किस स्थिति पर पहुँचा देगा। हमें यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि सत्य और अन्तरात्मा की पुकार चाहे हमें किधर भी क्यों न ले जाय वह झूठ पर आधारित जीवन से बुरा नहीं हो सकता। ऊंची स्थितिवाले हम-जैसे विचारकों के लिए झूठ न बोलने का अर्थ है अपने लेखे-जोखे से भय न खाना। शायद हम पहले से ही दूसरों के इतने ऋणी हैं कि उससे उऋण नहीं हो सकते, फिर भी अपनी स्थिति को न जानने से तथ्यों का सामना करना अधिक अच्छा है। असत्य मार्ग पर हम चाहे कितने भी दूर क्यों न जा चुके हों, वहाँ से लौट पड़ना उसपर चलते रहने की अपेक्षा बेहतर है। दूसरों से झूठ बोलने में हानि ही होती है। सारी उलझनें झूठ की अपेक्षा सत्य से ही अधिक प्रत्यक्ष रूप से और अधिक शीघ्रतापूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। दूसरों से झूठ बोलने से केवल गुत्थी उलझ जाती है और उसके हल में बाधा पड़ जाती है, किंतु स्वयं अपने सामने किसी झूठ को सत्य कहकर उपस्थित करने से मनुष्य का समस्त जीवन ही नष्ट हो जाता है।

गलत रास्ते पर चलना आरम्भ करके भी यदि कोई व्यक्ति उसे ही ठीक समझे तो उस रास्ते पर उठाया गया उसका ही कदम उसे उसके लक्ष्य से अधिक दूर ले जाता है। यदि कोई मनुष्य बहुत समय तक झूठे रास्ते पर चलता रहता है, फिर उसे पता चलता है या बताया जाता है कि यह गलत मार्ग पर है, तब भी इस विचार से डरकर कि वह इस मार्ग पर बहुत दूर निकल आया है यदि वह अपनेको यह कहकर आश्वासन देता है कि इसी मार्ग पर चलकर वह अब भी ठीक राह पर पहुँच जायगा, तो वह कभी भी ठीक रास्ते पर नहीं पहुँचेगा। यदि कोई मनुष्य सत्य से डरता है और उसे देखकर उसे अंगीकार न कर झूठ को ही सत्य मान लेता है तो वह यह कभी नहीं समझ सकेगा कि उसे क्या करना चाहिए।

हम लोग, जो न केवल धनिक हैं वरन् विशेष स्थिति में हैं और शिक्षित कहे जाते हैं, झूठे मार्ग पर इतनी दूर बढ़ चुके हैं कि हमारे

लिए स्वयं को समझ पाना और उस झूठ को स्वीकार करना, जिसके बीच हम जीवन बिता रहे हैं, तभी सम्भव हो सकता है जब या तो हम-में दृढ़ निश्चय हो या हमने मार्ग के घोर कष्टों के अनुभव प्राप्त कर रखे हों।

धन्यवाद है उन कष्टों को जो मुझे झूठे मार्ग पर चलने के कारण भोगने पड़े। मैंने जीवन के असत्य को देख लिया और उसे स्वीकार कर मैं अपने में इतना साहस ला पाया (पहले केवल मन में ही) कि बिना परिणाम की चिन्ता किये बुद्धि और अंतरात्मा के बताए मार्ग पर चल सकूं और मुझे उस साहस का पुरस्कार मिला। मेरे चारों ओर जीवन का जो जटिल, अस्त-व्यस्त, भ्रामक और अर्थहीन रूप बिखरा हुआ था वह तत्काल स्पष्ट हो गया और मेरी जो स्थिति पहले विचित्र और बोझिल थी वह अकस्मात स्वाभाविक और सरल बन गई। इस नई स्थिति में मेरे कार्य ने अपनी ठीक दिशा निश्चित कर ली और उसका रूप वैसा नहीं रह गया जैसा मैंने पहले सोचा था। यह नया कार्य कहीं अधिक शांति-दायक, सुरुचिपूर्ण और आनन्दप्रद था। वे ही चीजें, जिनसे पहले मैं भय-भीत होता था, आकर्षक बन गईं।

इसलिए मैं सोचता हूं कि जो मनुष्य ईमानदारी से अपने से यह प्रश्न करता है कि मैं क्या करूं और उसका उत्तर देने में स्वयं से झूठ नहीं बोलता बल्कि बुद्धि द्वारा निर्देशित मार्ग को ग्रहण करता है, वह इस प्रश्न का उत्तर दे चुकता है। यदि वह अपने से केवल झूठभर न बोले तो उसे मालूम हो जायगा कि उसे क्या करना चाहिए, कहां जाना चाहिए और किस प्रकार कार्य करना चाहिए। एकमात्र जो वस्तु उसे अपना मार्ग खोज निकालने में बाधक हो सकती है, वह है अपना और अपनी स्थिति का झूठा तथा बहुत ऊंचा अनुमान लगाना। यही बात मेरे साथ थी और इसीलिए इस प्रश्न का कि हम क्या करें मुझे पहले मेरे उत्तर से ही उद्भूत होनेवाला एक दूसरा उत्तर समझ में आया—वह यह कि सच्चे अर्थ में पश्चात्ताप किया जाय अर्थात् अपनी स्थिति और कार्य का हमने जो मूल्यांकन कर रखा है उसे पूरी तरह से बदल दिया जाय। अपनी स्थिति को उपयोगी और महत्त्वपूर्ण समझने के बजाय हमें उसकी हानि

और तुच्छता स्वीकार करनी चाहिए, अपनी शिक्षा पर अहंकार करने के बजाय हमें अपने अज्ञान को स्वीकार करना चाहिए; अपनी दया और नैतिकता पर गर्व करने के बजाय हमें अपनी अनैतिकता और निर्दयता को स्वीकार करना चाहिए और अपने महत्व के बजाय अपनी नगण्यता को स्वीकार करना चाहिए।

मैं कहता हूं कि अपने से झूठ न बोलने के अलावा मुझे पश्चात्ताप भी करना पड़ा, क्योंकि यद्यपि एक का उद्भव दूसरे से होता है तथापि अपनी उच्चता की झूठी छाप मेरे मन पर इतनी गहरी बैठ गई थी कि सच्चे हृदय से पश्चात्ताप किये बिना और अपने झूठे अहंभाव को दूर किये बिना मैं अपने द्वारा बोले जाने पर झूठ का अधिकांश नहीं देख पाया। पश्चात्ताप करने के बाद ही, अर्थात् यह समझना बन्द करने पर कि मैं एक विशिष्ट व्यक्ति हूं और अपनेको दूसरों-जैसा समझने पर ही मैं अपने जीवन-मार्ग को साफ-साफ देख सका।

उससे पहले मैं 'क्या करें' प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका था, क्योंकि मैंने इस प्रश्न को अपने सामने बहुत ही गलत ढंग से रखा था। पश्चात्ताप करने से पहले मैंने प्रश्न पर इस दृष्टिकोण से विचार किया था—मैंने जो शिक्षा प्राप्त की है और मुझमें जो प्रतिभा है उसको देखते हुए मुझे अपने जीवन में क्या कार्य करना चाहिए ? अपनी इस शिक्षा और प्रतिभा द्वारा मैंने किसानों से जो कुछ लिया है और अब भी ले रहा हूँ उसका मैं किस प्रकार बदला चुका सकता हूं ?—प्रश्न को इस रूप में रखना गलत था, क्योंकि इसमें यह झूठी भावना निहित थी कि मैं अन्य व्यक्तियों के समान न होकर एक विशिष्ट व्यक्ति हूं और इसलिए मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं अपने चालीस वर्षों के अभ्यास से प्राप्त प्रतिभा और शिक्षा द्वारा जनता की सेवा करूं। मैंने अपने से प्रश्न तो किया, किंतु अपनी रुचि के अनुसार अपने कार्य का पहले से ही निश्चय करके मैंने इस प्रश्न का अग्रिम उत्तर भी दे दिया। वास्तव में मैंने अपने से पूछा, "मेरे-जैसा विलक्षण लेखक, जिसने इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो इतने गुणों से सम्पन्न है, वह अपने इन गुणों और इस ज्ञान का मानव-जाति की सेवा में किस प्रकार उपयोग करे ?" यह प्रश्न मुझे अपने सामने

उसी प्रकार उपस्थित करना चाहिए था जिस प्रकार समस्त धर्म-ग्रन्थों में पारंगत और विज्ञान की सारी जटिलताओं का ज्ञान रखनेवाले एक शिक्षित यहूदी धर्माचार्य के सामने उपस्थित होता है। यहूदी धर्माधिकारी और मेरे दोनों के लिए यह प्रश्न इस प्रकार होना चाहिए था—"मैं जो अपनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के कारण अध्ययन के सर्वोत्तम वर्षों में श्रम करना सीखने के बजाय फ्रांसीसी भाषा, पियानो, व्याकरण, भूगोल, न्यायशास्त्र कविता, कहानियां, उपन्यास, दार्शनिक सिद्धान्त और सैनिक विद्या सीखता रहा—मैं जो अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष आत्मा को भ्रष्ट करनेवाले व्यर्थ के कार्यों में बिताता रहा—इन बीती हुई दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के बावजूद ऐसा क्या करूं जिससे मैं उन लोगों का बदला चुका सकूं जो अबतक मुझे भोजन और वस्त्र प्रदान करते रहे हैं और जो अब भी मुझे भोजन और वस्त्र दे रहे हैं ?" यदि यह प्रश्न मेरे सामने उस रूप में आया होता जिस रूप में मेरे पश्चाताप करने के बाद आया—अर्थात् इस रूप में कि मुझ-जैसे सिर-फिरे आदमी को क्या करना चाहिए—तो उसका उत्तर सरल और इस प्रकार होता—सबसे पहले ईमानदारी के साथ अपना पेट पालने की कोशिश करो अर्थात् दूसरों पर आश्रित रहना छोड़ दो और जिस समय यह सीख रहे हो तथा सीख चुको उस समय अपने हाथ, पैर, दिल-दिमाग और उन सारी शक्तियों से—जो तुम्हारे पास हैं और जिनसे लोग लाभ उठाना चाहते हैं—दूसरों की सेवा करने के प्रत्येक अवसर को काम में लाओ।

और इसलिए मैं कहता हूं कि हमारे वर्ग के व्यक्तियों के लिए स्वयं से और दूसरों से झूठ न बोलने के अतिरिक्त पश्चात्ताप करना और घमंड को दूर करना भी आवश्यक है—शिक्षा का घमंड, संस्कृति का घमंड और गुणों का घमंड। हमारे लिए यह भी स्वीकार करना आवश्यक है कि हम दूसरों के हितैषी और उनसे बड़े-चढ़े नहीं हैं और न ही अपनी उपयोगी सम्पत्ति में दूसरों को भी भागीदार बनाने के लिए उत्सुक हैं। इतना ही नहीं, हमें यह भी मानना जरूरी है कि हम सब तरह से अपराधी, बिगड़े हुए और बिलकुल निकम्मे आदमी हैं। हमें परोपकारी बनने की कामना न करके स्वयं अपना सुधार करने और दूसरों के प्रति अपराध और अन्याय

बन्द करने की आकांक्षा रखनी चाहिए।

कितने ही नेक नवयुवक, जिन्हें मेरे लेखों के नकारात्मक भाग से सहानुभूति है, मुझसे प्रायः पूछते है—"तो फिर मैं क्या करूं ? मुझे करना क्या चाहिए ? मैंने विश्वविद्यालय आदि से उपाधि प्राप्त की है। मैं अपने को उपयोगी बनाने के लिए क्या करूं ?"

ये नवयुवक ऐसा पूछते तो हैं, लेकिन मन-ही-मन में उन्होंने पहले से ही यह निश्चय कर लिया है कि उन्हें जो शिक्षा मिली है वह उनके लिए अत्यंत लाभदायक है और बस उसी लाभ के द्वारा वे जनता की सेवा करना चाहते हैं। यही कारण है कि वे कभी अपनी कथित शिक्षा की जांच ईमानदारी के साथ और आलोचनात्मक भाव से नहीं करते और न स्वयं से यह पूछते कि वह अच्छी है या बुरी। यदि वे ऐसा करें तो वे अनिवार्यतः अपनी शिक्षा का विरोध करने लगेंगे और फिर से शिक्षा प्रारम्भ करने के लिए बाध्य हो जायंगे। ठीक इसी बात की आवश्यकता भी है। इस प्रश्न का कि 'हम क्या करें' वे बिलकुल भी निर्णय नहीं कर पाते, क्योंकि उस प्रश्न को वे उसके सच्चे प्रकाश में देख ही नहीं पाते।

प्रश्न इस प्रकार रखा जाना चाहिए—"मेरे-जैसा असहाय और नाकारा आदमी, जिसने दुर्भाग्यवश अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष आत्मा और शरीर के लिए हानिकारक वैज्ञानिक शास्त्रों के अध्ययन में लगा दिए हैं, किस प्रकार इस भूल का सुधार करे और मनुष्य की सच्ची सेवा करना सीखे ?" किंतु यह प्रश्न उनके सामने आता इस रूप में है—"मैंने जो इतना प्रशंसनीय ज्ञान प्राप्त किया है, उसके द्वारा मैं किस प्रकार समाज के लिए उपयोगी बन सकता हूं ?" यही कारण है कि जबतक मनुष्य अपनेको धोखा देना बन्द नहीं कर देता और पश्चात्ताप नहीं करता तबतक वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता कि उसे क्या करना चाहिए। पश्चात्ताप कोई भयावनी चीज नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे सत्य भयावना नहीं है, बल्कि वह उसीके समान सुखदायक और फलप्रद है। हमें केवल सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार करने और पूरा-पूरा पश्चात्ताप करने की आवश्यकता है जिससे हम यह समझ सकें कि किसीको न विशेष अधिकार और सुविधाएं प्राप्त हैं और न वह उन्हें प्राप्त कर सकता; उसके सामने

तो केवल कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का एक अनंत सागर लहराता रहता है; मनुष्य का पहला तथा निर्विवाद कर्त्तव्य यह है कि वह अपने और दूसरों के जीवन का भार वहन करने के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष में भाग ले।

और मनुष्य के कर्त्तव्य की यह स्वीकारोक्ति ही 'क्या करें' प्रश्न के तीसरे उत्तर का सार है।

मैंने अपने से झूठ न बोलने का प्रयत्न किया। मैंने अपने मन से अपनी शिक्षा और योग्यता के झूठे अहंकार को निकाल फेंकने और पश्चात्ताप करने का प्रयत्न किया। किंतु 'क्या करें?' प्रश्न को सुलझाते समय एक नई कठिनाई आ खड़ी हुई। काम इतने थे कि इस बात का संकेत मिलना आवश्यक था कि इनमें से कौन-सा कार्य विशेष रूप से किया जाय। इस प्रश्न का उत्तर उस बुराई के लिए सच्ची तरह पश्चात्ताप करने में मिला जिसमें मैं रह रहा था। "क्या करें ? आखिर करें क्या ?"——प्रत्येक मनुष्य यही पूछता है और मैं भी उस समय तक यही प्रश्न पूछता रहा जबतक कि अपने व्यवसाय की ऊंची धारणा से प्रभावित होने के कारण मैंने यह नहीं देख लिया कि मेरा पहला और निर्विवाद कार्य स्वयं अपने लिए भोजन, वस्त्र, गरमाई और निवास-स्थान प्राप्त करना है और इसे करते हुए दूसरों की सेवा करना है, क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ होने से अबतक मनुष्य का यही पहला और अनिवार्य कर्त्तव्य रहा है।

मनुष्य अकेले इसी कार्य में जुटा रहकर पूर्ण शारीरिक और आध्यात्मिक संतुष्टि प्राप्त कर सकता है। अपनी और अपने प्रियजनों की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करने से मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति होती है और उसका दूसरों के लिए यही करना उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है।

मनुष्य के दूसरे सब कार्य तभी औचित्यपूर्ण हो सकते हैं जब उसकी यह प्राथमिक आवश्यकता पूर्ण हो जाय।

मनुष्य अपने लिए कोई भी व्यवसाय क्यों न चुने——चाहे वह शासक बने, चाहे अपने देशवासियों की रक्षा का काम करे, चाहे धर्म की सेवा

करे, चाहे शिक्षक बने, चाहे जीवन के आनन्द में वृद्धि करने की युक्ति ढूंढे, चाहे प्रकृति के नियमों की खोज करे, चाहे शाश्वत सत्य को कलाकृतियों में अंकित करे—उसका सर्वप्रथम और असंदिग्ध कर्त्तव्य सदा यही होगा कि वह अपना तथा दूसरों का पोषण करने के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष में भाग ले। यह कर्त्तव्य हमेशा मनुष्य का पहला कर्त्तव्य रहेगा, क्योंकि उसको सबसे अधिक आवश्यकता जीवन की है। इसलिए मनुष्य की रक्षा करने, उसे शिक्षित बनाने और उसके जीवन को अधिक मधुर बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्वयं जीवन की रक्षा की जाय। हमारा उस संघर्ष में भाग न लेना और दूसरे व्यक्तियों के परिश्रम का उपभोग करना निस्सन्देह मनुष्य के जीवन को नष्ट कर देता है। इसलिए एक हाथ से मनुष्य के जीवन को नष्ट करना और दूसरे हाथ से उसको सेवा का प्रयत्न करना दुस्साहस और पागलपन नहीं तो और क्या है ?

जीविका के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष करना सदा मनुष्य का सबसे पहला और निश्चित कर्त्तव्य रहेगा, क्योंकि यह जीवन का नियम है और इसकी अवज्ञा करने पर मनुष्य को अपने भौतिक अथवा बौद्धिक जीवन के अनिवार्य विनाश के रूप में दण्ड मिलता है। यदि कोई व्यक्ति एकान्त में रहकर प्रकृति के साथ संघर्ष से बचने की चेष्टा करता है तो उसे तत्काल दंड मिलता है अर्थात् उसका शरीर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी समाज में रहता हुआ मनुष्य स्वयं को कर्त्तव्य से मुक्त रखकर दूसरों से अपना काम करवाता है और उनके जीवन को क्षति पहुँचाता है तो उसे तुरंत ही उसका दंड मिलता है; उसका जीवन विवेकशून्य और अनौचित्यपूर्ण हो जाता है।

अपने विगत जीवन से मैं इतना बुद्धि-भ्रष्ट हो गया था और हमारे समाज में विधाता अथवा प्रकृति के प्राथमिक और निर्विवाद नियम पर इतना पर्दा पड़ा हुआ है कि मुझे उस नियम का पालन करना बड़ा विचित्र—यहाँतक कि भयंकर और लज्जानक—लगा, मानों एक शाश्वत और निर्विवाद नियम की अवज्ञा नहीं बल्कि उसका पालन विचित्र, भयंकर और लज्जाजनक हो।

पहले-पहल मुझे ऐसा लगा कि मोटे शारीरिक कार्य के लिए किसी विशेष प्रबन्ध अथवा संगठन की आवश्यकता है—एक-से विचारवाले व्यक्ति होने चाहिए, मेरे परिवारवालों की अनुमति होनी चाहिए या मुझे देहात में जाकर रहना चाहिए। उस समय शारीरिक श्रम करने का प्रयत्न करने में मुझे कुछ लज्जा अनुभव होती थी, क्योंकि हमारे वर्ग के लोगों के लिए यह कुछ असाधारण-सी बात थी और मेरी समझ में नहीं आता था कि मैं उसे किस प्रकार प्रारम्भ करूं।

किन्तु मुझे इतना समझनेभर की आवश्यकता थी कि किसी विशेष योजना अथवा प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि जीवन की जिस झूठी स्थिति में मैं रहा था उससे स्वाभाविक स्थिति में लौटनेमात्र की आवश्यकता थी—केवल उस झूठ का परिमार्जन करने की आवश्यकता थी जिसमें मैं रह रहा था। अपनी सारी कठिनाइयों को दूर करने के लिए बस इतना ही स्वीकार करना था। इस बात की बिलकुल भी आवश्यकता नहीं थी कि कोई प्रबन्ध किया जाय, अपनेको उसके अनुकूल बनाया जाय अथवा दूसरों की स्वीकृति की प्रतीक्षा की जाय, क्योंकि मैं चाहे किसी भी अवस्था में रहूं, ऐसे व्यक्ति सदा मौजूद थे जो न केवल अपने लिए वरन् मेरे लिए भी भोजन, वस्त्र और गरमी का प्रबन्ध करते थे। यदि मेरे पास पर्याप्त समय और बल होता तो मैं भी ऐसा अपने लिए और उनके लिए सर्वत्र किसी भी अवस्था में कर सकता था।

जिन कामों का मुझे अभ्यास नहीं था और जिनसे दूसरों को आश्चर्य-सा लगता था उनके लिए मुझे झूठी लज्जा भी अनुभव करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उन्हें न करने में मैं स्वयं पहले से ही झूठी नहीं लेकिन सच्ची शर्म महसूस कर रहा था। और जब मुझे इसकी चेतना हुई और मैं इसके व्यावहारिक निष्कर्षों पर पहुँचा तो मुझे इसका पूरा-पूरा पुरस्कार भी मिल गया। मैं बुद्धि के निष्कर्षों से भयभीत नहीं हुआ और ये निष्कर्ष मुझे जिस दिशा में ले गए मैं उसी दिशा में गया।

इस व्यावहारिक निष्कर्ष पर पहुंचने पर मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सारे प्रश्न जो मुझे इतने कठिन और उलझे हुए दिखाई देते थे कितनी सरलता और आराम से स्वयमेव सुलझ गए।

"मैं क्या करूं' ?—इस प्रश्न के उत्तर में मुझे जो उत्तर सबसे अधिक असंदिग्ध प्रतीत हुआ वह यह था—"मुझे जिन कामों की सबसे अधिक आवश्यकता है उन्हें मैं स्वयं करूं—अपने कमरे की सफाई करूं, अपने चूल्हे को स्वयं जलाऊं, अपना पानी स्वयं लाऊं, अपने कपड़ों की देखभाल आप करूं—अर्थात् वे सब काम करूं जिन्हें मैं स्वयं कर सकता हूँ।" मैं समझता था कि मेरा ऐसा करना नौकरों को अजीब-सा लगेगा, लेकिन यह अजीबपन केवल एक सप्ताह तक ही रहा और बाद में तो ऐसा लगने लगा कि यदि मैं अपनी पुरानी आदतें फिर से ग्रहण कर लूं तो वे आदतें मुझे अजीब-सी लगने लगेंगी।

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या इस शारीरिक श्रम को व्यवस्थित करने की आवश्यकता है और क्या इसके लिए ग्रामवासियों का कोई संगठन बनाना चाहिए, मैंने अनुभव किया कि यह सब अनावश्यक है क्योंकि यदि इस श्रम का उद्देश्य व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है न कि बेकारी में योग देना या दूसरे व्यक्तियों की मेहनत का लाभ उठाना (जैसा कि धन कमानेवाले व्यक्ति करते हैं) तो वह उद्देश्य स्वभावतः मनुष्य को नगर से देहात की ओर खींच ले जायगा जहाँ इस प्रकार का श्रम सबसे अधिक लाभदायक और सबसे अधिक सुखकारी होता है।

श्रमिकों की किसी जाति विशेष का संगठन भी अनावश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं परिश्रम करता है वह स्वभावतः श्रमजीवियों के विद्यमान वर्ग में सम्मिलित हो जाता है।

मेरे सामने यह भी प्रश्न था—क्या यह कार्य मेरा सारा समय नहीं ले लेगा और क्या इसके कारण मेरे उस मानसिक कार्य में रुकावट नहीं पड़ेगी जो मुझे पसन्द है, जिसका मैं अभ्यस्त हूं और जिसे मैं कभी-कभी उपयोगी भी मानता हूं ? इस प्रश्न के उत्तर में मुझे एक अत्यन्त अप्रत्याशित उत्तर मिला। जितना अधिक मैंने शारीरिक श्रम किया उतनी अधिक मेरे मानसिक श्रम की शक्ति भी बढ़ गई और मुझे व्यर्थ की बातों से मुक्ति मिल गई।

परिणाम यह निकला कि शारीरिक श्रम में आठ घंटे लगाने के बाद भी, अर्थात् आलस्य दूर करने के कठोर प्रयत्न में पहले जो पूरा दिन योंही

बीत जाता था उसके आधे भाग तक शारीरिक श्रम करने के बाद भी मेरे पास आठ घंटे शेष बच जाते थे, जिनमें से मानसिक कार्य के लिए मुझे केवल पांच घंटों की आवश्यकता थी।

यह भी स्पष्ट दिखाई दिया कि यद्यपि मैं एक अत्यन्त उर्वर लेखक था और मैंने चालीस वर्षों तक लिखने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं किया था और लगभग ५,००० पृष्ठ लिखे थे, तथापि यदि मैं इन समस्त चालीस वर्षों में एक किसान का साधारण कार्य करता रहा होता, तो जाड़े की संध्याओं और बेकार दिनों को न गिनते हुए भी प्रतिदिन केवल पाँच घंटे अध्ययन-मनन कर और केवल अवकाश के दिनों के ही दो पृष्ठ प्रतिदिन की गति से लिखकर मैंने चौदह वर्षों में ये पाँच हजार पृष्ठ लिख लिये होते। स्मरण रहे कि कभी-कभी मैंने एक दिन में सोलह पृष्ठ भी लिखे हैं।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य था—गणित का एक बहुत ही सरल हिसाब—जिसे एक सात वर्ष का बच्चा भी हल कर सकता था, लेकिन जिसे मैंने पहले कभी हल करने की चेष्टा नहीं की थी। एक दिन में चौबीस घंटे होते हैं। आठ घंटे हम सोते हैं, इसलिए सोलह बचते हैं। यदि कोई बुद्धिजीवी अपने काम में पाँच घंटे प्रतिदिन भी लगाए तो वह बहुत कार्य कर लेगा। ग्यारह घंटे तो फ़िर भी शेष रह गए। आखिर इनका क्या होता है ?

मैंने पाया कि शारीरिक परिश्रम ने मानसिक कार्य को असम्भव बनाने के बजाय उसे सुधारा और सहायता पहुंचाई।

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या यह शारीरिक कार्य मुझे उन अनेक निर्दोष आनन्दों से वंचित नहीं कर देगा, जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक हैं (जैसे, विभिन्न कलाओं का आनन्द लेना, ज्ञान प्राप्त करना, अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आना और जीवन के अन्य साधारण सुखों को भोगना), मुझे विपरीत बात ही सही मालूम दी। मैंने जितना अधिक कार्य किया और उसमें किसानों के मोटे काम से जितनी अधिक समता आई, उतना ही अधिक आनन्द और ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ, उतना ही अधिक घनिष्ठ और मधुर दूसरों से मेरा सम्पर्क रहा और उतना ही

अधिक मुझे जीवन का सुख मिला ।

रहा एक और प्रश्न, जो मैंने अक्सर उन लोगों से सुना है जो पूरे ईमानदार नहीं होते—परिश्रम के जिस सागर का मैं उपभोग करता हूँ उसमें मेरा श्रम तो एक नन्हीं बूंद के समान है, इसलिए उससे क्या लाभ होगा ?

इसका भी मुझे एक बहुत ही आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित उत्तर मिला । मैंने अनुभव किया कि अपने जीवन में मुझे शारीरिक श्रम का अभ्यस्तभर होने की आवश्यकता है, फिर तो मेरे अन्दर शारीरिक बेकारी के फलस्वरूप जो बुरी और खर्चीली आदतें तथा आवश्यकताएं पैदा हो गई हैं वे आप-से-आप बिना मेरी ओर से लेशमात्र प्रयत्न किये ही समाप्त हो जायंगी । रात को दिन और दिन को रात बनाने की बात तो दूर रही और उस प्रकार के बिस्तर, वस्त्र तथा परम्परागत सफाई की भी बात दूर रही जो शारीरिक श्रम करते समय बिलकुल असम्भव और कष्टकर होते हैं, मेरी भोजन-सम्बन्धी आवश्यकताएं तक पूरी तरह से बदल गईं । पहले मुझे मिठाइयां और तरह-तरह के अमीराना तथा मसालेदार भोजन अच्छे लगते थे, किन्तु अब उनकी अपेक्षा सादा-से-सादा भोजन—जैसे, गोभी का रसा, गेहूँ का दलिया, काली रोटी और चाय—सबसे मधुर लगने लगा ।

जिन सीधे-सादे किसानों के सम्पर्क में मैं आया उनके साधारण जीवन की तो बात ही अलग है क्योंकि उन्हें तो थोड़े में संतुष्ट रहने की आदत थी ही, मेरी अपनी मांगें मेरे परिश्रमी जीवन के अनुरूप अदृश्य रूप से बदलने लगीं और जैसे-जैसे मुझमें परिश्रम की आदत पड़ती और बढ़ती गई मेरा परिश्रम भी, जो पहले सागर में एक बूंद के समान था, धीरे-धीरे महत्ता धारण करने लगा । जिस अनुपात से मेरा परिश्रम अधिकाधिक उत्पादनशील होता गया, उसी अनुपात से दूसरों के परिश्रम से लाभ उठाने की आवश्यकता कम होती गई और मेरा जीवन अनायास ही बिना किसी प्रयत्न अथवा कष्ट के इतना सरल हो गया कि उसकी मैं परिश्रम के नियमों का पालन किये बिना स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था । मैंने अनुभव किया कि मेरे जीवन की सबसे खर्चीली

जरूरतें, झूठी शान और मनोरंजन की आकांक्षाएं, सबकुछ मेरे आलस्य-पूर्ण जीवन का ही प्रत्यक्ष प्रमाण थीं।

जब मैं स्वयं शारीरिक श्रम करने लगा तो झूठी शान और मनो-रंजन के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई, क्योंकि काम में मेरा समय सुखपूर्वक कट जाता था और थकान आने पर आराम से चाय पीते हुए किसी पुस्तक को पढ़ना अथवा किसी पड़ोसी से बातचीत करना क्लांति मिटाने के अन्य साधनों—नाटकों, ताश, संगीत अथवा सभा—से, जिनमें बड़ा खर्च होता था, अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगा।

एक सवाल यह था कि कहीं इस शारीरिक परिश्रम से, जिसका मुझे अभ्यास नहीं था, मेरे उस स्वास्थ्य को हानि तो नहीं पहुँचेगी जो दूसरे व्यक्तियों के प्रति मेरे उपयोगी होने के लिए आवश्यक है ? मैंने देखा कि प्रमुख चिकित्सकों के इस दृढ़ मत के बावजूद कि कठोर शारी-रिक श्रम—विशेषकर मेरी-जैसी आयु में—स्वास्थ्य को हानि पहुँचा सकता है और मेरे लिए हल्का व्यायाम, मालिश आदि ही ठीक रहेगा, मैंने जितना ही अधिक परिश्रम किया उतना ही अधिक अपनेको स्वस्थ, प्रसन्नचित्त और दया से परिपूर्ण अनुभव किया। अतः मुझे इस बात में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रह गया कि मनोरंजन की सभी आधुनिक युक्तियां—जैसे समाचारपत्र, नाटक, संगीत, भ्रमण, नृत्य, ताश, पत्रि-काएं और उपन्यास—मनुष्य के मानसिक जीवन को, दूसरों के लिए मेहनत की स्वाभाविक अवस्था पैदा किये बिना, कायम रखने के साधन-मात्र हैं। यही बात खाने-पीने, रहने, प्रकाश, गरमी, वस्त्र, दवाओं, सोडा-लेमन, मालिश, व्यायाम, विद्युत-चिकित्सा आदि के सम्बन्ध में बताई जानेवाली डाक्टरी युक्तियों के बारे में है। इन सब बातों से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ये सब छलपूर्ण युक्तियां और कुछ नहीं बल्कि श्रम का अभ्यास न रह जाने पर मनुष्य को अपने शारीरिक जीवन को वहन करने में समर्थ बनाने के साधन-मात्र हैं। यह तो कुछ ऐसी ही बात है जैसे किसी पूरी तरह से बन्द कमरे में पौधों को वायु प्रदान करने के लिए रासायनिक प्रक्रिया द्वारा पानी का भाप बनाया जाय, जबकि वास्तव में यह काम केवल खिड़की खोल देने से ही हो सकता है। दूसरे

शब्दों में आवश्यकता केवल इस बात की है कि भोजन करने से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसे शारीरिक श्रम द्वारा उपयोग में लाया जाय—— ऐसा करना केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि पशुओं के लिए भी स्वाभाविक है।

हमारे वर्ग के लिए चिकित्सा और स्वास्थ्य की ये उलझनें वैसी ही हैं जैसे कोई मिस्त्री पहले तो किसी बायलर को गरम करे और उसके समस्त द्वारों को कसकर बन्द कर दे और फिर उसे फटने न देने के लिए उपाय खोजता फिरे।

और स्पष्ट हो जाने पर मुझे यह सब बड़ा हास्यास्पद प्रतीत हुआ। अनेकानेक सन्देह, खोजों और विचारों के बाद मैं इस असाधारण सत्य पर पहुंचा हूं कि मनुष्य को आंखें देखने के लिए, कान सुनने के लिए, टांगें चलने के लिए और हाथ तथा पीठ काम करने के लिए मिले हैं और यदि वह इसका स्वाभाविक उपयोग नहीं करेगा तो इससे उसे हानि ही होगी।

मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि हम-जैसे ऊंचे वर्ग के व्यक्तियों के साथ वैसा ही होता है जैसा मेरे एक परिचित के घोड़ों के साथ हुआ था। उनके सईस को घोड़ों की रत्तीभर भी परवाह नहीं थी और वह घोड़ों की बावत कुछ समझता भी नहीं था। एक बार जब उसके मालिक ने उसे सर्वोत्तम घोड़ों को बाजार ले जाने का आदेश दिया तो उसने उनमें से कुछ को चुनकर दूकानों में ले जाकर खड़ा कर दिया। उसने उन्हें जो खिलाए और पानी पिलाया और उन बहुमूल्य घोड़ों की विशेष रूप से सावधानी रखने के उद्देश्य से उसने उनपर किसीको सवारी नहीं करने दी और न ही उन्हें कहीं बाहर ले जाने अथवा अभ्यास करने की अनुमति दी। फल यह हुआ कि सब घोड़ों की टांगें खराब हो गईं और वे बेकार हो गए।

यही बात हमारे साथ हुई है। अन्तर केवल इतना है कि घोड़ों को किसी प्रकार का धोखा नहीं दिया जा सकता और उन्हें भागने न देने के लिए बाँधकर रखना पड़ता है। हम भी लोभ के पाश में फंसाए और बांधे जाकर इसी प्रकार की अस्वाभाविक और विनाशकारी अवस्थाओं

में रखे जाते हैं। हमने अपने लिए एक ऐसे जीवन की व्यवस्था की है जो मनुष्य के नैतिक और शारीरिक दोनों प्रकार के स्वभाव के विपरीत है और हम अपनी सारी मानसिक शक्ति लगाकर मनुष्यों को यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि जीवन ऐसा ही होना चाहिए। जिसे हम संस्कृति, विज्ञान, कला तथा जीवन की सुख-सुविधाओं का परिष्कार कहते हैं, वह मनुष्य की नैतिक और स्वाभाविक मांगों को धोखा देने का प्रयत्न है; हम जिसे स्वास्थ्य और चिकित्सा कहते हैं वह मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक शारीरिक मांगों को छलने का प्रयत्न है। किन्तु इन प्रवंचनाओं की भी सीमा है और हम प्रायः उस सीमा तक पहुंच गए हैं।

शॉपेनहावर और हार्टमैन की प्रचलित और अत्यन्त सुरुचिपूर्ण विचारधारा तो यह है कि यदि मनुष्य का सच्चा जीवन ऐसा ही है जैसा कि वह आजकल दिखाई देता है, तब तो इससे अच्छा यह है कि हम बिलकुल जियें ही नहीं। ऊंचे वर्गों में आत्मघातों की बढ़ती हुई संख्या भी यही कहती है कि यदि यही जीवन है तो इससे तो न जीना अच्छा। डाक्टरी ज्ञान, विज्ञान और नारी की प्रजनन-शक्ति को नष्ट करने के आविष्कार भी यही कहते हैं—"यदि यही जीवन है, तो अच्छा है कि आनेवाली संतति जन्म ही न ले।"

बाइबिल में कहा गया है कि परिश्रम से थक जाने पर रोटी खाना और दुःख में बच्चे पैदा करना मानवीय नियम है।

बोंदारेफ़ नामक एक किसान ने, जिसने इस सम्बन्ध में एक लेख लिखा था, मेरे सामने इस कहावत की बुद्धिमत्ता को स्पष्ट कर दिया। [मेरे जीवन में दो रूसी विचारकों ने मुझपर बड़ा गहरा नैतिक प्रभाव डाला है, उन्होंने मेरे विचारों को परिपुष्ट किया है और जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। ये दोनों व्यक्ति न कवि थे, न विद्वान् और न शिक्षक। वे दो अद्भुत व्यक्ति थे, जो अब भी जीवित हैं। दोनों किसान हैं एक सुताएफ़ और दूसरा बोंदारेफ़।]

मोलियर के एक नाटक के एक पात्र ने चिकित्सा-सम्बन्धी विषयों में भूल करते हुए एक स्थान पर कहा है कि यकृति बाईं ओर है। ···इसी प्रकार कहा जाता है कि मनुष्य को अपने भोजन के लिए कार्य

करना आवश्यक नहीं है, मशीनें ही सब काम करेंगी। कहा तो यहांतक जाता है कि महिलाओं का भी बच्चे पैदा करने की आवश्यकता नहीं है, विज्ञान हमें बहुत-से उपाय सिखा देगा। इस प्रकार की बातें सोचनेवाले व्यक्तियों की संख्या भी बहुत अधिक है।

क्रापीवेंस्की जिले[1] में एक फटाहाल किसान है, जो इधर-उधर घूमता रहता है। युद्ध के दिनों में एक सैनिक अधिकारी ने उसे अन्न की खरीद के काम के लिए भरती किया। अधिकारी के निकट सम्पर्क में रहने के कारण ऐसा मालूम होता है कि उस किसान के दिमाग में यह फितूर बैठ गया कि उच्च वर्ग के लोगों की तरह उसे भी काम करने की आवश्यकता नहीं है, उसे तो अपने जीवन-निर्वाह के लिए सम्राट से वेतन मिलता ही रहेगा। अब वह अपनेको 'सब प्रकार की सैनिक सामग्री का ठेकेदार, महामान्य सैनिक राजकुमार ब्लोख़िन' कहता है। वह कहता है कि उसने सैनिक सेवा की सारी अवस्था पार कर ली हैं और चूंकि उसकी सैनिक सेवाएं पूर्ण हो चुकी हैं इसलिए अब उसे सम्राट से 'नकदी, वस्त्र, वर्दी, घोड़े, गाड़ी, चाय, मोटर, नौकर और सब वस्तुएं प्राप्त होनी चाहिए। उससे जब पूछा जाता है कि क्या कुछ काम करोगे तो वह इस प्रश्न के उत्तर में सदा गर्व के साथ कहता है—"बहुत-बहुत धन्यवाद ! यह सब काम किसान कर लेंगे।"

यदि कोई उससे यह कहे कि सम्भव है कि किसान भी काम करना न चाहें तो वह उत्तर देता है—"किसानों के लिए परिश्रम करने में कोई कठिनाई नहीं होती। अब किसानों की सुविधा के लिए मशीनें ईजाद कर दी गई हैं। उनके लिए मेहनत करना अधिक कष्टदायक नहीं है।" जब कोई उससे पूछता है कि तुम किसलिए हो, तो वह उत्तर देता है—"समय काटने के लिए।"

मैं इस आदमी को सदा एक दर्पण के रूप में देखता हूं। उसमें मैं स्वयं का और अपने समस्त वर्ग का प्रतिबिम्ब देखता हूं।

---

[1] यह वही जिला है जिसमें टॉलसटॉय का निवास-स्थान याशनाया पालियाना स्थित है।

अपने जीवन का अन्तिम ध्येय यह बनाना कि हम किसी तरह ऐसे पद पर पहुंच जायं जिससे अपना समय सुखपूर्वक काट सकें या धन कमाने को अपना लक्ष्य मानना और यह सोचना कि सारा श्रम तो किसान को करना चाहिए क्योंकि मशीनों की ईजाद से अब उसके लिए श्रम करना कष्टकर नहीं रह गया है—ये सब बातें हमारे वर्ग की विवेकशून्य विचार-धारा का परिचय देती हैं।

जब हम पूछते हैं 'तब हम क्या करें ?' तो वास्तव में हम कुछ पूछते नहीं बल्कि केवल यह स्वीकार करते हैं कि हम कुछ करना नहीं चाहते, यद्यपि हमारी यह स्वीकारोक्ति उतनी स्पष्ट नहीं जितनी उस 'महामान्य सैनिक राजकुमार ब्लोखिन' की है, जिसकी बुद्धि पूरी तरह से भ्रष्ट हो चुकी है।

जो समझ से काम लेता है वह ऐसे प्रश्न नहीं कर सकता, क्योंकि एक ओर वह जिस वस्तु का प्रयोग करता है, वह बनाई गई है और मनुष्य के हाथों से बनाई गई है और दूसरी ओर सचाई यह है कि एक स्वस्थ मनुष्य जागने और कुछ भोजन करने के तत्काल बाद ही अपने हाथ-पैर और दिमाग से काम करने की आवश्यकता अनुभव करता है। जो आदमी काम ढूंढना और करना चाहता है उसके लिए काम की कमी नहीं, आवश्यकता केवल इतनी है कि वह अपनेको रोके नहीं। केवल वे लोग जो काम करने में शर्म महसूस करते हैं—उस महिला की भांति जो अपने अतिथियों से कहती है कि द्वार खोलने का कष्ट न कीजिए ठहरिए मैं अभी नौकर को बुलाती हूं—केवल वे ही अपने से यह प्रश्न कर सकते हैं—"हम क्या करें ?"

आवश्यकता काम ईजाद करने की नहीं है—आखिर हम वह सारा काम कर भी तो नहीं सकते, जिसकी हमें और दूसरे व्यक्तियों को जरूरत है ! आवश्यकता इस बात की है कि हम जीवन के इस दूषित दृष्टिकोण से छुटकारा पा जायं कि हम अपने सुख के लिए खाते और सोते हैं। साथ-ही-साथ आवश्यकता इस बात की है कि जीवन का वह सरल तथा सच्चा दृष्टिकोण अपनाया जाय जिसे किसान विकसित करते और कायम रखते हैं, अर्थात् यह कि मनुष्य मुख्यतः एक मशीन है जिसे

चलाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और इसलिए काम न करना और केवल खाते जाना लज्जाजनक, कष्टदायक और असम्भव है। खाना और काम न करना एक बड़ी ही भयंकर बात है, जिसकी अग्निकांड से तुलना की जा सकती है। यदि मनुष्य में केवल इतनी चेतना हो तो उसके पास काम की कमी कभी नहीं रहेगी और वह काम न केवल सुखदायक बल्कि उसके शरीर और आत्मा की मांगों को संतुष्ट करनेवाला भी होगा। मेरे सामने इस समस्या का रूप इस प्रकार था—हमारा भोजन हमारे दिन को चार भागों में बांट देता है (१) नाश्ते तक (२) नाश्ते से दोपहर के भोजन तक (३) दोपहर के भोजन से सायंकाल के भोजन तक (४) और सायंकाल। मनुष्य का कार्य भी चार भागों में विभाजित किया जाता है—(१) मांस-पेशियों का कार्य; अर्थात् हाथ, पैर, कंधों और पीठ का कार्य जो गाढ़े पसीने का कार्य होता है (२) उंगलियों और कलाइयों का कार्य अर्थात् शिल्प का कार्य (३) मस्तिष्क और विचार का कार्य और (४) सामाजिक कार्य। हमें जो लाभ मिलते हैं उन्हें भी चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, मोटे शारीरिक श्रम का प्रतिफल—जैसे अन्न, पशु इमारत, कुएं आदि; दूसरे, शिल्प का प्रतिफल—जैसे कपड़े, जूते, बर्तन आदि; तीसरे, मानसिक कार्य के प्रतिफल—जैसे विज्ञान और कला; तथा चौथे, अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क, परिचय आदि। मुझे ऐसा लगा कि सबसे अच्छी बात यह होगी कि दिनचर्या में इस प्रकार उलट-फेर किया जाय कि मनुष्य की चारों क्षमताएं कार्य में लाई जा सकें और हम जिन चारों प्रकार के प्रतिफलों से लाभ उठाते हैं उनका इस प्रकार पुनः-निर्माण किया जाय कि हमारे दिन के चारों भाग चारों प्रकार के कामों में लगे रहें—जैसे, पहले में शरीरिक श्रम, दूसरे में मानसिक श्रम, तीसरे में शिल्प-कार्य और चौथे में साथियों से मिलना-जुलना।

यदि हम अपने कार्यों की इस प्रकार व्यवस्था करलें तब तो बहुत ही अच्छा हो, किंतु यदि ऐसा सम्भव न हो तो सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि हम कार्य के प्रति चेतना का भाव बनाए रखें—अर्थात् समय के प्रत्येक भाग का लाभपूर्वक उपयोग करें।

मुझे ऐसा लगा कि ऐसी व्यवस्था होने पर ही समाज से श्रम का झूठा विभाजन मिट सकेगा और उस उचित विभाजन की स्थापना हो सकेगी जो मनुष्य के आनन्द-भोग में बाधक सिद्ध नहीं होगा।

उदाहरण के लिए मैंने अपनेको जीवनभर मानसिक कार्य में ही लगाए रखा है। मैं सोचता था कि मैंने श्रम का विभाजन कुछ इस प्रकार कर लिया है कि लिखना अर्थात् मानसिक श्रम मेरा विशेष व्यवसाय बन गया है। दूसरे आवश्यक कार्य मैं दूसरों को करने के लिए छोड़ देता था, या यों कहिए कि जबर्दस्ती उनसे करवाता था। यह प्रबन्ध, जो स्पष्ट रूप से मानसिक श्रम के लिए सबसे अधिक लाभकारी था, अन्त में मानसिक श्रम के लिए हानिकारक निकला। वह अन्याययुक्त तो था ही।

जीवनभर मैंने लिखने का ही काम किया और अपने भोजन, निद्रा तथा मनोरंजन की व्यवस्था इसी विशेष कार्य के घंटों के अनुसार की। इसके अतिरिक्त मैंने कुछ नहीं किया।

फल यह हुआ कि मैंने अपने निरीक्षण और ज्ञान का क्षेत्र बहुत संकुचित बना लिया। प्रायः ऐसा होता कि मुझे अध्ययन के लिए कोई विषय ही न मिलता और बहुधा जब मैं व्यक्तियों के जीवन का वर्णन करने बैठता तो मुझे अपने इस अज्ञान का आभास होता और मुझे बहुत-सी ऐसी बातें सीखनी और पूछनी पड़तीं जिनके बारे में प्रत्येक व्यक्ति, जो किसी विशेष कार्य में नहीं लगा हुआ है, जानता है। दूसरे मैंने देखा कि जब कभी मैं लिखने बैठता हूं तो कोई आंतरिक प्रेरणा मुझे ऐसा करने के लिए विवश नहीं करती। इसके अतिरिक्त किसीने भी मुझ से यह मांग नहीं की कि मैं लिखने के लिए लिखूं। अर्थात् किसीको मेरे विचारों की आवश्यकता नहीं थी; लोग तो केवल आर्थिक लाभ के लिए पत्रों में मेरा नाम देना चाहते थे। ऐसे समय में मैं अपने से जो कुछ भी निचोड़ सकता था निचोड़ने का प्रयत्न करता था। कभी मैं कुछ नहीं दे पाता था, कभी केवल निकृष्ट साहित्य ही दे पाता था और असंतुष्ट तथा बुझा-बुझा-सा रहता था। इसलिए दिन और हफ्ते निकल जाते और मैं कुछ न लिख पाता; लिखता भी तो ऐसी चीजें जिनकी किसीको आवश्यकता नहीं थी। मैं केवल खाता, पीता, सोता और अपनेको गरम

रखता। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि मैंने ऐसा स्पष्ट और भद्दा अपराध किया जैसा मजदूर-वर्ग के किसी व्यक्ति ने कदाचित ही कभी किया हो। लेकिन जब मैंने शारीरिक कार्य—साधारण और कलात्मक दोनों—की आवश्यकता अनुभव की तो बात कुछ और ही हो गई; मेरा सारा समय व्यस्त रहने लगा, जो नगण्य होते हुए भी मेरे लिए निश्चित रूप से उपयोगी, सुखदायक और शिक्षाप्रद था। अब मैं अपनेको इस असंदिग्ध रूप से उपयोगी तथा सुखदायक कार्य से तभी विलग करता और लिखने के अपने विशेष कार्य को तभी अपनाता जब मुझे उसकी आन्तरिक आवश्यकता अनुभव होती और जब मैं देखता कि एक लेखक के रूप में मेरे कार्य के लिए प्रत्यक्ष रूप से मांग की गई है। इससे मेरे विशिष्ट कार्य—लेखन—का ओज बढ़ गया और स्वभावतः उसके मूल्य तथा सुखप्रदान करने की शक्ति में भी वृद्धि हुई।

अतः परिणाम यह निकला कि मेरे शारीरिक श्रम में लगे रहने से—जो मेरे लिए भी उतना ही आवश्यक था जितना और लोगों के लिए—मेरे मानसिक कार्य में न केवल बाधा ही नहीं पहुंची बल्कि उसकी उपयोगिता, गुण और मधुरता के लिए वह एक आवश्यक शक्ति सिद्ध हुआ।

पक्षी की बनावट कुछ इस प्रकार की होती है कि उसके लिए उड़ना, चलना, चुगना और विचार करना आवश्यक होता है और जब वह ये सब कार्य करता है तो उसे संतुष्टि और प्रसन्नता होती है। एक शब्द में, तब वह वास्तव में पक्षी बन जाता है। ठीक ऐसी ही बात आदमी के साथ है। जब वह चलता है, फिरता है, वस्तुओं को उठाता है, घसीटता है, अपनी उंगली, आंख, कान, जीभ और दिमाग से काम करता है—तब और केवल तब वह संतोष प्राप्त करता है और वस्तुतः मनुष्य बनता है।

जिस व्यक्ति ने मेहनत करना अपना कर्त्तव्य समझ लिया है वह स्वभावतः अपनी मेहनत का कार्यक्रम कुछ इस प्रकार से बनायगा कि उससे उसकी आंतरिक तथा बाह्य आवश्यकताएं स्वाभाविक रूप से पूरी हो जायं। इस क्रम को वह तबतक नहीं बदलेगा जबतक किसी अन्य विशेष कार्य के लिए उसके अन्तर में एक दुर्दमनीय उत्कंठा न जाग्रत हो

और जबतक दूसरे लोग भी उससे ऐसा कार्य करने की मांग न करें।

श्रम की विशेषता ही यह है कि मनुष्य को अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इतने भिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं कि उससे श्रम बोझिल न रहकर मधुर बन जाता है। परिश्रम को अभिशाप मानने की झूठी धारणा ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य में कार्य से मुक्त रहने की भावना उत्पन्न कर सकती है और जिसके फलस्वरूप अन्य व्यक्तियों को विशिष्ट कार्यों में व्यस्त होने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसीको हम 'श्रम-विभाजन' कहते हैं।

कार्य-व्यवस्था की इस मिथ्या धारणा के हम इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि हमें सचमुच यही उचित प्रतीत होता है कि मोची, मिस्त्री, लेखक अथवा गायक को साधारण मनुष्योचित श्रम से मुक्त रखा जाय।

जहां जबरदस्ती दूसरों के श्रम से लाभ उठाने की प्रेरणा नहीं होती और जहां निठल्लेपन को सुखकर समझने की मिथ्या धारणा नहीं होती वहां कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि वह अपने मनपसन्द कार्य को करने के लिए अपनेको उस शारीरिक श्रम से मुक्त कर ले जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इसका कारण यह है कि विशिष्ट कार्य करना कोई लाभ की बात नहीं है बल्कि उसे न करने में एक ऐसा त्याग है जो मनुष्य को अपने विशेष झुकाव तथा अपने साथियों के प्रति करना पड़ता है।

मान लीजिए कि गांव का एक मोची खेती के अपने परम्परागत और सुखदायक काम को छोड़कर पड़ोसियों के जूतों की मरम्मत करने या बनाने का काम अपना लेता है। वह अपनेको इस अत्यन्त सुखप्रद और उपयोगी कृषि-कार्य से इसीलिए वंचित करता है कि उसे जूता सीना पसन्द है और वह जानता है कि इस कार्य को उसकी-जैसी कुशलता के साथ दूसरा कोई आदमी न कर सकेगा और लोग इस कार्य के लिए उसके प्रति कृतज्ञ होंगे। किंतु उसकी यह इच्छा कभी नहीं हो सकती कि वह जीवनभर और कोई कार्य कर ही न सके और इस प्रकार कार्य के परिवर्त्तन से जो सुख मिलता है उससे वंचित रहे। यही बात गांव के मुखिया, मिस्त्री, लेखक अथवा विद्वान् के साथ भी है। केवल हम-जैसे भ्रष्ट बुद्धि-

वाले यह समझते हैं कि अगर कोई मालिक अपने क्लर्क को दफ्तर से बरखास्त कर देता है और उसे किसान की भांति कार्य करने को वापस भेज देता है या यदि कोई मंत्री पदच्युत और निर्वासित कर दिया जाता है तो ऐसा उसे दंड देने के लिए किया जाता है और उसकी अवनति कर दी जाती है। सच तो यह है कि इससे उसे लाभ होता है, उसका विशेष कष्टकर और जटिल कार्य मधुर श्रम में बदल जाता है।

जहां समाज अपनी स्वाभाविक अवस्था में होता है वहां यह बात बिलकुल भिन्न होती है। मैं एक ऐसे समाज[1] को जानता हूं जहां लोग स्वयं अपना अन्न पैदा करते हैं। उक्त समाज का एक सदस्य अन्य सदस्यों की अपेक्षा अधिक शिक्षित था और उसे व्याख्यान देने पड़ते थे, जिन्हें वह दिन में तैयार करता और सायंकाल उगल देता। उसने यह कार्य स्वेच्छा से किया क्योंकि वह अनुभव करता था कि वह दूसरों के लिए एक उपयोगी और भला कार्य कर रहा है। किंतु वह कोरा मानसिक श्रम करते-करते ऊब गया और उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया। समाज के सदस्यों को उसपर दया आई और उन्होंने उसे खेतों में कार्य करने के लिए बुला लिया।

जो लोग श्रम को जीवन का सार और आनन्द मानते हैं उनके जीवन का आधार सदा वह संघर्ष ही रहेगा जो मनुष्य प्रकृति के साथ करता है—जैसे कृषि-कार्य, कला-कौशल, मानसिक कार्य और व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सम्पर्क।

इस प्रकार के एक या अनेक कार्यों को छोड़कर किसी कार्य में विशेषता प्राप्त करना भी सम्भव होगा जब वह विशेषज्ञ उस कार्य के प्रति अनुरक्ति रखते हुए और यह जानते हुए भी कि वह उस कार्य को दूसरे

---

[1] टॉल्स्टॉय का अभिप्राय उस समाज से है जो चैंकोवस्की ने १८वीं शताब्दी में कन्सास राज्य में स्थापित किया था। जिस व्यक्ति की उसमें चर्चा आई है उसका नाम हीन्स था। उसने अपना नाम बदलकर विलियम फ्रे रख लिया था और टॉल्स्टॉय से याशनाया पोलियाना में मिला था।

लोगों से अच्छा कर सकेगा, अपने लाभ की चिन्ता न करे और उन कार्यों को करे जिनकी दूसरे लोग उससे प्रत्यक्ष रूप से अपेक्षा रखते हैं। श्रम के बारे में जब हम इस प्रकार का मत बनायंगे और उसके फलस्वरूप जब श्रम का स्वाभाविक विभाजन होगा तभी शारीरिक श्रम का अभिशाप मिट पायगा। और तब, सारा परिश्रम आनन्द का रूप ग्रहण कर लेगा क्योंकि उस समय मनुष्य या तो निर्विवाद रूप से उपयोगी और आनन्द-दायक कार्य करेगा या फिर उसे इस बात का आत्म-संतोष होगा कि दूसरों की भलाई के लिए एक अधिक कठिन और असाधारण कार्य करने में वह स्वार्थ का त्याग कर रहा है।

"लेकिन श्रम का उपविभाजन तो और भी लाभदायक होता है," यह अक्सर कहा जाता है।

किंतु प्रश्न यह है कि वह किसके लिए अधिक लाभदायक है ?

इसके उत्तर में कहा जाता है कि इस विभाजन से जूतों और वस्त्र का अधिक उत्पादन होता है।

"लेकिन ये जूते और कपड़े किसको बनाने पड़ेंगे ?"

"ऐसे लोगों को जो पीढ़ियों से पिनों की घुंडियां ही बनाते आए हैं और जिन्होंने इसके अलावा और कुछ नहीं किया है।"

"तो फिर यह उनके लिए लाभदायी कैसे हो सकता है ?"

यदि मुख्य उद्देश्य केवल अधिक-से-अधिक मात्रा में कपड़ा और पिन तैयार करना हो तब तो यह सब ठीक है। किंतु जिस बात का मुख्य रूप से ध्यान रखना है वह है मनुष्य और उसका कल्याण। मनुष्यों का कल्याण उनके जीवन में है और उनका जीवन उनके कार्य में है। ऐसी अवस्था में यह कैसे हो सकता है कि कष्टदायक और निम्न कोटि का कार्य लाभदायक सिद्ध हो ?

यदि जीवन का लक्ष्य समस्त समुदाय की चिन्ता न करते हुए कुछ विशेष व्यक्तियों को ही लाभ पहुंचाना हो तब तो सबसे फायदे की बात यह हो कि कुछ लोग दूसरे लोगों को खा जायं। कहा जाता है कि मनुष्य का मांस बड़ा स्वादिष्ट होता है। किंतु जिस वस्तु की कामना मैं स्वयं करता हूं वही समस्त समुदाय के लिए भी सबसे अधिक लाभदायक होती है।

अर्थात् यह कि शरीर और आत्मा ही नहीं बल्कि अन्तरात्मा और बुद्धि का भी अधिक-से-अधिक कल्याण हो और उनकी आवश्यकताओं की अधिक-से-अधिक पूर्ति हो। मैंने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया कि अपनी भलाई और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुझे केवल उस पागलपन से मुक्त होने की आवश्यकता है जिसमें मैं क्रापीवेंस्की के पागल व्यक्ति की भांति पड़ गया था और यह समझता था कि भद्र पुरुषों को परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है, वह सब तो दूसरे व्यक्तियों को करना चाहिए। जब मुझे यह बात मालूम हुई तो मुझे विश्वास हो गया कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो कार्य किया जाता है वह अपनेको स्वभावतः विभिन्न प्रकार के कार्यों में विभाजित कर लेता है, जिसमें से प्रत्येक का अपना आकर्षण होता है। यह कार्य न केवल बोझिल नहीं होता, बल्कि दूसरे प्रकार के परिश्रमों से विश्राम दिलाने में सहायक होता है।

इस कार्य को मैंने मोटे तौर पर अपने जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार चार भागों में विभाजित किया है और उसी आधार पर कार्य करते हुए मैं अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करता हूँ।

सारांश यह कि मुझे 'हम क्या करें' प्रश्न के जो उत्तर मिले वे ये हैं—

पहले—अपने से झूठ न बोलना और—मेरी बुद्धि ने जिस सत्य-मार्ग को सामने ला दिया है, उससे मेरा जीवन-पथ कितना ही दूर क्यों न हो, सत्य से न डरना।

दूसरे—अपनेको दूसरों से अधिक पुण्यात्मा, ऊँचा और सम्माननीय समझने के विचार को ठुकरा देना और अपनेको अपराधी स्वीकार करना।

तीसरे—मानवता के शाश्वत, असंदिग्ध नियम का पालन करना और अपने तथा दूसरे व्यक्तियों के जीवन का पोषण करने के लिए शक्तिभर प्रकृति के साथ संघर्ष करना।

: ३९ :

सारी मुसीबतों की जड़ सम्पत्ति

अपने बारे में मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका; किंतु जिन बातों का सम्बन्ध हर व्यक्ति से है उन्हें भी कहे बिना जी नहीं मानता। इसके

अतिरिक्त मैं जिन निष्कर्षों पर पहुंचा हूं उन्हें साधारण जीवन की कसौटी पर कसना चाहता हूँ।

मैं यह बताना चाहता हूं कि मुझे ऐसा क्यों लगता है कि हमारे वर्ग के अधिकांश व्यक्तियों को उसी निष्कर्ष पर पहुंचना चाहिए जिसपर मैं पहुँचा हूँ। मैं यह भी बताना चाहता हूँ कि यदि थोड़े-से व्यक्ति भी इसी निष्कर्ष पर पहुंच गए तो उसका क्या परिणाम निकलेगा ?

मेरा खयाल है कि बहुत-से लोग उसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे जिसपर मैं पहुँचा हूँ क्योंकि यदि हमारे वर्ग के, हमारी जाति के लोग केवल अपने चारों ओर गम्भीरतापूर्वक देखनेभर की चेष्टा करें तो व्यक्तिगत सुख की आकांक्षा रखनेवाले नवयुवक अपने जीवन के निरन्तर बढ़ते हुए उन कष्टों से भयभीत हो उठेंगे जो उन्हें साफ तौर पर विनाश की ओर खींचे लिये जा रहे हैं। इसी तरह समझदार लोग अपने क्रूर और अन्यायपूर्ण जीवन से सहम जायंगे और कायर लोग अपने जीवन के संकटों से कांप उठेंगे।

हमारे जीवन का विषाद ! हम अपने जीवन के मिथ्या आचरण में विज्ञानों और कलाओं की सहायता से चाहे कितनी भी थेगली क्यों न लगाएं, हमारा यह जीवन वर्ष-प्रति-वर्ष अधिक क्षीण, अधिक रोगयुक्त और अधिक दुखदायी होता जा रहा है। हर साल आत्महत्याओं और गर्भपातों की संख्या बढ़ती जा रही है; हर साल इस वर्ग के लोग अधिक दुर्बल होते जा रहे हैं और हर साल हम अनुभव करते हैं कि हमारे जीवन का अन्धकार बढ़ता जा रहा है।

स्पष्ट है कि जीवन का ऐशोआराम बढ़ाने से या औषधियों का सेवन करने से या कृत्रिम दांतों और बालों का प्रयोग करने से या प्राणायाम और मालिश करने से मुक्ति नहीं मिल सकती। यह सत्य इतना स्पष्ट हो हो गया है कि जब समाचारपत्रों में अमीरों के लिए पाचक चूर्णों का विज्ञापन छपता है तो उसे 'गरीबों के लिए वरदान' शीर्षक से प्रकाशित किया जाता है। उनमें कहा जाता है कि गरीबों की पाचन-शक्ति अच्छी होती है, किन्तु अमीरों को भोजन पचाने के लिए ऊपरी सहायता की आवश्यकता होती है जिसमें ये चूर्ण भी शामिल हैं।

किन्तु अमीरों के पाचन-विकार का इलाज मनोरंजन, ऐशोआराम या चूर्ण से नहीं हो सकता—यह बीमारी तो केवल जीवन में परिवर्तन करने से ही हो सकती है ।

हमारे जीवन के साथ हमारी अंतरात्मा का विग्रह ! मानवता के प्रति हम जो विश्वासघात करते हैं उसको न्यायपूर्ण सिद्ध करने का हम चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, स्पष्ट तथ्यों के सामने हमारे सब बहाने धूल में मिल जाते हैं । हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर लोग अत्यधिक श्रम और अभाव के कारण मर रहे हैं और फिर भी हम उनके द्वारा तैयार किये गए भोजन और वस्त्र का तथा उनके परिश्रम का भी केवल परिवर्त्तन की दृष्टि से उपभोग कर डालते हैं । इसलिए हमारे वर्ग के लोगों की अंतरात्मा—यदि अंतरात्मा नाम की वस्तु उनके रह गई है तो—चैन से नहीं बैठ पाती । वह जीवन के उस सारे सुख-विलास को विषाक्त बना देती है, जो हमें अपने भाइयों के श्रम के फलस्वरूप प्राप्त होता है—ऐसे भाई जो हमारे लिए श्रम करते-करते मर-मिटते हैं।

इस बात को हर समझदार आदमी स्वयं महसूस करता है । वह उसे भूलना पसन्द करेगा; लेकिन हमारे युग में ऐसा करना सम्भव नहीं है । इसके अतिरिक्त विज्ञान और कला के सभी सर्वोत्तम अंश—वे अंश जिन्होंने अपने उद्देश्य को भुलाया नहीं है—हमें लगातार हमारी निर्दयता और अनौचित्यपूर्ण स्थिति का ध्यान दिलाते रहते हैं । विज्ञान और कला की सार्थकता को प्रमाणित करनेवाले जितने भी पुराने और दृढ़ तत्त्व थे वे सब नष्ट हो गए हैं; 'विज्ञान विज्ञान के लिए' और 'कला कला के लिए' के नए नपुंसक तर्क सरल सामान्य बुद्धि को ग्राह्य नहीं हैं ।

मनुष्य की आत्मा नए बहानों की आड़ पाकर संतुष्ट नहीं हो सकती। उसे तो जीवन के परिवर्तन से ही संतोष मिल सकता है और उस अवस्था में किसी व्यक्ति के लिए अपने औचित्य को सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी, क्योंकि फिर ऐसी कोई वस्तु रह ही नहीं जायगी जिसे अपनी सार्थकता सिद्ध करने की जरूरत हो ।

हमारी जीवन-प्रणाली का संकट ! हम जिनका शोषण कर रहे हैं उनका धैर्य एक दिन समाप्त हो सकता है । इस सरल और अत्यन्त स्पष्ट

संकट को हम अपने से छिपाने का चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, इसका हम सब तरह की धोखेबाजी, हिंसा और टालमटोल से कितना ही निराकरण करने का प्रयत्न क्यों न करें, यह संकट प्रतिदिन और प्रति घंटा बढ़ता जा रहा है। वैसे तो हमें इसका बहुत समय से खटका रहा है, किंतु अब यह संकट इतना बढ़ गया है कि गरजते सागर में हमें अपनी छोटी-सी जीवन नौका को संभालना कठिन हो रहा है। उसकी तूफानी लहरें हमतक आ पहुँची हैं और क्रुद्ध होकर हमें निगल जाने की धमकी दे रही हैं। विनाश और हत्याकांड से भरी हुई मजदूरों की क्रांति हमें केवल भयभीत नहीं कर रही है बल्कि उसी क्रांति में से होकर हमने तीस वर्ष निकाल भी दिये हैं और इधर-उधर की अस्थायी युक्तियों से किसी प्रकार उसके विस्फोट को कुछ समय के लिए टालने में सफल हो सके हैं। यही यूरोप की दशा है; यही हमारी दशा है। हमारे लिए तो यह और भी खतरनाक है, क्योंकि हमारे पास सुरक्षा के साधन नहीं हैं। सर्वसाधारण की दृष्टि में अब जार के अतिरिक्त जनता का दमन करनेवाले किसी भी वर्ग की कोई सार्थकता नहीं रह गई है। जनता तो आज केवल हिंसा, मक्कारी और अवसरवादिता के बल पर ही दबाकर रखी जा रही है, किंतु उसके प्रतिनिधियों में हमारे प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना प्रति घंटे बढ़ती जा रही है।

पिछले तीन या चार वर्षों में हम लोगों के बीच एक नए महत्त्वपूर्ण शब्द का आम प्रयोग होने लगा है, जिसे मैंने पहले कभी नहीं सुना था। यह राह चलते गाली के रूप में प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ मुफ्तखोर होता है।

शोषित जनता में घृणा की भावना बढ़ती जा रही है तथा धनिक वर्गों की शारीरिक और नैतिक शक्तियां क्षीण होती जा रही हैं। प्रवंचना के जिस पर्दे में सबकुछ छिपा था, वह छिन्न-भिन्न हो रहा है और इस भयंकर संकट के समय धनिक वर्गों के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे वे अपनेको सांत्वना दे सकें।

पुराने तरीकों को फिर से अपनाना असम्भव है, नष्ट प्रतिष्ठा को फिर क़ायम करना नामुमकिन है; जो लोग अपने जीवन का ढंग नहीं वदलना

चाहते उनके लिए केवल एक चीज बाकी रह गई है और वह है यह आशा कि हमारे जीवन-काल में तो यही हालत रहेगी—बाद में जो कुछ होना है होता रहे।

यह है वह कार्य जिसे धनिकों का अन्धा समाज कर रहा है, लेकिन संकट बराबर बढ़ रहा है और विनाश की घड़ी दिन-पर-दिन पास आती जा रही है।

तीन कारण हैं जो धनिक वर्ग को अपने जीवन का ढंग बदलने की आवश्यकता का संकेत करते हैं—(१) अपनी तथा अपने निकटस्थों की भलाई की आवश्यकता, जो उस रास्ते पर चलने से नहीं मिल सकती जिसपर कि धनिक बर्ग के लोग चल रहे हैं (२) अंतरात्मा की पुकार का पालन करने की आवश्यकता, जो वर्तमान मार्ग पर चलते हुए एकदम असम्भव है; और (३) जीवन के प्रति निरन्तर बढ़ता हुआ संकट जिसे कभी भी बाहरी युक्ति से नहीं टाला जा सकता। इन तीनों बातों के कारण धनिक वर्ग के लोगों को अपने जीवन का ढंग बदलने के लिए प्रेरित होना चाहिए, जिससे उनकी भलाई हो, वे अपनी अंतरात्मा की आवाज पर चल सकें और संकट को टाल सकें।

इस प्रकार का परिवर्तन केवल एक है और वह है धोखा देना बन्द करना, पश्चात्ताप करना और यह स्वीकार करना कि परिश्रम अभिशाप नहीं बल्कि जीवन का आनन्दप्रद व्यापार है।

इसके उत्तर में लोग कहते हैं—किन्तु जिस शारीरिक श्रम को हजारों किसान मेरे रुपयों के बदले में प्रसन्नता से करने को तैयार हो जायंगे इसे यदि मैं प्रतिदिन दस, आठ या पांच घंटे करूं तो इससे क्या लाभ होगा ?

इसका एक सबसे सरल और निश्चित परिणाम यह होगा कि आप पहले से अधिक प्रसन्न, स्वस्थ, कुशल और दयालु हो जायंगे और यह सीख जायंगे कि वास्तविक जीवन क्या है, जिससे आप अपनेको आज तक छिपाए हुए थे अथवा जो आपसे अबतक छिपा हुआ था।

दूसरे, यदि आपके पास अंतरात्मा है तो उसे दूसरे व्यक्तियों को श्रम करते हुए देखकर—जिसकी कठोरता का हम अपने अज्ञानवश बढ़ा-

चढ़ाकर अथवा कम मूल्यांकन करते हैं—अब की भांति पीड़ित नहीं होना पड़ेगा। इसके विपरीत आप हर समय इस मधुर चेतना का अनुभव करेंगे कि आप अपनी अंतरात्मा की मांगों को प्रतिदिन अधिकाधिक पूरा करते जाते हैं और अपने जीवन में बुराइयों का संग्रह करने की भयंकर स्थिति से दूर हटते जाते हैं, जिसके कारण आपके लिए दूसरों की भलाई करना असम्भव हो गया है। आप एक ऐसे उन्मुक्त जीवन की मधुरता का अनुभव करेंगे जिससे आप दूसरों की भलाई कर सकेंगे। आप अपने जीवन में एक ऐसी खिड़की खोल सकेंगे जिससे होकर नैतिक विश्व के आकाश से प्रकाश-रेखा आप तक पहुंच सकेगी, जिससे अबतक आप वंचित रहे हैं। आप जो बुराई करते हैं उसका आपको बदला मिलेगा—इस निरन्तर भय में रहने के बजाय आप यह अनुभव करेंगे कि आप दूसरों को प्रतिशोध से बचा रहे हैं। सबसे बड़ी अनुभूति तो आपको यह होगी कि आप दलितों को घृणा और बदले की भीषण भावना से बचा रहे हैं।

इसके उत्तर में लोग आम तौर से कहते हैं—"किन्तु सचमुच ही यह एक बड़ी हास्यास्पद बात होगी कि हम लोग—जिनके सामने गम्भीर दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, कलात्मक, धार्मिक और सामाजिक समस्याएं हैं और जो राज्यों के मन्त्री, सभासद, शिक्षाविद, अध्यापक, कलाकार और संगीतज्ञ हैं और जिनका एक-एक क्षण बहुमूल्य है—ऐसी छोटी-छोटी बातों पर समय नष्ट करें जैसेकि अपने जूते साफ करना, अपनी कमीजें धोना, जमीन खोदना, आलू धोना, अपनी मुर्गियों, गायों आदि को दाना खिलाना आदि। ये तो ऐसे कार्य हैं जिन्हें हमारे लिए न केवल हमारे नौकर-चाकर और रसोइए ही बल्कि वे हजारों व्यक्ति भी हर्षपूर्वक कर देते हैं जो हमारे समय की कद्र करते हैं।' किंतु हम स्वयं कपड़े क्यों पहनते हैं, स्वयं क्यों नहाते हैं, अपने बालों में अपने हाथों से कंघा क्यों करते हैं, स्वयं शीशे में मुँह क्यों देखते हैं, हम क्यों चलते हैं, महिलाओं और अतिथियों के आने पर उन्हें कुर्सियां क्यों पकड़ाते हैं, दरवाजे क्यों बन्द करते और खोलते हैं, आदमियों को गाड़ियों में क्यों बैठाते हैं और इसी प्रकार के सौ और ऐसे काम क्यों करते हैं, जिन्हें

हमारे दास हमारे लिए किया करते थे और कर सकते हैं ?

क्योंकि हम समझते हैं कि ऐसा ही होना चाहिए, ऐसा करना मनुष्य की मर्यादा के अनुकूल है, यही मनुष्य का कर्त्तव्य और धर्म है।

यही बात शारीरिक श्रम के लिए है। मनुष्य की यह मर्यादा है, उसका यह पवित्र धर्म और कर्त्तव्य है कि वह अपने हाथ-पैर से वह काम ले जिसके लिए वे उसे मिले हैं। जिस अन्न का मनुष्य उपभोग करता है उसकी सहायता से उसे ऐसे श्रम करने चाहिए जिनसे अन्न की पुनः उत्पत्ति हो, अर्थात् मनुष्य को अपने हाथ-पैरों को निरर्थक नहीं रहने देना चाहिए, उन्हें केवल धो-धाकर साफ ही न रखना चाहिए और न उनसे केवल मुँह में अन्न, पान और सिगरेट रखने का काम लेना चाहिए।

शारीरिक श्रम का यह महत्त्व प्रत्येक समाज में और प्रत्येक मनुष्य के लिए है। किंतु हमारे समाज में—जहां दुर्भाग्यवश समूचा-का-समूचा वर्ग प्रकृति के इस नियम की अवज्ञा करता है—शारीरिक श्रम का एक और भी महत्त्व हो गया है, वह एक ऐसा मन्त्र और एक ऐसा कार्य बन गया है जो मानवता को अपने ऊपर मंडरानेवाले संकटों के बादलों से बचाता है। यह कहना कि शारीरिक श्रम करना शिक्षित व्यक्ति के लिए एक महत्त्वहीन कार्य है ऐसा ही है जैसे किसी मन्दिर का निर्माण करते समय यह पूछना कि अमुक पत्थर को अपने स्थान पर ढंग से लगाने का क्या महत्त्व है।

जितने भी अधिक-से-अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होते हैं वे सब अनायास ही नम्रतापूर्वक और बिना किसी आडम्बर के हुआ करते हैं। न तो हल चलाने का कार्य और न इमारत बनाने या पशु चराने या सोचने के कार्य ही वर्दी पहनकर, दीपों की चमक-दमक में और तोपों के गर्जन के बीच किये जा सकते हैं। इसके विपरीत दीपों की जगमगाहट, तोपों की गड़गड़ाहट, संगीत, वर्दी, सफाई और चमक-दमक (जिन्हें हम किसी कार्य के महत्त्व का प्रतीक मानने के आदी हो गए हैं) यह प्रकट करते हैं कि उनके बीच जो कुछ भी हो रहा है वह सब महत्त्वहीन है। महान और सच्चे कार्य सदा ही सरल और विनम्र होते हैं।

और यही बात हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या के बारे में है, उन

भयंकर विरोधाभासों का हल निकालना जिनके मध्य हम रह रहे हैं।

इन विरोधाभासों को सुलझानेवाले कार्य ये विनम्र, आडम्बरविहीन कार्य ही हैं : अर्थात् अपना कार्य स्वयं करना और अपने लिए तथा यथा-सम्भव दूसरों के लिए भी शारीरिक श्रम करना। यदि हम धनिकों में अपने जीवन के दुर्भाग्य, अन्याय और संकटपूर्ण स्थिति को समझने की क्षमता है तो हमें ऐसा करना ही होगा।

यदि मैं और मेरे-जैसे एक-दो दर्जन दूसरे लोग शारीरिक श्रम से घृणा न कर उसे आत्मिक संतोष और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझने लगें तो उसका क्या परिणाम होगा ? परिणाम यह होगा कि एक, दो या तीन दर्जन व्यक्ति, बिना किसीसे लड़े-झगड़े और बिना किसी सर-कारी या क्रान्तिकारी हिंसा के अपनी इस समस्या को सुलझा लेंगे जो देखने में असम्भव प्रतीत होती है किंतु जो सारी दुनिया के सामने है। इतना ही नहीं वे उसे ऐसे ढंग से सुलझा लेंगे कि वे पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा जीवन बिता सकेंगे, उनकी आत्मा को अधिक शांति मिलेगी और उन्हें दमन का भूत अधिक नहीं सताएगा। परिणाम यह होगा कि दूसरे व्यक्ति देखेंगे कि जिस अच्छाई को वे सब जगह ढूंढ़ते-फिरते थे वह उनके पास ही है और उनकी अंतरात्मा तथा सांसारिक विधान के बीच जो विरोधाभास देखने में विषम मालूम देते थे वे अत्यन्त सरल और सुखद ढंग से सुलझ गए हैं। इसीलिए उन्हें अपने आसपास के लोगों से भयभीत होने के बजाय उनके पास आना तथा उन्हें प्यार करना चाहिए।

प्रकट रूप से विषम प्रतीत होनेवाला आर्थिक और सामाजिक प्रश्न क्राईलाफ के बक्स[1] के समान है। वह सरलता से खुल सकता है। लेकिन वह खुले तो तब जब लोग उसे खोलने की सबसे पहली और सरल क्रिया

[1] क्राईलाफ़ की कहानियों में एक ऐसे बक्स की चर्चा है जिसके ताले को बहुत-से लोगों ने खोलने की चेष्टा की, किन्तु खोल न सके। बात यह थी कि उस बक्स में ताला लगा ही नहीं था, उसके तो ढक्कन को उठानेभर की आवश्यकता थी।

करें, अर्थात् उसके ढक्कन को उठाएं।

तो प्रकट रूप से विषम प्रतीत होनेवाला यह प्रश्न वही पुराना है—कुछ व्यक्तियों द्वारा अन्य व्यक्तियों के श्रम का शोषण। हमारे समय में इस प्रश्न की अभिव्यक्ति सम्पत्ति के रूप में होती है। पहले लोग बल-प्रयोग से दूसरों को गुलाम बनाकर उनसे परिश्रम कराते थे। आज हम सम्पत्ति के बल पर कराते हैं।

आज सम्पत्ति ही सब बुराइयों की जड़ है। जो इससे सम्पन्न हैं वे और जो इससे वंचित हैं वे भी बस इसीसे त्रसित हैं। यही उन व्यक्तियों की अंतरात्मा के क्रन्दन की जड़ है जो इसका दुरुपयोग करते हैं और यही उन दो वर्गों के बीच के संघर्ष की जड़ है जिनमें से एक के पास इसकी बहुलता है और दूसरे के पास इसका अभाव। इस प्रकार बुराई की जड़ होते हुए भी सम्पत्ति ही आज हमारे समाज की समस्त हलचलों का उद्देश्य है। यही सारी दुनिया की क्रियाओं का निर्देशन करती है।

राज्य और सरकारें सम्पत्ति के लिए षड्यन्त्र करती और लड़ती हैं। साहूकार, व्यापारी, निर्माता और जमींदार सम्पत्ति के लिए ही कार्य करते, योजना बनाते और अपनेको तथा दूसरों को कष्ट में डालते हैं। अधिकारीगण और कारीगर सम्पत्ति के लिए ही संघर्ष करते, धोखा देते, दमन करते और कष्ट भोगते हैं। हमारे न्यायालय और हमारी पुलिस सम्पत्ति की ही रक्षा करती है। हमारी दण्ड-व्यवस्थाएं, हमारे वन्दीगृह और अपराध के तथाकथित शमन के हमारे सारे साधन सम्पत्ति के कारण ही विद्यमान हैं।

सम्पत्ति सारी बुराइयों की जड़ है और इसीके बंटवारे तथा रक्षा की सारी दुनिया को चिंता है।

तब सम्पत्ति क्या है?

लोग यह सोचने के आदी हैं कि सम्पत्ति सचमुच ही कुछ ऐसी वस्तु है जिसपर किसी व्यक्ति का अधिकार होता है। यही कारण है कि वे उसको 'सम्पत्ति' कहते हैं। हम अपने घर और अपने हाथ के बारे में एक ही बात कहते हैं—यह 'मेरा अपना' हाथ है, यह 'मेरा अपना' घर है।

किंतु वास्तव में यह एक भूल और अंधविश्वास है। हम जानते हैं— और नहीं जानते तो आसानी से जान सकते हैं—कि सम्पत्ति दूसरे व्यक्तियों के कार्य को हड़पने का साधनमात्र है। दूसरे व्यक्तियों का कार्य निश्चय ही अपना नहीं हो सकता। इसका सम्पत्ति की वैयक्तिक धारणा के साथ कोई मेल नहीं और यह धारणा एकदम ठीक तथा निश्चित है। जिस वस्तु में मनुष्य की रुचि है और जो उसकी चेतना अर्थात् उसके अपने शरीर से सम्बन्धित है उसे मनुष्य ने सदा 'मेरी अपनी' कहा है और सदा कहता भी रहेगा। मनुष्य का शरीर ही उसकी सच्ची सम्पत्ति है और जब वह किसी ऐसी वस्तु को अपनी 'सम्पत्ति' कहता है जो उसका शरीर नहीं है किंतु जिसे वह अपने शरीर की ही भाँति अपनी इच्छा के अधीन रखना चाहता है, तो वह गलती करता है, भ्रम और कष्ट में पड़ता है तथा दूसरों को कष्ट देने के लिए बाध्य होता है।

मनुष्य अपनी पत्नी, अपने बच्चों, अपने नौकरों और अपनी अन्य वस्तुओं को अपना कहता है, किंतु वास्तविकता उसे सदा उसकी गलती बता देती है। इसलिए उसे या तो वह अन्धविश्वास त्यागना पड़ता है या स्वयं दुःख उठाकर दूसरों को दुःख में डालने पर विवश होना पड़ता है।

आज के युग में चूंकि रुपए का चलन हो गया है और सरकार उसका संग्रह करती है, हम नाममात्र के लिए मनुष्यों पर अपना स्वामित्व त्याग-कर रुपए-पैसे पर स्वामित्व जतलाने लगे हैं अर्थात दूसरे लोगों के श्रम पर अपना अधिकार जताने लगे हैं।

किंतु पत्नी, पुत्र, नौकर या घोड़े के स्वामित्व के अधिकार की बात एक कोरी कल्पना है। वास्तविकता ने इसे छिन्न-भिन्न कर दिया है और जो इसमें अब भी विश्वास करते हैं उन्हें दुःख ही होता है, क्योंकि हमारी पत्नी अथवा हमारा पुत्र कभी हमारे शरीर की भांति हमारी इच्छा की दासता स्वीकार नहीं करेंगे और केवल हमारा शरीर ही हमारी वास्त-विक सम्पत्ति रहेगा। इसी प्रकार रुपया-पैसा भी कभी हमारा अपना नहीं हो सकेगा।

वह तो केवल आत्म-प्रवंचना और कष्ट का स्रोत ही होगा, जबकि

हमारी वास्तविक सम्पत्ति फिर भी हमारा शरीर ही होगा, जो सदा हमारी आज्ञा का पालन करता है और हमारी चेतना के साथ बंधा हुआ है।

केवल हम-जैसे लोग; जो अपने शरीर के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं को भी अपनी 'सम्पत्ति' कहने के आदी हैं, यह सोच सकते हैं कि इस प्रकार का बेसिर-पैर का अन्धविश्वास लाभदायक हो सकता है और उससे हमें कोई हानि नहीं पहुँचेगी। वास्तविकता पर थोड़ा-सा विचार करने से ही पता लग जायगा कि इस अन्धविश्वास में भी अन्य अन्धविश्वासों की भाँति भयंकर परिणाम छिपे हुए हैं।

एक सरलतम उदाहरण लीजिए।

मैं स्वयं को और किसी एक दूसरे व्यक्ति को भी अपनी सम्पत्ति समझता हूं। मैं अपनेको भोजन तैयार करने योग्य बनाना चाहता हूं। यदि मेरे मन में यह अंधविश्वास न हो कि उस दूसरे व्यक्ति पर मेरा अधिकार है तो मैं यह कार्य—और दूसरी आवश्यक कलाएं भी—अपनी सम्पत्ति अर्थात् स्वयं अपने शरीर को सिखाऊंगा। किंतु स्थिति यह है कि यह कार्य में अपनी काल्पनिक सम्पत्ति को सिखाता हूं। परिणाम यह होता है कि जब मेरा रसोइया मेरा कहना नहीं मानता या मुझे खुश करना नहीं चाहता, अथवा भाग जाता है तो मेरे सामने एकमात्र विकल्प यही रह जाता है कि अपनी व्यवस्था मैं आप करूं। किंतु मुझे सीखने का अभ्यास तो होता नहीं; केवल यह अनुभूतिभर होती है कि जितना समय मैंने उस रसोइए की चिंता करने में लगाया उतने में मैं स्वयं रसोई बनाना सीख जाता। यही बात इमारतों, कपड़ों, बर्तनों, जायदाद और रुपए के बारे में भी है। जितनी भी काल्पनिक सम्पत्तियां हैं वे मेरे मन में ऐसी अनुपयुक्त आकांक्षाएं जागृत कर देती हैं जो सदा पूरी नहीं हो सकतीं और साथ-ही-साथ मेरे लिए यह सम्भावना नहीं रह जाती कि कभी मैं अपनी सच्ची और निर्विवाद सम्पत्ति अर्थात् अपने शरीर के उस ज्ञान, उस कुशलता, उन आदतों और उस पूर्णता की प्राप्ति कर सकता हूं जो मुझे करनी चाहिए।

इसका परिणाम सदा यह होता है कि मैं अपने लिए या अपनी सच्ची

सम्पत्ति के लिए कोई लाभ उठाए बिना ही ऐसी सम्पत्ति पर, जो मेरी नहीं थी और मेरी नहीं हो सकती थी, अपनी शक्ति और कभी-कभी सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देता हूँ।

मैं उन चीजों को सजाता हूँ जिन्हें मैं अपना पुस्तकालय, अपनी चित्रशाला, अपने कमरे और वस्त्र मानता हूं। मैं अपनी रुचि की वस्तुएं खरीदने के लिए अपना 'निजी' धन प्राप्त करता हूं और इस सबका अंत यह होता है कि मैं अपनी काल्पनिक सम्पत्ति में उलझकर—जैसे वह वास्तव में मेरी ही हो—यह बिलकुल भूल जाता हूं कि मेरी निजी सम्पत्ति में—जिसपर मैं वास्तव में परिश्रम कर सकता हूं, जो मेरे काम आ सकती है और सदा मेरे नियंत्रण में रहेगी—तथा उस सम्पत्ति में जिसे मैं चाहे कुछ कहूं लेकिन मेरी नहीं है और मेरी नहीं हो सकती और न ही मेरे परिश्रम का उद्देश्य बन सकती—क्या अन्तर है।

शब्दों का अर्थ हमेशा स्पष्ट होता है जबतक कि हम जानबूझकर उनको झूठा अर्थ न प्रदान करें।

तब सम्पत्ति का क्या अर्थ है ? सम्पत्ति वह है जिसपर मेरा, केवल मेरा, अधिकार है, जिसका मैं जब जो चाहूं कर सकता हूं, जिसे कोई मुझसे छीन नहीं सकता, जो जीवन-पर्यन्त मेरी ही रहती है और जिसे मुझे उपयोग में लाना, बढ़ाना और सुधारना चाहिए।

इस प्रकार की सम्पत्ति स्वयं मनुष्य अपने लिए हो सकता है।

किन्तु ठीक यही अर्थ उस काल्पनिक सम्पत्ति को भी दिया जाता है जिसे प्राप्त करने के लिए संसार की समस्त भयंकर बुराइयों का जन्म होता है; जैसे युद्ध, फांसी, न्यायालय, बन्दीगृह, विलास, पाप, हत्या और जनता का विनाश। स्मरण रहे कि यह एक असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयत्न होता है, ऐसे पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न होता है जो हमसे बाहर हैं और जो हमारे अपने कदापि नहीं हो सकते।

इसलिए यदि एक दर्जन व्यक्ति आवश्यकतावश नहीं बल्कि यह सोच कर कि मनुष्य को श्रम करना चाहिए और वह जितना ही श्रम करेगा उतना ही उसके लिए अच्छा होगा, हल चलाएं या लकड़ी चीरें या जूते

गाँठें तो इसका क्या परिणाम होगा ? परिणाम यह होगा कि एक दर्जन व्यक्ति या अकेला एक व्यक्ति ही अपनी बुद्धि और अपने कार्यों से अन्य व्यक्तियों को बतला देगा कि मनुष्य जिस भयंकर दुःख से पीड़ित है वह न तो प्रारब्ध का नियम है, न ईश्वरीय इच्छा और न ही कोई ऐतिहासिक आवश्यकता है, वह तो एक कोरा अंधविश्वास है—एक ऐसा अंधविश्वास जो न तो बहुत दृढ़ है और न भयंकर ही। वह एक दुर्बल और महत्त्वहीन अंधविश्वास है और उससे छुटकारा पाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उसपर विश्वास ही न किया जाय और उसे गंदे जाले की भांति नष्ट कर दिया जाय।

जो मनुष्य अपने जीवन के सुखद नियम का पालन करने के लिए श्रम करते हैं अर्थात् जो श्रम के नियम का पालन करने के लिए श्रम करते हैं, वे अपनेको निजी सम्पत्ति के अन्धविश्वास से, जो इतने दुर्भाग्यों से परिपूर्ण है, अवश्य मुक्त कर लेंगे। और तब संसार की वे समस्त संस्थाएं जो मनुष्य के शरीर के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की तथाकथित सम्पत्ति की रक्षा के लिए बनी हुई हैं, उनके लिए केवल अनावश्यक ही नहीं बल्कि भारस्वरूप हो जायंगी और यह बात सबको स्पष्ट हो जायगी कि ये संस्थाएं न केवल अनिवार्य ही नहीं हैं बल्कि हानिकारक, कृत्रिम और झूठी भी हैं।

जो व्यक्ति श्रम को अभिशाप नहीं बल्कि आनन्द समझता है उसके लिए निजी शरीर के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति अर्थात् दूसरे मनुष्य के श्रम का उपयोग करने की सत्ता न केवल व्यर्थ बल्कि कष्टदायक भी होगी।

यदि मैं अपना भोजन तैयार करना चाहता हूं और यदि मुझे ऐसा करने का अभ्यास है तो किसी दूसरे व्यक्ति का मेरे लिए भोजन तैयार करना मुझे एक अभ्यस्त कार्य से वंचित कर देता है और मुझे आत्म-संतोष भी प्रदान नहीं करता। इसके विपरीत जो व्यक्ति श्रम को ही जीवन समझता है, अपने जीवन को श्रम से परिपूर्ण कर लेता है और इसलिए जिसे अन्य व्यक्तियों के श्रम की कम-से-कम आवश्यकता है अर्थात् जिसे अपने जीवन के आलस्यपूर्ण समय को सुख और आनन्द से

भरने के लिए सम्पत्ति की कम-से-कम ग्रवश्यकता है उसके लिए काल्पनिक सम्पत्ति बेकार है।

यदि किसी व्यक्ति का जीवन श्रम से परिपूर्ण हो तो उसे कमरों, मेजों, कुर्सियों ग्रौर तरह-तरह के सुन्दर वस्त्रों की ग्रावश्यकता नहीं। उसे कम खर्चीले भोजन की ग्रावश्यकता होगी ग्रौर यातायात तथा मन-बहलाव के साधन भी उसके लिए निरर्थक होंगे।

सबसे बड़ी बात यह है कि जो ग्रादमी श्रम को ग्रपने जीवन का कर्त्तव्य ग्रौर ग्रानन्द समझता है वह दूसरों के श्रम से लाभ उठाकर ग्रपने परिश्रम को कम करना पसन्द नहीं करेगा।

जो व्यक्ति ग्रपने जीवन को कर्मक्षेत्र मानता है वह ग्रपना यह लक्ष्य बना लेगा कि जितनी ही उसकी कुशलता ग्रौर सामर्थ्य में वृद्धि होगी उतना ही ग्रधिक वह परिश्रम करेगा ग्रौर इस प्रकार ग्रपने जीवन को उत्तरोत्तर पूर्ण बनाता जायगा।

ऐसे व्यक्ति के लिए जो कर्म के परिणाम में नहीं बल्कि स्वयं कर्म में विश्वास करता है ग्रौर जो कल्पनिक सम्पत्ति को प्राप्त करना ग्रर्थात् दूसरों के श्रम का शोषण करना ध्येय नहीं मानता उसके लिए कभी श्रम के साधनों का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं हो सकता।

ऐसा व्यक्ति स्वभावतः सदा सबसे ग्रधिक उत्पादन करनेवाले साधन को ही चुनेगा। फिर भी उसे सबसे कम उत्पादन करनेवाले साधन का प्रयोग करने पर भी समान रूप से ही संतोष मिलेगा। यदि उसके पास इंजन से चलनेवाला हल होगा तो वह उससे खेत जोतेगा ग्रौर यदि नहीं होगा तो घोड़े से खींचे जानेवाले हल से ही काम लेगा ग्रौर यदि यह भी नहीं हुग्रा तो किसानवाला लकड़ी का हल ही काम में लायगा। यदि यह हल भी न हुग्रा तो वह फावड़े से ही खेत खोद लेगा। सारांश यह कि प्रत्येक दशा में वह ग्रपने जीवन को दूसरों के लिए उपयोगी बनाने के लक्ष्य में समान रूप से सफलता प्राप्त कर लेगा ग्रौर इस प्रकार उसे पूर्ण संतोष मिलेगा।

ऐसा मनुष्य बाह्य तथा ग्रांतरिक दोनों प्रकार से उस मनुष्य की ग्रपेक्षा ग्रधिक सुखी होगा जो सम्पत्ति-संग्रह को ग्रपने जीवन का लक्ष्य

बना देता है। बाह्य दृष्टि से ऐसे मनुष्य को कभी अभाव का सामना नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि लोग श्रम के प्रति उसकी उत्कंठा को देखकर उसके कार्य को सदा अधिक-से-अधिक लाभदायक बनाने का प्रयत्न करेंगे और ऐसा करने के लिए वे उस मनुष्य के भौतिक अस्तित्व को सुरक्षित बना देंगे। यह एक ऐसा कार्य है जो लोग सम्पत्ति के पीछे भागनेवाले व्यक्तियों के लिए नहीं करते और यह जानी हुई बात है कि भौतिक सुरक्षा में ही मनुष्य की सम्पूर्ण आवश्यकता निहित है।

भीतरी रूप से भी ऐसा व्यक्ति सम्पत्ति के लिए लालायित रहनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा सदा अधिक सुखी होगा, क्योंकि सम्पत्ति की तृष्णा में जीवन व्यतीत करनेवाला मनुष्य अपनी मनोवांछित वस्तु कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा, जबकि दूसरा व्यक्ति उसे अपनी शक्तिभर अवश्य प्राप्त कर लेगा। कमजोरी में, वृद्धावस्था में, मरते हुए भी वह अपने हाथ में हथियार लिए पूर्ण संतोष का अनुभव करेगा और दूसरे लोगों की प्रीति तथा सहानुभूति प्राप्त कर लेगा।

अतः यदि थोड़े-से पागल और सनकी लोग दिन में दस घंटे—इतना समय तो सभी बुद्धिजीवियों के पास फालतू रहता है—सिगरेट पीने, ताश खेलने और सर्वत्र अपनी सुस्ती साथ लिए मोटर में घूमने के बजाय हल चलायें, जूते बनायें और इसी प्रकार के कार्य करें तो इसका क्या परिणाम होगा ?

परिणाम यह होगा कि ये सनकी व्यक्ति ही व्यवहार रूप में दिखला देंगे कि जिस काल्पनिक सम्पत्ति के कारण मनुष्य स्वयं दुःख भोगते और दूसरों को दुःख देते हैं वह सुख के लिए आवश्यक नहीं है बल्कि बाधक है और एक अन्धविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे सिद्ध कर देंगे कि सम्पत्ति—वास्तविक सम्पत्ति—मनुष्य का अपना मस्तिष्क और अपने हाथ-पैर हैं तथा इस वास्तविक सम्पत्ति का प्रसन्नता के साथ लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने निजी शरीर से बाहर की सम्पत्ति की उस झूठी धारणा को त्याग दें जिसके लिए हम अपने जीवन की अधिकांश शक्ति खर्च कर देते हैं। ये व्यक्ति यह भी दिखला देंगे कि मनुष्य काल्पनिक सम्पत्ति में विश्वास करना तभी बंद करेगा जब वह

अपनी वास्तविक सम्पत्ति—अपनी सामर्थ्य, अपने शरीर—का विकास कर लेगा ताकि वह उससे सौ गुना लाभ और सुख प्राप्त कर सके जिसकी हमें कल्पना तक नहीं है। वह व्यक्ति इतना उपयोगी, शक्तिशाली और दयालु बन जायगा कि उसे जीवन के चाहे किसी भी क्षेत्र में जाना पड़े वह सदा अपने पांवों पर खड़ा रहेगा, सब जगह और सबके साथ वह अपना बन्धुत्व दिखाएगा और सब लोग उसके महत्त्व को समझेंगे तथा उसका सम्मान करेंगे। लोग इस एक पागल को या उस-जैसे अनेक पागलों को देखकर समझ जायंगे कि सम्पत्ति के अन्धविश्वास ने उन्हें जिस भयंकर ग्रंथि में जकड़ रखा है उसे खोलने और उससे मुक्ति पाने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। यह एक ऐसी ग्रंथि है जिसमें जकड़े रहकर लोग कराहते तो रहते हैं किन्तु उससे छुटकारा पाने की युक्ति नहीं जानते।

लेकिन एक अकेला आदमी ऐसी भीड़ में क्या कर सकता है जहां कोई उसके विचारों से सहमत ही न हो ?

जो लोग इस प्रकार का तर्क करते हैं उनकी बेईमानी का इससे अधिक स्पष्ट परिचय और क्या हो सकता है ? बहुत-से मल्लाह मिलकर एक नौका को धारा के विपरीत खींच ले जाते हैं। क्या उनमें से कोई मल्लाह इतना मूर्ख भी हो सकता है कि अपनी रस्सी को यह कहकर पकड़ने से इन्कार करदे कि अकेले उसमें नौका को धारा के विपरीत खींच ले जाने की पर्याप्त शक्ति नहीं है। जो मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके पशु-जीवन के अधिकार—अर्थात् खाने और सोने—के अतिरिक्त कुछ मानवीय कर्त्तव्य भी हैं, वह अपने कर्त्तव्य को खूब अच्छी तरह समझता है, ठीक उसी प्रकार जैसे मल्लाह अपने कर्त्तव्य को जानता है। मल्लाह अच्छी तरह जानता है कि उसे नौका को धारा के विपरीत खींचने के लिए केवल अपनी शक्ति लगानी है। वह किसी और काम को करने की चिंता तभी करेगा जब उसके हाथ में रस्सी नहीं होगी। और जो बात मल्लाहों के साथ है वही बात समान कार्य में लगे हुए सब व्यक्तियों के साथ है; प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का ध्यान रखना है कि रस्सी छूटने न पाए बल्कि मालिक ने जो दिशा बताई है उसी ओर रस्सी खींची जाती रहे। दिशा सदा एक ही रहे इसके लिए हमें बुद्धि प्रदान की गई है।

यह दिशा समस्त मनुष्यों के जीवन और अंतरात्मा में और उनकी बुद्धिमत्ता की सभी अभिव्यक्तियों में इतनी स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से लक्षित कर दी गई है कि केवल वे ही व्यक्ति जो श्रम करना नहीं चाहते यह कह सकते हैं कि उन्हें यह दिशा दिखाई नहीं पड़ती।

अतः इसका परिणाम क्या होगा ?

यही कि एक-दो आदमी नाव को खींचकर ले चलेंगे और उन्हें देखकर एक-के-बाद एक दूसरे लोग भी योग देने लगेंगे, यहां तक कि बजड़ा इतनी सरलता के साथ आगे बढ़ने लगेगा मानों आप ही चल रहा हो। इससे प्रेरित होकर ऐसे लोग भी योग देने लगेंगे जो यह जानते ही नहीं कि क्या और क्यों किया जा रहा है।

जो लोग चेतनतापूर्वक ईश्वर के नियमों का पालन करते हैं उनके कंधे से कंधा सबसे पहले वे व्यक्ति भिड़ायेंगे जो ईश्वरीय नियमों को अंध-चेतनता और अंधविश्वास के साथ स्वीकार करते हैं। बाद में आगे बढ़े हुए व्यक्तियों पर केवल विश्वास होने के कारण बहुत-से लोग योग देने लगेंगे और तब मनुष्य अपना सर्वनाश न करके सुख प्राप्त करेंगे। यह काम बहुत ही शीघ्रता के साथ हो सकता है यदि हमारे वर्ग के लोग और उनके पीछे चलनेवाले कर्मजीवियों का विशाल बहुमत मलमूत्र उठाने और फेंकने में लज्जा न करे, बल्कि दूसरों–अपने भाइयों–द्वारा साफ कराने में शर्म करे, यदि वह अपने हाथों से बनाए हुए जूते पहनकर पड़ोसियों से मिलने में लज्जित न हो बल्कि बूट-जूते और मोजे पहनकर उन व्यक्तियों में जाते हुए शरमाए जिनके पैरों में पहनने को कुछ भी नहीं है, यदि फ्रांसीसी भाषा अथवा सबसे ताजे समाचार न जानने पर लज्जित न हो बल्कि रोटी बनाना न जानने के कारण रोटी खाने में शरमाए; यदि कलफ लगे हुए और-चिट्टे कपड़े न पहनने पर लज्जित न हो बल्कि ऐसे साफ कपड़े पहनकर घूमने में शरमाए जो उसकी बेकारी के परिचायक हों और यदि वह अपने मैले हाथों पर लज्जित न हो बल्कि अपने उन हाथों पर शरमाए जो श्रम न करने के कारण सुकुमार बने हुए हैं।

यह सब तभी होगा जब जनता इसकी मांग करेगी और जनता इसकी

मांग तब करेगी जब उसके मस्तिष्क से भ्रम का वह पर्दा हट चुकेगा जो सत्य को उससे छिपाए रहता है। मेरी अपनी याद में ही इस दिशा में बड़े-बड़े परिवर्तन हो चुके हैं और ये परिवर्तन इसीलिए हुए कि जनता का मत बदल गया। मुझे वह समय याद है जब अमीर लोग चार घोड़ों की गाड़ी और दो नौकरों के बिना बाहर निकलने में लज्जा अनुभव करते थे। यदि उनके पास कपड़े और जूते पहनाने, नहलाने आदि के लिए कोई नौकर या नौकरानी न होती थी तो इसे वे अपनी हेठी समझते थे। किंतु अब वे इस बात से शरमाने लगे हैं कि वे अपने कपड़े व जूते स्वयं क्यों नहीं पहनते और नौकरों के साथ बाहर क्यों जाते हैं। ये सब परिवर्तन जनमत के कारण ही हुए हैं।

आज जनता की चेतना में जो परिवर्तन हो रहे हैं वे क्या स्पष्ट नहीं हैं ? पच्चीस वर्ष पहले की दास-प्रथा को उचित ठहरानेवाली मिथ्या भावना को नष्टभर करने की आवश्यकता थी, उसके बाद तो क्या प्रशंसनीय है और क्या लज्जाजनक इसके बारे में जनता का मत अनायास बदल गया और उसके जीवन में भी परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार आज केवल उस मिथ्या भावना को नष्ट करने की आवश्यकता है जो मनुष्य पर पैसे के बोलबाले को उचित मानती है; फिर तो क्या सराहनीय है और क्या लज्जाजनक इस बारे में जनता का मत आपसे-आप बदल जायगा और उसके साथ जीवन भी बदल जायगा।

और इस मिथ्या धारणा का नाश तथा उसके बारे में जनमत का परिवर्तन काफी तेजी से हो रहा है। इस मिथ्या धारणा की पोल खुल गई है और अब वह सत्य को छिपाने में असमर्थ है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें पता चल जायगा कि जनमत का यह परिवर्तन न केवल होना ही चाहिए वरन् हो भी चुका है। कमी केवल इस बात की है कि अभी वह स्वीकार नहीं किया गया है और शब्दों में व्यक्त नहीं किया गया है। हमारे युग के जो थोड़े-बहुत पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं उन्हें केवल अपने संसार-सम्बन्धी विचारों से फलित होनेवाले परिणामों पर विचार-भर करने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर उन्हें तत्काल पता चल जायगा कि अच्छे और बुरे, सराहनीय और लज्जास्पद का जो मूल्यांकन

अब भी उनके जीवन का मार्ग-निर्देशन करता है वह उनकी जीवन-सम्बन्धी धारणाओं के एकदम विपरीत है।

हमारे समय के लोग यदि अपने आलस्य में बिताए जानेवाले जीवन से एक क्षण को अलग हटकर उसकी तुलना अपनी विश्व-सम्बन्धी धारणाओं के साथ निष्पक्षतापूर्वक करें तो उन्होंने अपनी धारणाओं के साथ जीवन की जो परिभाषा निश्चित कर रखी है वह उन्हें भयभीत कर देगी।

उदाहरण के लिए धनिक वर्ग के एक नवयुवक को ले लीजिए, चाहे उसकी प्रवृत्तियां कैसी भी क्यों न हों। स्मरण रहे कि नवयुवकों में जीवन-शक्ति अधिक तीव्र और आत्म-चेतना अधिक धुंधली होती है। प्रत्येक सभ्य नवयुवक बुड्ढे, बच्चे अथवा महिला की सहायता न करने में लज्जा अनुभव करता है। वह सोचता है कि दूसरे व्यक्ति के स्वास्थ्य अथवा जीवन को संकट में डालना और स्वयं को बचाना लज्जाजनक है। तूफान आने पर खिरगिज क्या करते हैं, इस सम्बन्ध में शुएलर[1] हमें जो बातें बताता है, उसे हरेक व्यक्ति लज्जाजनक और बर्बरतापूर्ण समझता है। तूफान के समय वे अपनी पत्नियों तथा बड़ी-बूढ़ियों को खेमे के खूंटे पकड़े रहने के लिए भेज देते हैं और स्वयं खेमे में बैठे शराब पीते रहते हैं। किसी दुर्बल व्यक्ति से जबर्दस्ती अपना काम कराने में प्रत्येक व्यक्ति को लज्जा आती है और इसमें भी अधिक शर्म की बात तब होती है जब किसी संकट के समय—उदाहरण के लिए जहाज में आग लग जाने पर—ताकतवर लोग कमजोरों को एक ओर धकेल देते हैं और उन्हें संकट में छोड़कर स्वयं रक्षा-नौका पर पहले चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। नवयुवक इस सबको लज्जास्पद समझते हैं और कुछ असाधारण परिस्थितियों में भी ऐसा कभी नहीं करेंगे। किंतु दैनिक जीवन में इसी प्रकार के, वरन् इनसे भी बुरे कार्य, वे नित्य करते रहते हैं यद्यपि

---

[1] यूजिन शुएलर (१८४०–९०) पीटर्सबर्ग में सन् १८७३ से ७६ तक अमरीकी दूतावास का सेक्रेटरी था। सन् १८७३ में उसने मध्य एशिया का दौरा किया था।

प्रलोभनवश ये काम उनकी आँखों से छिपे रहते हैं।

इन बातों पर यदि वे सोचेंभर तो इनके परिणामों को देखकर वे कांप उठेंगे।

एक नवयुवक रोज धुली हुई कमीज पहनता है। उसे नदी पर कौन धोता है ? एक महिला, जो प्रायः वृद्धा होती है और जो नवयुवक की दादी या मां की उम्र की हो सकती है और कभी-कभी बीमार भी हो जाती है। यह नवयुवक यदि किसी दूसरे व्यक्ति को केवल सनक के कारण अपनी साफ कमीज उतारकर एक ऐसी वृद्धा को धोने के लिए देते हुए देखे जो उसकी मां की आयु की हो सकती है, तो उसके प्रति उसकी क्या भावना बनेगी ?

मान लीजिए एक नवयुवक शान दिखाने के लिए कुछ घोड़े रखता है। संकट के समय इन घोड़ों को एक ऐसा आदमी सम्हालता है जो उसके पिता या पितामह की आयु का होता है। स्वयं नवयुवक इन घोड़ों पर तब चढ़ता है जब संकट निकल जाता है। यह नवयुवक उस व्यक्ति को क्या समझेगा जो अपने आनन्द के लिए स्वयं अपना बचाव करके दूसरे को संकट में झोंक देता है ?

अमीरों का सारा जीवन ही इस प्रकार के कार्यों का समूह होता है। हम अपने जीवन में बूढ़ों, महिलाओं और बच्चों से बेहद परिश्रम कराते हैं और दूसरों की जान जोखम में डालकर उनसे काम लेते हैं। यह सब हम इसलिए नहीं करते कि हमें कुछ कार्य करने का समय मिल जाय, बल्कि इसलिए कि हमारी सनक पूरी हो सके। मछेरा हमारे लिए मछलियां पकड़ता हुआ डूब जाता है; धोबिन ठंड खाकर मर जाती है, लुहार अंधे हो जाते हैं, मजदूर बीमार पड़ जाते हैं और मशीनों से क्षत-विक्षत हो जाते हैं, लकड़हारे पेड़ गिराते समय उनके नीचे दब जाते हैं, राज छत पर से गिर पड़ते हैं और दरजिनें क्षय-ग्रस्त हो जाती हैं। जीवन के सभी सच्चे काम क्षति और जोखम उठाकर किये जाते हैं। इसे छिपाना और न देखना असम्भव है। इस स्थिति से बाहर निकलने का एकमात्र मार्ग यही है कि दूसरों से केवल वही लिया जाय जो जीवन के लिए आवश्यक है और वास्तविक कार्य स्वयं अपने जीवन की क्षति और

जोखम उठाकर किये जायं ।

शीघ्र ही वह समय आयगा—सच पूछिए तो आने लगा है—जब न केवल नौकरों द्वारा परोसा गया विविध व्यंजनोंवाला भोजन खाना लज्जाप्रद और अपमानजनक समझा जायगा, बल्कि जिस भोजन को स्वयं मेजबानों ने अपने हाथ से न बनाया हो उसे ग्रहण करना भी समान रूप से लज्जाप्रद और अपमानजनक होगा। जबकि पैरों से काम लिया जा सकता है तो तेज घोड़ोंवाली बग्घी की बात तो दूर रही एक साधारण घोड़ा-गाड़ी में घूमना भी लज्जाजनक होगा। काम के दिनों में ऐसे कपड़े, जूते या दस्ताने पहनना जिनसे काम न हो सके, अथवा अधिक या कम कीमत का ऐसा पियानो बजाना जिसके लिए दूसरे अजनबी व्यक्तियों को परिश्रम करना पड़े; कुत्ते को दूध और डबलरोटी खिलाना जबकि ऐसे भी आदमी हैं जिन्हें दूध और साधारण रोटी मयस्सर नहीं; और मोमबत्तियाँ या स्टोव जलाना जबकि दूसरों के पास आग या प्रकाश का अभाव है, ये सब कार्य लज्जास्पद हो जायंगे। ऐसी विचारधारा की ओर हम अनिवार्य रूप से और तेजी से बढ़ रहे हैं। हम एक नए जीवन के किनारे पर आ खड़े हुए हैं। इस नए जीवन को संस्थापित करना जनमत का कार्य है और इस प्रकार का जनमत तेजी से बनता जा रहा है। महिलाएं ही जनमत बनाती हैं और हमारे युग में तो महिलाएं विशेष रूप से प्रभावशालिनी हैं।

: ४० :

स्त्रियों का कार्यक्षेत्र

जैसा कि बाइबिल में कहा गया है, पुरुष के लिए मेहनत-मजूरी का नियम बनाया गया है और स्त्री के लिए सन्तानोत्पत्ति का। विद्वान् चाहे कुछ भी कहें, इन नियमों में परिवर्तन नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जैसे यकृत सदा अपने ही स्थान पर रहता है। इस नियम को भंग करने की एकमात्र सजा आज भी मृत्यु ही है।

अंतर केवल इतना है कि यदि पुरुष अपने कर्त्तव्य की अवहेलना करेंगे तो उनको मृत्यु-दण्ड निकट भविष्य में ही मिल जायगा जिसे

हम वर्तमान कह सकते हैं, किंतु यदि स्त्रियां ऐसा करेंगी तो उसकी सजा उन्हें कुछ सुदूर भविष्य में मिलेगी। समस्त पुरुषों द्वारा नियम का उल्लंघन होने पर मनुष्य-जाति तत्काल नष्ट हो जाती है, जबकि समस्त स्त्रियों द्वारा उल्लंघन होने पर अगली पीढ़ी नष्ट होती है। किंतु कुछ पुरुषों और कुछ स्त्रियों द्वारा नियम भंग होने पर समस्त मानव-जाति नष्ट नहीं होती, उससे केवल अपराधियों के मानवीय गुणों का ह्रास हो जाता है।

जिन वर्गों के लोग दूसरों पर बलात्कार करने में समर्थ थे उनमें पुरुषों ने अपने कर्त्तव्य की अवज्ञा बहुत पहले आरम्भ कर दी थी। वह सतत बढ़ती जा रही है और अब हमारे समय में आकर उसने पागलपन का रूप ग्रहण कर लिया है। श्रम के नियम का यह उल्लंघन अब एक आदर्श बन गया है, जिसे राजकुमार ब्लोखिन ने अपने सिद्धान्तों में व्यक्त किया है और जिसका रेनॉ तथा समस्त शिक्षित संसार ने समर्थन किया है। उनके कथनानुसार मशीनें काम करने के लिए हैं, जबकि मनुष्य आनन्द-भोग करनेवाले स्नायुओं का पुतला है। स्त्रियों के कर्त्तव्यच्युत होने के उदाहरण प्रायः नहीं-से रहे हैं। कभी-कभी वेश्यावृत्ति और भ्रूणहत्या के रूप में यह अभिशाप प्रकट हुआ है। धनिक वर्गों में जब पुरुषों ने अपना कर्त्तव्य-पालन बन्द कर दिया, स्त्रियां अपने कर्त्तव्यों का पालन करती रहीं जिसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों का प्रभाव बढ़ गया तथा वे पुरुषों पर शासन करने लगीं। वे आज भी ऐसा कर रही हैं, जैसाकि होना भी चाहिए। पुरुषों ने अपने नियम को भंग किया और परिणामतः उनकी विवेक-शक्ति नष्ट हो गई।

प्रायः कहा जाता है कि स्त्रियां—विशेषकर पेरिस की सन्तानहीन स्त्रियां—सभ्यता के समस्त साधनों का उपभोग कर इतनी मोहक बन गई हैं कि उन्होंने अपनी मोहिनी से पुरुषों पर जादू कर दिया है। यह धारणा न केवल गलत है बल्कि सत्य के बिलकुल विपरीत है। पुरुष पर जादू सन्तानहीन स्त्री ने नहीं बल्कि मां ने किया है जो पुरुष के कर्त्तव्य-च्युत होने पर भी अपने प्राकृतिक नियम का पालन करती रही है।

जो स्त्री बनावटी उपायों से अपनेको सन्तानवती होने से बचाती है

और अपने ऊँचे कन्धों तथा घुंघराले केशों का प्रदर्शन कर पुरुष को मोहने की चेष्टा करती है वह पुरुष को वश में करनेवाली स्त्री नहीं है, वह तो पुरुष से भ्रष्ट होकर उसके ही स्तर पर उतर आई है और उसने भी पुरुष की ही भांति अपने कर्त्तव्य को छोड़ दिया है और उसकी जीवन-सम्बन्धी समस्त बुद्धिसंगत धारणाएं नष्ट हो चुकी हैं।

इसी भूल से उस वितंडावाद का जन्म हुआ है जिसे स्त्रियों के अधिकार कहकर पुकारा जाता है।

इन अधिकारों का आधारसूत्र यह है : स्त्री कहती है—"ओ पुरुष तूने तो अपने सच्चे कार्य को त्याग दिया है और तू हमसे चाहता है कि हम अपना बोझा उठाती फिरें। नहीं ! यदि ऐसा है तो हम भी तुम्हारी ही तरह बैंकों, मंत्रालयों, विश्वविद्यालयों, शिक्षालयों तथा कलाशालाओं में कार्य करके श्रम का ढोंग रच सकती हैं। हम भी तुम्हारी ही तरह दूसरे लोगों के परिश्रम का फायदा उठाना चाहती हैं और श्रम-विभाजन के बहाने केवल अपनी वासनाओं की पूर्ति में ही जीवन बिताना चाहती हैं।"

वे ऐसा कहती ही नहीं हैं, बल्कि करके दिखला देती हैं कि वे श्रम का ढोंग पुरुषों से बुरा नहीं वरन् अच्छा ही रच सकती हैं।

स्त्रियों के तथाकथित अधिकारों का प्रश्न ऐसे पुरुषों में उठा—और ऐसे ही पुरुषों में वह उठ भी सकता था—जिन्होंने अपने सच्चे परिश्रम के नियम का उल्लंघन किया। अतः यदि हम अब एक बार फिर श्रम के उसी नियम पर वापस लौट जायं तो स्त्रियों के अधिकार का प्रश्न ही न उठे।

जो स्त्री स्वयं अपने लिए निर्दिष्ट किये गए कार्यों में संलग्न रहती है वह कभी खान खोदने में अथवा हल चलाने में पुरुष का हिस्सा बँटाने का अधिकार नहीं मांगेगी। वह तो केवल धनिक वर्ग के झूठे श्रम में ही हिस्सा मांग सकती है।

हमारे वर्ग की स्त्री पुरुष से अधिक शक्तिशाली है, इसका कारण यह नहीं है कि वह आकर्षक है या पुरुष की ही भांति श्रम का ढोंग रचने में पटु है। इसका कारण यह है कि उसने अपने कर्त्तव्य का उल्लंघन नहीं

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
BANGALORE-1.

किया और जान को जोखम में डालकर तथा अधिक-से-अधिक चेष्टा करके सच्चे परिश्रम को वहन किया—उस सच्चे परिश्रम को जिससे धनिक वर्ग के पुरुष ने अपनेको मुक्त कर लिया था।

स्त्रियों का पतन, उनकी अपने कर्त्तव्य की अवहेलना करने की प्रवृत्ति मेरी याद में ही आरम्भ हुई और मेरी याद में ही वह दिन-दूनी रात-चौगुनी फैलती गई है। स्त्रियों ने अपने सच्चे कर्त्तव्य को भूलकर यह सोच लिया है कि उनकी शक्ति उनके सौन्दर्य के आकर्षण में है या इस बात में कि पुरुष जिस झूठे परिश्रम का स्वांग रचते हैं उसकी वे कितनी चतुराई से नकल कर सकती हैं।

किंतु संतान इन दोनों बातों में बाधक होती है। इसलिए मेरे देखते-ही-देखते धनी वर्ग के लोगों में विज्ञान की सहायता से—विज्ञान सदा ही गन्दे कार्य करने को तैयार रहता है—गर्भ-निरोध के दर्जनों उपाय काम में लाए जाने लगे हैं और इससे सम्बन्ध रखनेवाली सामग्रियां स्नानागार की साधारण सामग्रियां बन गई हैं। इस प्रकार धनिकवर्ग की माताएं, जिनके हाथ में शक्ति थी, अब अपनी उस शक्ति को साधारण महिलाओं से होड़ करने में और उन्हें अपने से आगे न बढ़ने देने में व्यय कर रही हैं।

यह बुराई दूर-दूर तक फैल गई है और दिन-प्रतिदिन और भी अधिक फैलती जाती है और वह समय दूर नहीं जब वह धनी वर्गों की समस्त स्त्रियों तक पहुंच जायगी। तब स्त्रियां पुरुषों के ही धरातल पर पहुंच जायंगी और उनकी ही भांति जीवन के प्रति तर्कसंगत दृष्टिकोण खो बैठेंगी। उस अवस्था में उस वर्ग के उद्धार का कोई मार्ग नहीं रह जायगा। किन्तु अब भी समय है, क्योंकि इतना होने पर भी आज भी पुरुषों की अपेक्षा महिलाएं ही अपने कर्त्तव्य का अधिक पालन करती हैं और इस कारण उनमें से बहुत-सी अब भी समझदार हैं। इसलिए हमारे वर्ग की कुछ महिलाओं में अब भी अपने वर्ग की रक्षा करने की शक्ति है।

काश, ये महिलाएं अपने मूल्य और अपनी शक्ति को समझ पातीं और इन्हें अपने पतियों, भाइयों और बच्चों—दूसरे शब्दों में यों कहिए कि समस्त मानव-जाति—की रक्षा करने के काम में ला सकतीं।

धनिक वर्गों की माताओ ! आज पुरुषवर्ग जिन बुराइयों से पीड़ित है उनसे मुक्ति दिलाने की शक्ति केवल तुम्हारे हाथों में है। मेरा संकेत उन महिलाओं से नहीं है जो पुरुषों को आकर्षित करने के लिए दिन-रात बनाव-सिंगार में व्यस्त रहती हैं और जो भूलवश या निराशा के कारण अपनी इच्छा के विरुद्ध बच्चे तो पैदा करती हैं किंतु उन्हें दुधारू धात्रियों[1] को सौंप देती हैं। मेरा अभिप्राय उन महिलाओं से भी नहीं है जो विश्व-विद्यालयों की विभिन्न श्रेणियों में शिक्षा पाती हैं, मनोविज्ञान तथा गणित के बारे में बातचीत करती हैं और अपने विकास में बाधा न पहुँचने देने के उद्देश्य से सन्तानोत्पत्ति से बचने का प्रयत्न करती हैं। मेरा अर्थ उन महिलाओं से और माताओं से है जो सन्तति-निरोध की सामर्थ्य रखते हुए भी इस शाश्वत नियम के आगे सहज भाव से और जानबूझकर आत्मसर्पण कर देती हैं—यह जानते हुए कि इसके लिए कष्ट उठाना और परिश्रम करना उनका कर्त्तव्य है। धनिक वर्गों की इन स्त्रियों और माताओं में संसारी पुरुषों को बुराइयों से मुक्ति दिलाने की शक्ति औरों की अपेक्षा अधिक होती है। ऐ माताओ, ईश्वरी नियम के आगे इस प्रकार जानबूझकर समर्पण करनेवाली स्त्रियो और माताओ ! हमारे दुखी और बहके हुए वर्ग में, जिसमें अब मानव होने की कोई क्षमता ही नहीं रह गई है, केवल आप ही ईश्वरीय विधान के अनुसार जीवनयापन करने के सच्चे अर्थ को जानती हैं। आप ही अपने उदाहरण से पुरुषों को दिखला सकती हैं कि जिस ईश्वरीय इच्छा से वे अपनेको वंचित कर लेते हैं उसके आगे नतमस्तक होने में ही जीवन का सुख है। केवल आप ही उस आनन्द, उल्लास और सौभाग्य का पूर्ण ज्ञान रखती हैं जो ईश्वरीय नियम का उल्लंघन न करने पर ही पुरुषों को प्राप्त हो सकता है। आप अपने पति के उस प्यार के आनन्द को जानती हैं, जो कभी समाप्त नहीं होता, जो अन्य आनन्दों की भांति भंग नहीं हो पाता बल्कि जो वात्सल्य के नए आनन्द का सूत्रपात करता है। केवल आप ही ईश्वरीय इच्छा के समक्ष सरल भाव से सिर झुकाकर श्रम के महत्त्व को जान पाती हैं—

---

[1] रूस में धात्रियों का प्रयोग इंगलैंड आदि की अपेक्षा अधिक होता है।

वह श्रम नहीं, जिसका वर्दियों और प्रकाश से जगमगाते भवनों में झूठा प्रदर्शन किया जाता है बल्कि यह श्रम, जो ईश्वर ने हमपर लादा है। आप इस श्रम के पारितोषिक को तथा इससे प्राप्त होनेवाले सुख को जानती हैं।

माताओ, इस श्रम का सच्चा रूप आपके सामने तब आता है जब प्रणय के सुख-भोग के बाद आप उत्तेजना, भय और आशा के साथ गर्भावस्था की उस पीड़ा की प्रतीक्षा करती हैं, जो आपको नौ मास के लिए रुग्ण बना देती है, जो आपको मृत्यु के द्वार पर ले जाती है और जिसके कारण आपको असह्य यातना भोगनी पड़ती है। इन भयंकरतम पीड़ाओं के आगमन और वृद्धि की प्रसन्नतापूर्वक प्रतीक्षा करने के बाद आपके लिए एक अतुल सुख का भंडार खुल जाता है।

आपको इसकी अनुभूति तब होती है जब आप इन यातनाओं के बाद फौरन बिना विश्राम किये ही नए श्रम और नए कष्ट का भार ग्रहण कर लेती हैं—यह नया श्रम और यह नया कष्ट होता है शिशुपालन का, जिसमें आप तुरन्त लीन हो जाती हैं और अपने कर्त्तव्य तथा भावनाओं के आगे मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता नींद तक को—जो एक कहावत के अनुसार मां-बाप से भी अधिक प्यारी होती है—नगण्य समझती हैं। आप महीनों और वर्षों तक एक रात भी चैन से नहीं सो पातीं। कभी-कभी, नहीं-नहीं, अक्सर, कई-कई रातें तो बिना सोए ही निकल जाती हैं, जब आप अपनी बाहों में रुग्ण शिशु को थामे कम्पित हृदय से इधर-से-उधर टहलती रहती हैं।

और जब आप यह सब बिना किसी से प्रशंसा पाए, बिना किसीके देखे और बिना किसीसे श्लाघा या पुरस्कार की आशा किये करती हैं, जब आप इसे लाभ के तौर पर नहीं, वरन् अपना कर्त्तव्य समझकर मजदूर के तौर पर करती हैं—तब आप जानती है कि पुरुषों की प्रशंसा के लिए की गई झूठी कल्पित मेहनत में और ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए किये गये सच्चे श्रम में—जिसका संकेत आप अपने हृदय में महसूस करती हैं—क्या अंतर है।

आप जानती हैं कि यदि आप सच्ची मां हैं तो केवल इतना ही नहीं

होगा कि लोग आपके श्रम को देखने की चिंता नहीं करेंगे और उसके लिए आपकी प्रशंसा नहीं करेंगे, बल्कि यह भी होगा कि स्वयं वे लोग जिनके लिए आपने परिश्रम किया है न केवल आपको धन्यवाद ही नहीं देंगे बल्कि प्रायः आपको सतायंगे और बुरा-भला कहेंगे। इतने पर भी आप दूसरी सन्तान के लिए यातना सहेंगी, फिर प्रसव की अनदेखी भयंकर पीड़ा सहन करेंगी, फिर किसीसे पुरस्कार की आशा नहीं करेंगी और फिर उसी संतोष का अनुभव करेंगी। यदि आप ऐसी महिला हैं तो आप में पुरुषों पर प्रभाव डालने की क्षमता होनी चाहिए। सच पूछिए तो आप ही के हाथों में उनकी मुक्ति निहित है। किंतु आपकी संख्या प्रतिदिन घटती जाती है। आपमें से कुछ अपनेको पुरुषों को मोहने की चेष्टा में लगाने लगी हैं और बाजारू औरत बन गई हैं। कुछ दूसरी पुरुषों से उनके कृत्रिम, नगण्य धंधों में होड़ करने लगी हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो अभी अपने कर्त्तव्य के प्रति झूठी तो नहीं बनी हैं किंतु जो इसे मन-ही-मन बुरा समझती हैं। वे महिलाओं और माताओं के समस्त कार्यों को पूरा तो करती हैं, किंतु उनपर मातृत्व का जो भार इच्छा न रहते हुए दैवयोग से आ पड़ता है उसे वे बड़ी ही खिन्नता के साथ वहन करती हैं और मन-ही-मन स्वतन्त्र, बन्ध्या महिलाओं से ईर्ष्या करती हैं। इस प्रकार वे अपनेको श्रम के एकमात्र पुरस्कार—ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति करने के आत्मसंतोष—से वंचित कर लेती हैं। इस प्रकार जिस सुख से उन्हें संतोष होना चाहिए उसीसे वे पीड़ित होती हैं।

हम अपने जीवन के झूठे ढंग से इतने भ्रमित हो गए हैं, हमारे वर्ग के लोगों ने जीवन-ज्ञान इतना अधिक खो दिया है कि हमारे बीच में अब कोई अन्तर नहीं रह गया है। जीवन के समस्त भार और खतरे को दूसरों की पीठ पर डालकर भी हम अपनेको उस सच्चे नाम से नहीं पुकारते जिससे कि उन लोगों को पुकारना चाहिए जो अपने लिए समस्त सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करने में दूसरों का सर्वनाश कर देते हैं—वह नाम है बदमाश और कायर।

किंतु स्त्रियों में अब भी दो वर्ग हैं। कुछ ऐसी हैं जिनमें मानव के सर्वोच्च रूप के दर्शन होते हैं और कुछ वेश्याएं हैं। यह भेद ऐसा है

जिसे भावी संतति तो मानेगी ही, हमें भी स्वीकार करना पड़ेगा।

स्त्री चाहे कैसा भी साज-शृंगार क्यों न करे, वह अपनेको चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारे और वह चाहे कितनी भी सुसंस्कृत क्यों न हो, यदि वह भोग-विलास का परित्याग किये बिना सन्तानोत्पत्ति से बचती है तो वह निस्संदेह एक वेश्या है। इसी प्रकार स्त्री चाहे कितनी भी पतित क्यों न हो, यदि वह अपनेको इच्छापूर्वक सन्तानोत्पत्ति के कार्य में लगाती है तो वह जीवन की सर्वोत्तम और सर्वोच्च सेवा करती है अर्थात् ईश्वर की इच्छा का पालन करती है। निश्चय ही उससे बढ़कर और कोई नहीं।

यदि आप इस प्रकार की स्त्री हैं तो आप दो बच्चों के बाद या बीस बच्चों के बाद भी यह नहीं कहेंगी कि आपने काफी बच्चे पैदा कर लिये हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे एक पचास वर्ष का मजदूर जो नियमित रूप से खाता-पीता और सोता है और जिसकी मांसपेशियों में काम करने की शक्ति है यह नहीं कहेगा कि उसने काफी काम कर लिया है। यदि आप ऐसी स्त्री हैं तो आप अपने बच्चों के लालन-पालन का भार किसी दूसरी मां पर नहीं डालेंगी—ठीक उसी प्रकार जैसे मजदूर एक काम को प्रारम्भ करने के बाद और उसे लगभग पूरा कर लेने पर किसी दूसरे व्यक्ति से उसे पूरा करने को नहीं कहेगा। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कार्य में आपने अपना जीवन लगा दिया है और यह काम आपके पास जितना ही अधिक होगा उतना ही अधिक अपका जीवन पूर्ण और सुखी होगा।

और यदि आप इस प्रकार की स्त्री हैं—पुरुषों के सौभाग्य से ऐसी स्त्रियां अब भी विद्यमान हैं—तो ईश्वरीय इच्छा-पालल के जिस नियम से आप स्वयं अपने जीवन का मार्गदर्शन करती हैं उसे आप अपने पति के, अपने बच्चों के और अपने निकटस्थों के जीवन पर भी लागू करेंगी।

यदि आप ऐसी हैं और अपने निजी अनुभव से जानती हैं कि जो श्रम जान को जोखम में डालकर और दूसरों के जीवन के लिए अधिकतम प्रयत्नों के साथ आत्मत्याग की भावना से किया जाता है और जिसे न कोई देखता है और न जिसके लिए कोई पारितोषिक ही मिलता है

वही श्रम मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है और उसीसे उसको संतोष और शक्ति मिलती है—यदि आप यह सब जानती हैं तो दूसरों से भी ऐसे ही श्रम की अपेक्षा करेंगी, ऐसे ही श्रम द्वारा मनुष्य की योग्यता का मूल्यांकन करेंगी तथा ऐसे श्रम के लिए अपने बच्चों को भी तैयार करेंगी।

केवल वह मां जो सन्तानोत्पत्ति को एक अप्रिय दुर्घटना समझती है और सोचती है कि जीवन का सार प्रेमानन्द, सांसारिक सुख-सुविधाओं, शिक्षा और मेलजोल में है, केवल ऐसी मां अपने बच्चों का पालन-पोषण इस प्रकार करेगी जिससे कि उन्हें अधिक-से-अधिक आनन्द मिले और वे उनका अधिक-से-अधिक उपभोग करें। वह उन्हें सुस्वादु भोजन खिलायगी, अच्छे वस्त्र पहनायगी, कृत्रिम मनोरंजन प्रदान करेगी और ऐसी शिक्षा देगी जो उन्हें प्राणों को हथेली पर रखकर और पूर्ण प्रयत्नों के साथ त्यागमय परिश्रम करने के योग्य बनाने के बजाय उनके लिए उपाधियां प्राप्त करेगी और श्रम न करने का अवसर प्रदान करेगी। केवल ऐसी स्त्री—जिसके लिए जीवन का कोई महत्त्व नहीं रह जाता—अपने पति के उस छलपूर्ण और झूठे कार्य के साथ सहानुभूति रखेगी जिसके द्वारा वह स्वयं को तो मनुष्योचित कर्त्तव्यों से मुक्त रखकर दूसरे व्यक्तियों के श्रम का उपयोग करता ही है साथ-ही-साथ अपनी पत्नी को भी कराता है। केवल इसी प्रकार की स्त्री अपने पति-जैसे व्यक्ति को अपनी पुत्री का पति बनाना पसन्द करेगी और व्यक्तियों का मूल्यांकन उनके निजी गुणों के आधार पर नहीं बल्कि उनसे सम्बन्धित वस्तुओं के आधार पर करेगी जैसे सामाजिक स्थिति, धन और दूसरे व्यक्तियों के श्रम को हड़पने की क्षमता। एक सच्ची मां, जो अपने अनुभवों से ईश्वरीय विधान को समझ गई है, अपने बच्चों को भी उसी विधान का पालन करने के लिए तैयार करेगी। अपने बच्चे को अधिक खाते-पीते, जनाना बनते और अच्छे वस्त्र पहनते देखकर ऐसी मां को दुःख होगा, क्योंकि वह जानती है कि ये चीजें उसके लिए ईश्वर की इच्छा का पालन करना कठिन बना देंगी।

इस प्रकार की मां अपने पुत्र या पुत्री को ऐसी शिक्षा नहीं देगी जिससे वह श्रम से बचने के लोभ का शिकार बन जाय बल्कि ऐसी शिक्षा देगी जिससे वह जीवन के श्रम को वहन करने योग्य बन सके।

उसे यह पूछने की आवश्यकता न होगी कि वह अपने बच्चों को क्या सिखाए, अथवा उन्हें किस कार्य के लिए तैयार करे। वह जानती है कि पुरुष का कार्य क्या है और उसे क्या सिखाया जाय तथा किस कार्य के लिए तैयार किया जाय। ऐसी स्त्री न केवल अपनेको इस प्रकार के कृत्रिम, झूठे कार्य के प्रति प्रेरित नहीं करेगी जिसका एकमात्र उद्देश्य दूसरे व्यक्ति के श्रम का उपयोग करना है बल्कि उन सभी कार्यों को भी, जो उसके बच्चों को दुहरा प्रलोभन प्रदान करते हैं, घृणा और भय की दृष्टि से देखेगी। ऐसी स्त्री अपनी पुत्री के लिए पति का चुनाव यह देखकर नहीं करेगी कि उस पुरुष के हाथ सफेद हैं या उसके व्यवहार सुसंस्कृत हैं बल्कि चूंकि वह सच्चे और कृत्रिम श्रम का अन्तर जानती है इसलिए वह सदा और सर्वत्र मनुष्य के सच्चे श्रम को महत्त्व देगी जिसमें प्राणों तक का संकट होता है। साथ-ही-साथ झूठे दिखावटी श्रम को, जिसका उद्देश्य स्वयं को सच्चे कार्य से मुक्त कर लेना है, वह घृणा की दृष्टि से देखेगी। इस प्रकार के श्रम की अपेक्षा वह सर्वप्रथम अपने पति से करेगी और दूसरों से भी इसी सद्गुण की मांग करेगी।

जो महिलाएं अपनेको नारी के कर्त्तव्य से मुक्त रखकर भी उसके अधिकारों से लाभ उठाना चाहती हैं वे यह न कहें कि जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण मां के लिए असम्भव है। वे यह न कहें कि वे अपने बच्चों के प्रेम में इतनी अधिक पगी होती हैं कि उनके लिए यह सम्भव नहीं कि वे उन्हें सुस्वादु भोजन, मनोरंजन और अच्छे वस्त्र न दें और पति के पास धन न होने पर अथवा पति के अच्छी स्थिति में न होने पर अपने बच्चों की सुरक्षा की ओर से उदासीन रहें या अपनी विवाह-योग्य पुत्रियों और अशिक्षित पुत्रों के भविष्य की ओर से निश्चिंत हो जायं।

यह सब झूठ है, एकदम सफेद झूठ ! एक सच्ची मां ऐसा कभी नहीं कहेगी।

आप कहती हैं कि आप अपने बच्चों को मिठाई और खिलौने देने तथा सरकस ले जाने की इच्छा का संवरण नहीं कर सकतीं। किंतु क्या आप उन्हें विषैले फल खाने को नहीं देतीं ? और उन्हें गणिकाओं के होटल में नहीं ले जातीं ? फिर क्या बात है कि कुछ मामलों में आप

अपनेको रोक सकती हैं और कुछ में नहीं ?

इसका कारण यह है कि आप जो कुछ भी कह रही हैं वह सच नहीं है।

आप कहती हैं कि आप अपने बच्चों से प्यार करती हैं इसलिए आपको उनके जीवन की चिन्ता है, उनकी भूख और बीमारी की चिंता है और आप अपने पति की स्थिति से प्राप्त सुरक्षा को महत्त्व देती हैं; हालांकि आप उस स्थिति को अनुचित मानती हैं।

आपको अपने बच्चों की भावी सम्भावित विपत्तियों की—अत्यन्त दूरवर्त्ती और संदिग्ध विपत्तियों की—इतनी आशंका है कि आप अपने पति को ऐसे कार्यों के लिए प्रोत्साहित करती हैं जिन्हें आप स्वयं अनौचित्यपूर्ण समझती हैं। किंतु वर्तमान परिस्थितियों में आप अपने बच्चों को आजकल के जीवन की अभागी घटनाओं से बचाने के लिए क्या कर रही हैं ?

क्या आप दिन का अधिक भाग अपने बच्चों के साथ व्यतीत करती हैं ? यदि आप उसका दसवां हिस्सा भी व्यतीत करती हों तो बहुत है।

शेष समय आपके बच्चे अपरिचितों और गली-गली फिरनेवाले नौकरों के पास रहते हैं, या ऐसी संस्थाओं में रहते हैं जहां शारीरिक तथा नैतिक छूत के लिए निरन्तर भय बना रहता है। आपके बच्चे खाते हैं और पोषण प्राप्त करते हैं। उनका भोजन कौन तैयार करता है और उस भोजन में क्या-क्या होता है ? अधिकांश में आप इस बात को नहीं जानतीं। इसी प्रकार आप यह भी नहीं जानतीं कि कौन उनमें नैतिक भावनाएं भरता है। इसलिए यह न कहिए कि आप अपने बच्चों की भलाई की खातिर बुराइयां सहन करती हैं। यह सच नहीं है। आप बुराई इसलिए करती हैं कि वह आपको पसन्द है।

एक सच्ची मां जो संतान की उत्पत्ति और उसके पालन-पोषण में त्यागपूर्ण कर्त्तव्य और ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति देखती है, ऐसी बात नहीं कहेगी। वह ऐसा नहीं कहेगी, क्योंकि वह जानती है कि उसका कार्य अपने बच्चों को अपनी इच्छा अथवा समय की प्रचलित प्रवृत्ति के अनुसार ढालना नहीं है। वह जानती है कि मनुष्य को जो सबसे बड़ी और

पवित्र वस्तु देखने को मिली है वह ये बच्चे ही हैं—हमारी भावी पीढ़ी। वह यह भी जानती है कि इस पवित्र वस्तु की तन-मन से सेवा करना ही उसका जीवन है।

सतत जीवन और मृत्यु के बीच झूलते रहने के कारण और एक प्रस्फुटित होते हुए जीवन की रक्षा का भार होने के कारण वह स्वयं जानती है कि जीवन और मृत्यु उसके अधिकार में नहीं है, उसका काम तो जीवन की सेवा करना है। इसलिए वह इस सेवा के लिए दूर के रास्ते नहीं खोजेगी बल्कि जो मार्ग निकटस्थ है उसकी अवहेलना नहीं करेगी।

ऐसी मां बच्चे पैदा करेगी, स्वयं उनका पालन-पोषण करेगी अपने से पहले उनको खाना खिलाएगी, बच्चों के लिए भोजन तैयार करेगी, उनके कपड़े सिएगी और धोएगी, उन्हें शिक्षा देगी और उनके साथ सोएगी तथा बात करेगी; क्योंकि वह देखती है कि इसीमें उसके जीवन का कार्य है। वह जानती है कि प्रत्येक जीवन की सुरक्षा श्रम में और श्रम करने की क्षमता में है, और इसलिए वह अपने पति के धन में या बच्चों की उपाधियों में बाह्य सुरक्षा की खोज नहीं करेगी बल्कि उनमें भी ईश्वरीय इच्छा के उत्सर्गपूर्ण परिपालन की उसी क्षमता का विकास करेगी जिसकी अनुभूति वह स्वयं अपने में करती रही है और जिसका सच्चा रूप प्राणों को संकट में डालकर भी परिश्रम करने की भावना में दिखाई देता है। ऐसी मां दूसरों से नहीं पूछेगी कि उसे क्या करना है, उसे इन सब बातों का स्वयं ज्ञान होगा। वह किसी बात का भय नहीं करेगी और सदा शान्त रहेगी क्योंकि उसे पता होगा कि उसने वही किया है जो उसे करना चाहिए था।

पुरुषों और संतानविहीन स्त्रियों के लिए तो ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करने के उपायों के बारे में सन्देह हो सकता है, किंतु मां का मार्ग तो एकदम स्पष्ट है और यदि वह सरल हृदय से उसे विनम्रतापूर्वक पूरा करती रहे तो वह मानव-जीवन की पूर्णता के सर्वोच्च स्थान पर जा खड़ी होती है और सबके लिए ईश्वरीय इच्छा के उस पूर्ण पालन की प्रतिमा बन जाती है जिसकी आकांक्षा सभी लोगों में होती है।

यह क्षमता केवल मां में है कि जिस ईश्वर ने उसे इस संसार में भेजा और जिसकी सेवा उसने बच्चे पैदा करके, उनका लालन-पालन करके तथा अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करके की है, उससे वह अपनी मृत्यु से पूर्व यह कहे—"हे प्रभु अब अपनी दासी को शान्ति के साथ इस संसार से विदा लेने दो।" यह क्षमता मानव-जीवन की सबसे उच्च पूर्णता है जिसकी कोई भी मनुष्य कामना कर सकता है।

ऐसी स्त्रियां, जो अपने जीवनोद्देश्य को पूरा कर लेती हैं, पुरुषों पर शासन करती हैं और मानवजाति के लिए ध्रुव तारे की भांति पथ-प्रदर्शक बन जाती हैं। ऐसी स्त्रियां जनमत का निर्माण करती हैं और भावी संतति को तैयार करती हैं। यही कारण है कि उनके हाथों में सबसे बड़ी शक्ति रहती है—वह शक्ति है वर्तमान समय की प्रचलित और भयावनी बुराइयों से पुरुष की रक्षा करना।

हां, नारियो और माताओ, इस संसार की मुक्ति सबसे अधिक तुम्हारे ही हाथों में है।

'मंडल' द्वारा प्रकाशित प्राप्य ग्रन्थ

(गांधी-साहित्य)

आत्मकथा	५)
आत्मकथा (संक्षिप्त) सजिल्द	१॥)
आत्मकथा (संक्षिप्त) अजिल्द	१)
प्रार्थना-प्रवचन भाग १	३)
प्रार्थना-प्रवचन भाग २	२॥)
गीता-माता	४)
धर्म-नीति (सजिल्द)	२)
धर्म-नीति (अजिल्द)	१॥)
पंद्रह अगस्त के बाद (सजिल्द)	२)
पंद्रह अगस्त के बाद (अजिल्द)	१॥)
द० अफ्रीका का सत्याग्रह	३॥)
मेरे समकालीन	५)
आत्म-संयम	३)
गीता-बोध	॥)
मंगल-प्रभात	।=)
सर्वोदय	।=)
आश्रमवासियों से	।=)
ग्रामसेवा	।=)
नीति-धर्म	।=)
हिन्द-स्वराज्य	॥।)
हमारी मांग	१)
बापू की सीख	॥)
आज का विचार (दो भाग)	॥।)
सत्यवीर की कथा	।)
ब्रह्मचर्य (प्रथम भाग)	१)
ब्रह्मचर्य (द्वितीय भाग)	॥।)
अनीति की राह पर	१)
हृदय-मंथन के पांच दिन	।)
गांधी-शिक्षा तीन भाग	१=)
अगर मैं डिक्टेटर होता ?	।)
शराबबन्दी करें	।)
स्वराज में अछूत कोई नहीं	।)
खादी पहनो	।)
शिक्षा ऐसी हो !	।)

नेहरू

हिंदुस्तान की कहानी (संक्षिप्त)	५)
नया भारत	।)
आजादी के आठ साल	।)
विश्व-इतिहास की झलक	२१)
विश्व-इतिहास की झलक (सं०)	
राष्ट्रपिता	२)
मेरी कहानी (संपूर्ण)	८)
मेरी कहानी (संक्षिप्त)	२॥)
हिन्दुस्तान की समस्याएं	२)
लड़खड़ाती दुनिया	२)
राजनीति से दूर	२)

विनोबा

शांति-यात्रा	१॥)
विनोबा के विचार (दो भाग)	३)
गीता-प्रवचन (सजिल्द)	१॥)
सर्वोदय विचार	१=)
स्थितप्रज्ञ दर्शन	१)
ईशावास्यवृत्ति	॥।)
ईशावास्योपनिषद्	=)
स्वराज्य-शास्त्र	॥)
गांधीजी को श्रद्धांजलि	।=)

विचारपोथी	१)
जीवन और शिक्षण	२)
राजघाट की संनिधि में	॥≈)
सर्वोदय का घोषणापत्र	।)
भूदान-यज्ञ	।)
जमाने की मांग	≈)
उपनिषदों का अध्ययन	१)

विविध प्रकाशन

गांधीजी की देन (रा० प्र०)	१॥)
गांधी-मार्ग ,,	≈)
गांधी अभिनंदन ग्रंथ	४)
गांधी श्रद्धांजलि ग्रंथ	३)
हमारा कानून	५)
महाभारतकथा (राजाजी)	५)
कुब्जा-सुन्दरी ,,	२)
शिशु-पालन ,,	॥)
मैं भूल नहीं सकता (काटजू)	२॥)
कारावास-कहानी (सु.नै.)	१०)
गांधी की कहानी (लु.फि.)	४)
भारत-विभाजन की कहानी	४)
इंग्लैंड में गांधीजी	२)
बा, बापू और भाई	॥)
गांधी-विचार-दोहन	१॥)
सत्याग्रह-मीमांसा	३॥)
बुद्धवाणी (वियोगी हरि)	१)
संत-सुधासार ,,	११)
अयोध्याकाण्ड ,,	१)
भागवत-धर्म (ह. उ.)	५॥)
श्रेयार्थी जमनालालजी ,,	६॥)
स्वतंत्रता की ओर ,,	४)
बापू के आश्रम में ,,	१)
मानवता के झरने (मावलंकर)	१॥)
बापू (घ. बिड़ला.)	२)
रूप और स्वरूप ,,	॥≈)
डायरी के पन्ने ,,	१)
ध्रुवोपाख्यान ,,	।)
स्त्री और पुरुष (टाल्स्टाय)	१)
मेरी मुक्ति की कहानी ,,	१॥)
प्रेम में भगवान ,,	२)
जीवन-साधना ,,	१।)
कलवार की करतूत ,,	।)
हमारे जमाने की गुलामी,,	।॥)
बुराई कैसे मिटे ? ,,	१)
बालकों का विवेक ,,	॥)
हम करें क्या ? ,,	३॥)
धर्म और सदाचार ,,	१।)
अंधेरे में उजाला ,,	१॥)
कल्पवृक्ष (वा. अग्रवाल)	२)
लोक-जीवन (कालेलकर)	३॥)
साहित्य और जीवन	२)
हिमालय की गोद में (म. प्र. पो)	२)
कब्ज ,,	१)
राजनीति प्रवेशिका	१)
जीवन-संदेश (ख. जिब्रान)	१।)
तुकाराम गाथासार	१॥)
अशोक के फूल	३)
जीवन-प्रभात	५)
कां. का इतिहास भाग२, ३	२०)
पंचदशी (सं. य. जैन)	१॥)
सप्तदशी (सं० विष्णु प्रभाकर)	२)
रीढ़ की हड्डी (विष्णु प्रभा०)	१॥)
नवप्रभात ,,	१)
अमिट रेखायें	३)
एक आदर्श महिला	१)
राष्ट्रीय गीत	।)

तामिल-वेद (तिरुवल्लुवर)	१।।)
थेरी-गाथाएं	१।।)
बुद्ध और बौद्ध साधक	१।।)
जातक-कथा (आनंद कौ.)	२।।)
हमारे गांव की कहानी	१।।)
साग-भाजी की खेती	३)
ग्राम-सुधार	१।)
पशुओं का इलाज (प. प्र.)	।।)
चारादाना ,,	।)
रामतीर्थ-संदेश (३ भाग)	१=)
रोटी का सवाल (क्रोपा.)	३)
क्रांति की भावना ,,	२।।)
नवयुवकों से दो बातें ,,	।=)
सिंचाई और बिजली	।)
अन्न समस्या का हल	।)
हमारे गांव के उद्योग-धंधे	।)
सामुदायिक योजना	।)
लद्दाख यात्रा की डायरी	२।।)
पुरुषार्थ (डा. भगवान्दास)	६)
काश्मीर पर हमला	२)
शिष्टाचार	।।)
तट के बन्धन (विष्णु प्रभाकर)	२)
देवदासी (बोरकर)	२)
कित्तूर की रानी (उपन्यास)	२)
पुण्य की जड़ हरी	१।।)
भारतीय संस्कृति	३।।)
आधुनिक भारत	५)
फलों की खेती	२।।)
मैं तन्दुरुस्त हूं या बीमार	।।)
भा० नवजागरण का इतिहास	३)
गांधीजी छत्रछाया में १।।)	२।।)
भागवत-कथा	३।।)
जय अमरनाथ (यशपाल जैन)	१।।)
हमारी लोक-कथाएं	१।।)
संस्कृत-साहित्य-सौरभ (२६ पुस्तकें) प्रत्येक	।=)
समाज-विकास-माला (५८ पुस्तकें) प्रत्येक	।=)
कृषि-ज्ञान-कोष	४)
प्रकाश की बातें	१।।)
ध्वनि की लहरें	१।।)
धरती और आकाश	१।)
राम-जन्म	।=)
धनुष यज्ञ	।=)
राम विवाह	।=)
गांधी डायरी	१),२)

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
DATE ....
ACC No. ....
CALL NO. ....
BANGALORE-1.

MAHATMA GANDHI MEMORIAL LIBRARY

5, Kumara Park (East), Bangalore-1

DATE LABLE

CL. No. 0142,3701 152N56 Accn. No. H:000130

This book ought to be returned on or before the date last marked below, or fines will be incurred.

Due Date	Ticket No.	Inls.	Due Date	Ticket No.	Inls.

CALL NO.

GANDHI SMARAKA GRANTHALAYA
DATE..................
ACC No..................
CALL No..................
BANGALORE-1.

Mahatma Gandhi Memorial Library
5, Kumara Park (East), Bangalore-1
BOOK CARD
152N56
CL No. O142,3TOL Acc. No. H:000130
Author. TOLSTOY ( ) ( )
Title Ham karen kya

Ticket No.	Issue Date	Return Date	Ticket No.	Issue Date	Return Date

O142,3TOL
152N56
H-000130

...टाय की अन्य पुस्तकें

मेरी मुक्ति की कहानी
२. हमारे जमाने की गुलामी
३. प्रेम में भगवान
४. जीवन-साधना
५. बुराई कैसे मिटे ?
६. स्त्री और पुरुष
७. बालकों का विवेक
८. कलवार की करतूत
९. ईसा की सिखावन
१०. सामाजिक कुरीतियां
११. धर्म और सदाचार
१२. अंधेरे में उजाला

सस्ता साहित्य मण्डल

साढ़े तीन रुपया